साहित्यरत्न दर्शनमिहाज़िक आलिमफ़ाज़िले फ़ारसी
इत्युपाधिधारिणा आदर्शनगर 'अजमेरनिवासिना'
चाँपानेर्यभिजनेन राजवैद्यडाक्टरघनश्यामशर्म
शास्त्रिणा रचिता जनसामान्यहिताय
हिन्दीटीकया समलङ्कृता
तेनैव प्रकाशमानीता च

घनश्यामगीता

तत्त्वखनिः

प्राप्तिस्थान—

राजवैद्य डा० घनश्याम शर्मा शास्त्री,

चाँपानेरी, (ज़ि० अजमेर)

आदर्शनगर, अजमेर।

★ ☆

यह भावोदधिकौम्तुभ—

स्नेहवत्सला माता की पावन स्मृति में

जनताजनार्दन को सादर समर्पित,

वात्सल्यमूर्तिर्माता मे मोदतां स्वर्गता भृशम् ।
यत्संस्कारभवोवीजो जनानां सौख्यदस्तरुः ।।

मातृभक्त—
घनश्याम शर्मा

भूमिका

संसार में ज्ञान अनन्त है। वह एक ऐसे महासागर के सदृश है जिसमें से सूक्ति-सुधा-रूप-रत्न-राशि सदैव समुद्भूत होती रहती है। महर्षि वेदव्यास विरचित "भगवद्गीता" रूप ग्रन्थ संसार के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशेष एवं अद्भुत स्थान रखता है जिसकी टक्कर का ग्रन्थ मानव-मस्तिष्क प्रणयन करने में आज तक समर्थ नहीं हुआ। वह भी उस अनन्त ज्ञान-महासागर का ही एक चमत्कारी रत्न है जो आदि काल से "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" के कल्याणकारी रूप में वैदिक वाङ्मय से आविर्भूत हुआ है। उस वैदिक वाग्धारा की दो प्रशाखायें सदा से प्रवाहित होती चली आ रही हैं:—१ परा (अध्यात्मविद्या) २ अपरा (भौतिक विद्या)। "परा यया तदक्षरमधिगम्यते" पराविद्या वह है जिससे अक्षर अविनाशी परमात्मस्वरूप को जाना जाता है, यह है हमारी अध्यात्मविद्या (Spiritualism)। अपरा वह विद्या है जिससे सांसारिक अथवा भौतिक पदार्थों का ज्ञान होता है। यह है हमारी भौतिक विद्या (Materialism) हमारे वैदिक साहित्य में पराविद्या के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ वे उपनिषद् हैं जिनके लिये जर्मनी के महान् दार्शनिक शोपनहावर ने भी कहा था:—

"The Upanishads have the solace of my life and they will be the solace after my death"

अर्थात् उपनिषदों से ही मुझे शान्ति प्राप्त हुई है और वे ही मृत्यु के पश्चात् भी मुझे शान्ति प्रदान करेंगी। इन्हीं ज्ञान के भण्डार उपनिषद् रूपी गौओं से "दुग्धं गीताऽमृतं महत्" गीता रूपी महान् ज्ञानामृत की उत्पत्ति हुई है, जिसका पान कर मानवसमाज शताब्दियों से संतृप्त होता चला आया है। उस "भगवद्गीता" को भी कुछ विद्वान् ज्ञान-प्रधान मानते हैं, कुछ कर्म-प्रधान तथा कुछ भक्ति-प्रधान। लेकिन लोकमान्य तिलक ने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ "गीता रहस्य" में गीता को जो त्रिगुणात्मक स्वरूप में प्रस्तुत किया है, उसमें ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का सच्चा समन्वय दर्शाया है वही भगवद्गीता का वास्तविक स्वरूप एवं गूढ़तम रहस्य है।

इस "भगवद्गीता" के तत्व को लेकर ही मेरे मित्र अद्भुत विद्वान् राजवैद्य पण्डित घनश्याम शर्मा शास्त्रीजी ने जो यह "घनश्यामगीता" नाम का ग्रन्थ रचा है वह संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में एक अद्भुत ग्रन्थ सिद्ध होगा। ऐसी मुझे पूर्ण आशा है क्योंकि इसमें लौकिक एवं पारलौकिक (अपरा एवं परा) दोनों प्रकार की ज्ञान-प्रशाखाओं का सुन्दर समन्वय किया गया है जिनका आधार विविध ज्ञानशास्त्र ही हैं, जैसा कि लेखक ने "आत्मनिवेदन" (श्लोक १०८) में स्वयं लिखा है:—

दृष्ट्वा विविधशास्त्राणि स्वमत्या सुविचार्य च ।
घनश्यामेन गीतेयं गीता ज्ञानपिपासया ॥

ब्रह्मचर्य आश्रम से प्रारम्भ कर संन्यास पर्यन्त आश्रमों का सुन्दर विवेचन, धर्माचार, शिक्षासार, नीतिवर्णन, युगधर्म, राजनीति, मनोविज्ञान, सृष्टितत्त्व निरूपण, आत्मतत्त्व, निगमागम, भक्तियोग, योगशास्त्र से लेकर "विविध विद्यासु इस्लामधर्म

पद्कोष:" तक सभी कुछ "गागर में सागर" भरने का सफल प्रयास किया गया है। इस प्रकार इस में आत्मतत्व से लेकर सभी लौकिक तत्वों का मार्मिक विवेचन किया गया है और फिर सब से महत्वपूर्ण बात इसके उद्देश्य में स्वयं ही लेखक ने इस प्रकार अन्तर्निहित कर दी है:—

"घनश्यामस्य गीतेयं वैषम्यस्य विनाशिनी ।
जनानामैक्यभावस्य सौहार्दस्य च पोषिका" ॥ १०३ ॥

अर्थात् "यह गीता अपने ग्रथितज्ञान से लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कर उनके बीच की असमानता की खाई को पाटने वाली, उनमें एकता को पैदा करने वाली तथा प्रेमभाव को पुष्ट करने वाली है।"

इस प्रकार मानवप्रेम तथा विश्वशान्ति की सन्देशवाहिनी बन कर यह "घनश्याम गीता" मानवकल्याण करने में समर्थ होगी, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। तथास्तु ! विश्वकल्याणकारी ऐसे उत्तम ग्रन्थ प्रणयन पर मैं अपने मित्र शास्त्रीजी को शतशः बधाई देता हुआ आशा करता हूं कि उनकी यह सुकृति संसार में सदा समादरणीय समझी जायगी। एवमस्तु !

अजमेर
२१ जुलाई १९५८

(डा०) सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार,
सिद्धान्त वाचस्पति, शास्त्री, एम. ए.
एल. टी., डी-लिट्.

उपोद्घात

घनश्याम गीता को आद्योपान्त पढ़ कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इस पुस्तक का जैसा नाम है ऐसे ही गुण इस में हैं। यह सचमुच तत्व की खान है। इस खान में से विविध रत्नों को निकालने वाले इस पुस्तक के रचयिता राजवैद्य डा० श्री घनश्यामजी शर्मा हैं। आप फ़ारसी और संस्कृत दोनों ही भाषा के प्रख्यात विद्वान् हैं। साहित्यरत्न होने के साथ २ आप आलिमे फ़ाज़िले फ़ारसी भी हैं। पुस्तक के प्रथम अध्याय में आपके जीवन की झांकी मिलती है। इसके पढ़ने से मुझे इस पुस्तक के मूल्यांकन में बड़ी सहायता मिली। सोलह वर्ष की अवस्था होने तक आपको अक्षर ज्ञान भी नहीं था। उस समय की एक छोटी सी घटना ने आपके जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। डा० साहब एक काटन प्रेस में नौकरी करते थे। उसके एक नवागन्तुक प्रवन्धक की तनिक अनियमितता से आपने वह नौकरी ही नहीं छोड़ी अपितु प्रतिज्ञा भी करली कि कभी ऐसी नौकरी नहीं करनी जिससे मनुष्य के स्वाभिमान को ठेस लगती हो। इस प्रतिज्ञा को आपने उम्र भर निभाया। उसी समय से आप ज्ञानोपार्जन में संलग्न हो गये और मानवता की उच्चतर सीढ़ी पर पहुंचे। संसार ही आपकी पाठशाला रही और जीवन की अनेक कठिनाइयों ने आपके गुरुदेव का कार्य किया। फलतः जिस बालक को दोनों समय भोजन मिलना कठिन था उसने कठिन परिश्रम सत्प्रयत्न और अटूट लगन से संसार की सभी प्रकार की भोग्य वस्तुएं

प्राप्त करके अपने जीवन को आनन्दमय बनाया। आपका जीवन मनुष्य मात्र के लिये उदाहरणस्वरूप है। आज कल संसार के प्रति आपकी विरक्ति हो गई है। पाठक स्वयं विचारें कि ऐसे सज्जन के द्वारा जीवनरूपी खान से निकाले हुए अनुभवरूपी मणिमाणिकों का कितना मूल्य होना चाहिये। मुझे आशा है कि सज्जनगण इन तत्वज्ञान रूपी रत्नों को परख कर उनका अपने जीवन में सदुपयोग करेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता के समान "तत्वखनि" गीता में भी अठारह अध्याय हैं। यदि इसको श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक स्वरूप भी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। चारों आश्रम, शिक्षा, नीति, युगधर्म, स्वास्थ्य, मनोविज्ञान, इस्लाम धर्म, सृष्टि तत्व, आत्म तत्व, निगमागम, भक्ति, योग, दक्षिण वाम मार्ग, स्वप्नफल इत्यादि तत्वों का निरूपण डाक्टर साहब ने इस पुस्तक में किया है। जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जिसका आपने इस पुस्तक में वर्णन नहीं किया हो और जो कुछ भी आपने कहा वह तथ्यपूर्ण और मननयोग्य है। जो इस पुस्तक में है वह अन्यत्र भी हो सकता है परन्तु जो इसमें नहीं है वह कहीं भी प्राप्तव्य नहीं है।

"तत्वखनिः" गीता की भाषा बड़ी सुन्दर, सरल और सारगर्भित है। थोड़े में यह बहुत कुछ कह देती है और जीवन की कुञ्जी का काम देती है। इसका अध्ययन आबालवृद्ध सब के लिये सुखदायी है। डा० साहब की लेखनशैली बड़ी मधुर है। आपकी भाषा में यह विशेषता है कि इसकी सीमा संस्कृत शब्दकोष तक ही सीमित नहीं है। आपने अनुष्टुप् छन्दों में अंग्रेजी, फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से करके संस्कृत शब्दकोष की वृद्धि की है।

ऐसी सुन्दर और सारगर्भित पुस्तक लिख कर डाक्टर श्री घनश्यामजी शास्त्री ने भारत का ही नहीं परन्तु सारे संसार का भला किया है। एतदर्थ मैं डाक्टर साहब को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करता हूं और आशा करता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवनपथ प्रदर्शक तत्वज्ञानि गीता का सांगोपांग अध्ययन कर इस असार संसार में अपने अल्पकालीन जीवन को सुखी बनावेगा।

प्रो० टा० मदनसिंह,
M. A. LL. B., M. R. A. S.,
F. R. F. S.
भूतपूर्व प्रिंसीपल (आचार्य)
मेओ कॉलेज, अजमेर।

प्रास्ताविकं किञ्चित्

पूर्ण सौर वर्ष से कुछ अधिक ही समय के सम्मिलित प्रयास का फल 'घनश्याम-गीता' आप के कर कमलों में प्रस्तुत है। सम्पादन में सीमातीत शीघ्रता की गई है। सम्पादन कैसा बन पड़ा है, इसका निर्णय आप लोगों के विवेचन पर ही है। "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" का ध्यान रखते हुए ग्रन्थकार श्रद्धेय डाक्टर साहिब के साथ की गई संविदा का हमने पालन किया है।

यदि डाक्टर साहिब के पद्य—

स्वशक्तिमविचार्यैव परश्लाघाभिमानतः।
कार्यभार समुत्थाप्य पराक्रान्त्या पतेदधः ॥ ६ । २०१ ॥

को किञ्चित् परिवर्तित कर—

स्वशक्तिमविचार्यैव कुर्वन्तः संविदां जनाः।
कार्यभार समुत्थाप्य जायन्ते पूर्तिसंशयाः ॥

पढ़ा जावे तो यह हम पर पूर्ण लागू सा होने लगा था। "पाण्डुलिपि" से न तो श्लोकों की वास्तविक संख्या का ही ज्ञान हुआ और न उसमें कोई क्रम ही था। डाक्टर साहिब तो—

घनश्यामेन गीतेयं निर्मिता चलता सदा।
वर्त्मनि गृहकार्यार्थं भ्रमतेतस्ततोऽथवा ॥ १ । १०१ ॥

के रूप में श्लोकों को लिपिबद्ध कर लिया करते थे। उनके उस समय के भावों को वास्तविक रूप में पकड़ना तथा

उसकी रक्षा करते हुए श्लोक के ऊपरी ढांचे को ठीक करना हमारी समगति के लिए सीधी चट्टान वन जाते थे, उस समय—

विकृतशोधनं क्लिष्टं नूतनोत्पादनं वरम् ।
विकृतं शोधितञ्चापि शोभते न यथा नवम् ॥ ६ । ३२४ ॥

हमारे पर पूरा २ चरितार्थ होना था। "नूतनोत्पादनं वरम्" के विकल्प को तो—

एकः श्लोकोऽपि नास्त्येव ग्रन्थे मे परवर्तकः ।

की ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा एवं सम्पादन सीमा के भङ्ग होने के भय से नहीं अपना सके। अजमेर और नसीराबाद का अन्तर इस कठिनाई को अपने समान ही विस्तृत कर देता था। विवशतया हमें एक दूसरे के पास जाना होता था, डाक्टर साहब को अपने बीच में पाकर हमारा उत्साह बढ़ जाता था, बीच २ में "अपूर्व घनश्याम कोष" की चर्चा भी किसी शब्द विशेष को लेकर चल पड़ती थी। उस समय आपका निर्वचन प्रकार तथा अरबी फ़ारसी संस्कृत एवं प्रादेशिक भाषाओं का अप्रतिम पाण्डित्य देखकर मुग्ध हो जाते थे। विशेषकर ७२-७३ वर्ष की अवस्था में आपके उत्साह व कार्यशक्ति तो कभी २ हम नवयुवकों की ईर्ष्या का विषय बन जाती थी। अस्तु। उन बीते कष्टों की स्मृति से क्या लाभ? उन्हें गिनाकर पाठकों की कल्पना पर बोझ डालना हमें अभीष्ट नहीं है, यह तो प्रासङ्गिक उल्लेख किया गया है, पाठक सहृदयता से विचार कर सकें इसीलिये।

गीता में क्या है? यह कितनी उपयोगी है? इन प्रश्नों का मनचाहा पूर्ण समाधान तो पाठक इसे आद्यन्त पढ़कर तथा गाढ़परिशीलन कर ही कर सकेंगे, हमें इस का बार २ अध्ययन

करना पड़ा है, अक्षर २ मनन करना पड़ा है, भले ही उस समय अध्ययन की पद्धति तो भिन्न थी तथापि गुण दोषों पर स्वाभाविक तौर पर ध्यान चला ही जाता था, विचार करते थे इसकी विशद समालोचना भी साथ ही देंगे किन्तु कार्य की शीघ्रता तथा समय की अल्पता एवं ग्रन्थ का विस्तृत कलेवर सङ्कल्प की कृतकार्यता में बाधक है तथापि इसकी उपयोगिता की दृष्टि से अपने इस लोभ को पूर्णतः संवरण न कर सकते हुए संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र करा रहे हैं आशा है यही पाठकों को एक उचित दृष्टिकोण दे सकेगा।

संस्कृत काव्य की दृष्टि से गीता के अध्ययन के लिए प्रवृत्त पाठकों को सम्भवतः निराश ही होना पड़ेगा । इसमें काव्योचित कमनीयता एवं ललित शाब्दीक्रीड़ा का पूर्णतया अभाव है किन्तु अन्य आर्ष शास्त्रों की भांति भाषा की सरलता, विषय प्रतिपादन की समीचीन पद्धति की यहाँ कमी नहीं है। काव्य न होते हुए भी भाषा ललित एवं प्रसादगुण सम्पन्न है, साधारण संस्कृतज्ञ भी झटिति भावार्थ हृदयङ्गम कर सकता है। पदयोजना कहीं भी भ्रामक नहीं है इससे टीकाकारों के लिए अवश्य क्षेत्र का अभाव हो गया है किन्तु ग्रन्थकार का भाव इससे अक्षुण्ण ही रहेगा उसे द्रविड़ प्राणायाम जैसी कष्टानुभूति नहीं होगी, तभी सम्भवतः ग्रन्थकार ने—

घनश्यामस्य गीतायाः अर्थं कर्तुं यथेच्छया ।
पाठकोऽप्यस्त्यनुज्ञातः स्वीयमत्यनुसारतः ॥१८।२३४॥

की घोषणा की है। इसमें स्थान २ पर समान ध्वनि व समानार्थक धातुओं का प्रयोग किया गया है। हिन्दी की

रखना धातु के लिए संस्कृत की "रक्षा" धातु का प्रयोग अत्यन्त ही समीचीन है। केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

वाह्यशत्रुविनाशाय सर्वथा यतते नरः।
परमाभ्यन्तरान् शत्रून् क्रोधादीन् हृदि रक्षति ॥६।३२॥

श्लोक में रक्षति का अर्थ "सहारा दिये रहता है" किया गया है। इसमें किसी को स्थान देना तथा दूसरों की निगाह से वचाये रखना दोनों ही अर्थ कितने स्पष्ट हैं। मनुष्य कभी भी दूसरों के सामने अपने में काम क्रोधादि की सत्ता प्रकट न होने देगा, किसी के द्वारा कहने पर भी अपने आप को इनसे हीन ही वतावेगा यह रक्षा ही तो है। रखने का साधारण अर्थ "स्थान देना" तो यहाँ प्रकट है ही। दोनों अर्थ साथ मिले हुए हैं। इसी प्रकार "भरति" को ही लीजिए इसका प्रयोग प्रायः "पालन करने" अर्थ में ही किया गया है किन्तु "रिक्तं स्थानं भरत्येव" १२।१०४ में "भरता है" के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है, "शोचति" का दुःखी होता है या शोक करता है अर्थ में प्रयोग होता है किन्तु अपने यहाँ "सुखदुःखे सदा ज्ञानी लाभालाभौ न शोचति" १२।१३४ में शोचति का प्रयोग कर "चिन्ता करता है" अर्थ किया है जो कितना प्रसङ्गानुकूल है, ज्ञानी सुख प्राप्ति के अभाव में या दुःख प्राप्ति होने पर शोक नहीं करता है अथवा सीधा सा अर्थ दुःख सुख का सोच नहीं करता है में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ सोचने में "दुःख" मौजूद है। "अनुगतसंसत्" १।८५ नुक्ता (मौसर) के अर्थ में स्वाविष्कृत शब्द है। "अध्यामि स्वमनो-योगात्" १।१० में अध्यामि का अर्थ ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्द हैं जिस पर पाठक ध्यान दें।

काव्य न होते हुए भी अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग इन पद्यों में मिलेगा। अर्थान्तरन्यास का प्रयोग तो अगणित वार हुआ है और प्रायः सभी जगह उत्तम कहावत सा लगता है कुछ उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे—शुक्रायत्तं हि जीवनम् २ । १८ 'प्रीतिः स्वाभाविकी स्थिरा' ३। १६ 'नराधीना हि कामिनी' २ । ३७ 'दुर्लभा संगतिः सताम्। व्यग्रो न लभते सुखम् ४ । १६ ब्राह्मणः कर्मणा भवेत् ५ । ३४ लोभात् पापपथे रतिः ६ । ३ पतन्त्येव समुच्छ्रिताः ६ । १२ सर्वजेता मनोजयी । विश्वासो लोकवाहकः । विश्वासे सर्वसम्पदा। क्रयिकैर्हि महार्घता। प्राकट्यान्मूल्यहीनता। शक्तिहीनः पदच्युतः। संघर्षः क्रान्तिकारकः । नित्य दुःखी पराधीनः । स्वाधीनश्च सदासुखी। लोक सेवा हि सौख्यदा। न जगन्मानसं विना। यो गर्वी सोऽल्प धी ध्रुवम्। चित्ता-सक्तिर्हि सौख्यदा। नादर्शं वष्टि कङ्कणम् (हाथ कङ्गन को आरसी क्या ?) "मनः स्थैर्य विना सिद्धिः क्व कि केनापि लभ्यते" "ममत्व मोहयोस्त्यागः संन्यासो वस्तुतो मतः । असामर्थ्यवशा-त्यागस्त्यागो नैव दरिद्रता "प्राप्नुयात् सागरात् कोऽपि स्वपात्रा-नुसृतं जलम्" प्रलोभनं विना कोऽपि पराधीनो भवेन्नहि "निकषः प्रातिकूल्यन्तु वृद्धिपथमुपेयुषाम्" अर्धज्ञानो भिषग्चापि यमराजेन सन्निभः ॥ (नीम हकीम खतर ए जान) औषधानां सहस्रेण तुल्यं पथ्यं हि लाभदम्। वृद्धिहानी मनश्शक्तेः कारणे सुख-दुःखयोः ॥ सुखदुःखे समत्वं हि वीरपुरुषलक्षणम्। अकिञ्चनं धनं येषा दुःखन्तेषां भवेन्नु किम् । ऐसी सैकड़ों सुन्दर उक्तियां इसमें भरी पड़ी हैं।

"लाघवेनोद्गतिर्भूयात् गौरवेण निमज्जनम्" प्रवृत्तिर्निवृत्ति

नित्यं भज्यते क्रमशोऽनया ॥ यहां लाघव गौरव एवं भज्यते मे
श्लेष का चमत्कार विचारने की वस्तु है। भञ्जसेवायाम् तथ
भञ्ज आमर्दने प्रकृति का श्लेष भज्यते में है। उपमा के भी
एक दो उदाहरण देखिए—स्वकीयेन श्रमेणैव ज्ञानं यल्लभते नरः
वर्द्धते तल्लवैरेव संचयेन यथा मधु ॥ ४ । २६ ॥ यहाँ सञ्चयेन
यथा मधु (की आर्थी उपमा) से ज्ञान प्राप्ति का अत्युत्तम मार्ग
स्पष्ट हो जाता है। मधुमक्षिकाएँ गाढ़े परिश्रम से फल-फूल
काष्ठादि से रस लाती हैं तथा अपनी अनवरत प्रक्रिया से
उसे मधु का रूप देकर अपना बना लेती हैं एवं शनैः २ उससे
अपने छत्ते भरती रहती हैं, इसी प्रकार यदि शिक्षार्थी भी
प्रकृति के किसी भी पदार्थ से शिक्षा प्राप्त कर उसे मनन द्वारा
पचाकर अपना रूप दे इस प्रकार शनैः २ अपना ज्ञान कोष भरे
उसका यही ज्ञान सच्ची पूंजी है। एक उदाहरण और लीजिए—

> नानेकैरुध्यते विघ्नैः स्वावलम्बिप्रवर्तनम् ।
> पर्णप्रस्तरवृक्षाद्यैः पर्वतीयनदाम्बुवत् ॥ ७ । ६० ॥

यहां स्वावलम्बी की तुलना पर्वतीय नाले से की गई है,
पाठकों के सामने एक दम नाले का उसके वेग का उसमें बहते
घास फूस तथा टूटे हुए पत्थर व वृक्षों का चित्र सामने आ
जाता है, सहज ही स्वावलम्बी की गति का ज्ञान इससे हो
जाता है। यहाँ पर्ण प्रस्तर व वृक्ष का क्रम भी ध्यान देने
योग्य है।

जहाँ तक विषय प्रतिपादन की शैली का प्रश्न है ग्रन्थकार
अपनी प्रतिज्ञा—

> सर्वसाधारणस्तत्र पश्यति मुग्धयादृशा ।
> तेषां कृते प्रयासो मे करुणानोदितात्मनः ॥ १ । ८ ॥

"ग्रथ्नामि स्वमनोयोगात् लोकैकहित काम्यया" ॥१।१०॥

का पूर्ण तरह निर्वहरण कर चुका है, पाण्डित्य प्रदर्शन का लोभ उसे अपने पथ से भ्रष्ट नहीं कर सका है। अत्यन्त गहन विषयों को सर्व साधारण सुलभ कर देने की शैली दर्शनीय है। प्राणी मन से ही वन्धन मे पड़ता है तथा उसी से वन्धन से छूटता भी है इसके लिए कितना सुन्दर और सरल उदाहरण है—

भूमिमेवावलम्ब्यैव यथोत्तिष्ठति भूगतः।

आवद्धो मनसा प्राणी तेनैवोत्थाप्यते पुनः ॥१२।१०२॥

दौड़ते २ या चलते २ भूमि पर गिर पड़ने वाला व्यक्ति आकाश को नहीं तकता है अपितु उसी भूमि का सहारा लेकर उठा करता है इसी प्रकार मन से बंधा मन से ही छूटता है। उदाहरणों से "प्रास्ताविकं किञ्चित्" का विस्तृत कार्य होता जा रहा है अतः यही पर्याप्त होगा।

जिस प्रकार इस माला का वाह्यरूप-सङ्गठन या ग्रथन अत्यन्त सुन्दर है उसी प्रकार उसका अन्तर रूप भी। इसमें केवल भर्ती के फूल ही नहीं लिये गये हैं तथा न ये फूल निर्गन्ध किंशुक की भाँति "वहिरेव मनोहराः" ही हैं। एक २ भाव कुसुम रत्नों का सा महत्व रखता है। इसमें ग्रन्थकार ने जीवन भर के समस्त अनुभवों के सार को 'संजोया' है। प्रत्येक भाव विना किसी जगड्वाल के लोक प्रचलित सीधी सादी भाषा में रखा गया है। मानव जीवन से सम्बन्धित ज्ञान राशि का कोई भाग ऐसा नहीं है जो इससे अछूता वच गया हो। सभी श्रेणियों के सभी अवस्था के व्यक्तियों के लिए प्रातः उठने से सोने तक के समस्त कर्तव्यों (विधि-निषेधों) का प्रामाणिक वर्णन है। किसी एक पद्य को लेकर भी मनुष्य जीवन का आदर्श वना ले तो मानवजीवन के चरमसत्य का प्रत्यक्ष कर

सकता है। सब से अधिक ध्यान देने की बात है इसके सिद्धान्तों की निर्विरोधिता। धर्माधर्म ईश्वर परलोकादि में आस्था न रखने वाले चार्वाकानुयायी प्राचीन विचारक तथा कम्युनिष्ट आदि नवीन दार्शनिकों को भी इसमें बताये गये स्वरूप वाले धर्म एवं ईश्वर से रत्ती मात्र भी विरोध नहीं हो सकता है, यदि इस नाम (ईश्वर-धर्म) को हठधर्मी से न भी माना जाये तो न मानें किन्तु इस नाम से परिवेष्टित उस सिद्धान्त से वे कभी भी निषेध नहीं करेंगे। आश्चर्य यह है कि पुराण-पन्थी कट्टर आस्तिक भी इन्हें उसी श्रद्धा के साथ मानेंगे (कृपया सप्तम अध्याय के १७ से १९ पद्य तथा पञ्चम अध्याय के ३ से ९ तक के पद्य देखिये)।

२२०० श्लोकों के इतने विशाल ग्रन्थ में भी ग्रन्थकार प्रारम्भ से अन्त तक तटस्थ है किसी भी सम्प्रदाय या मत की ओर उसका आग्रह प्रतीत नहीं होता है।

> मन्त्रस्य मननादेव मस्तिष्के स्फुरणा भवेत् ।
> मूर्तिरूपेण सा स्फूर्तिः ध्यानकर्तुर्हि देवता ॥ ११ । ६९ ॥
>
> एवं कल्पितमूर्तिभ्य ईप्सति जनतेप्सितम् ।
> यावन्तो मानवा लोके देवास्तावन्त एव हि ॥ ११ । ७० ॥

में हिन्दुओं के विविध देववाद का कितना सुन्दर वैज्ञानिक युक्तियुक्त रूप बताया गया है। शक्ति के प्रसङ्ग में—

> स्वीयोन्नतिविकासार्थं मुपायानान्तु चिन्तनम् ।
> स्वाभाविकमिदं लोके सर्वेषां शक्तिपूजनम् ॥ ११ । ७१ ॥

उपायों का चिन्तन ही शक्ति-पूजा है जो स्वाभाविक रूप से सभी द्वारा स्वतः होता रहता है क्या इस अर्थ में सभी 'शाक्त'

नहीं हैं, आज की पश्चिमी दुनियाँ तो हमसे अधिक 'शक्ति-पूजक' है। आज के राष्ट्रीय एवं नागरिक जीवन का जितना सुन्दर आदर्श संक्षेप में यहां मिलता है वह समाजशास्त्र व नागरिक-शास्त्र के विशाल ग्रन्थों में भी इतनी स्पष्टता के साथ नहीं मिलेगा। हमारी राष्ट्रीयता का क्या स्वरूप हो? मानवता के हित में विश्व के संविधानों को क्या करना चाहिए? हमारे देश का सच्चा विकास कैसे हो? छात्रों में अनुशासन एवं उत्तरदायित्व की भावना कैसे भरी जावें? स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध कैसा हो? ये आज की कठिनतम समस्याएँ है जिनका सार्वकालिक व सार्वदेशिक उपयुक्त समाधान आधुनिक दृष्टिकोण से आप इसमें पावेंगे जो भारतीय तत्वचिन्तकों की सम्मति व प्राचीन ऋषियों की स्मृति से वहिर्भूत न होकर अनुमोदित ही होगा।

विविध प्रकार का गूढ़ आध्यात्मिक क्रियाओं का अनुभव-गम्य गुरु परम्परा मात्र लब्ध गूढ़ज्ञान निश्छल रूप से व्यक्त किया गया है हठ-राज-विन्दु (लय) और मन्त्र इन चारों योगों का सांख्य, वेदान्त, भक्ति, निगमागम का पूर्ण रहस्य साथ ही मातृका-स्वरूप, षट्चक्र-चेतनधारा का विशद स्पष्टीकरण एकत्र रूप में एक सूत्र में साद्यन्त एकमात्र यहीं उपलब्ध है। वाममार्ग की शास्त्रीय प्रणाली तो है ही साथ ही विविध पन्थगत सुगुप्त प्रणाली भी इसमें निवद्ध है। वड़े २ ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य व गृहस्थ के सिद्धान्त संक्षिप्ततम किन्तु सम्पूर्ण यहां उपलब्ध हो जाते हैं। निष्काम कर्म के विषय में 'योगवाशिष्ठ' जैसे महाविपुल ग्रन्थ में जो कुछ वताया गया है वह ललित-शैली में पूरी तरह इस गीता में है जिस पर किसी प्रकार के भाष्य या गम्भीर विवेचन की आवश्यकता भी पाठकों को प्रतीत नहीं होगी। यदि पाठक इस दृष्टिकोण से इसका अध्ययन

करेंगे तो उनका अध्ययन ग्रन्थकार का प्रणयन तथा हमारा सम्पादन कथमपि व्यर्थ न होगा । उस समय ही इसकी वास्तविक सार्थकता होगी।

कार्य की त्वरावश कुछ पद्यों की (यथा आमितश्चाटु वाक्यैः पृष्ठ ११६ व ३३७ पर) पुनरावृत्ति हो गई है। कुछ पद्य अस्थानस्थ हैं (पृष्ठ ३४८-३४६ पर निवेदयामि संकेतान् से तन्त्रे श्लोको यथा तक के तीन पद्य एवं अन्य भी) मुद्रण शुद्धि भी प्रयास के अनन्तर दृष्टिदोष वश रह ही गई है उदार पाठक इन सब को अपनी योग्यता क्षमता व टीका के सहारे से शुद्ध करते हुए हमें क्षमा करें "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" की श्रेणी से हम बाहर कैसे हो सकते हैं जब कि यह मानव मात्र व्यापी दोष है।

हमें इसी में प्रसन्नता है कि जनता जनार्दन की सेवा का कुछ अवसर मिल सका—

धन्योऽस्मि कृतो पुण्योऽस्मि परसेवां करोम्यहम् ।
सेवायै स्वीकृतो येन धन्यवादः स मेऽर्हति ॥ ७ । १०५

से अपना भाग्य सराहते हुए आपसे विदा ले रहे हैं—

विद्वच्चरणचञ्चरीकौ—
साहित्याचार्य अनन्त शर्मा बी. ए.
अध्यापक —राजकीय संस्कृत पाठशाला,
प्रधान—
हिन्दी साहित्य परिषद् नसीराबाद
तथा
पं० कौशलदत्त पुरोहित काव्यतीर्थ
नांदला

ग्रन्थकार का वक्तव्य

मान्यवर पाठकवृन्द ! मेरी किञ्चिन्मात्र भी भावना नहीं थी कि मैं इस प्रस्तुत ग्रन्थ "घनश्याम गीता" की रचना करूं परन्तु ईश्वरेच्छा वलीयसि का वाक्य मुझ पर सार्थक हो गया और हृदयस्थ किसी देव की प्रेरणा से ही विक्रम संवत् २०११ के आश्विन शुक्ला १० विजयादशमी के दिन ठीक १२ वजे मेरी जन्मभूमि ग्राम चांपानेरी में पूर्णोत्साहयुक्त जनानन्दकरणोत्सुक वैठे हुए मेरे मुख से १ श्लोक वन गया और धाराप्रवाह आगे भी वनते ही गये अर्थात् ३३ श्लोक वन गये। उस समय मेरे पास एक मेरा भक्तशिष्य ओङ्कारलाल गर्ग ही वैठा था। मैं प्रसन्नचित्त से उसको साथ लेकर चांपानेरी के तत्कालीन कामदार (मेरे स्वीकृत शिष्य पं० छीतरमलजी शर्म्मा शिखवाल सा० कीटाव) के पास गया और उन को मेरे वनाये श्लोक सुनाये तो वह प्रसन्न हो गये और इन श्लोकों को मुद्रित कराने के लिये उन्होंने उस ही समय मुझ को ४१) रु० प्रदान किये जो कि सौभाग्यसूचक लक्षण थे। परन्तु श्लोकरचना की वाग्धारा का प्रवाह अभी चल ही रहा था सो कुछ ही दिनों में ५०० श्लोक वन गये तो मैंने ७०० श्लोक वनाने की धारणा कर ली परन्तु फिर भी प्रवाह नहीं रुका तो मैंने २१०० श्लोक वनाकर उस पुस्तक का नाम "घनश्यामगीता" रख देने की प्रतिज्ञा करली।

जव वहुत से श्लोक वन गये और मैं अकस्मात् रुग्ण भी हो गया तो इतने श्लोकों के अर्थ को लिख कर प्रेसकापी करने के लिये मैं असमर्थ होगया था ऐसे अवसर पर मेरी भगिनीजासुपुत्र पं० कौशलदत्त काव्यतीर्थ के साथ आजाने से, नसीरावाद के रहने वाले संस्कृताध्यापक विनम्रयुवक पं० अनन्तरामजी साहित्याचार्य वी० ए० से मेरा परिचय हो गया।

मेरे प्रति उनके हार्दिक श्रद्धा और आदर भाव को देख कर मैंने मेरी रुग्णावस्था के कारण अपनी घनश्यामगीता की श्लोक संहिता का संशोधन करके सार्थक प्रेस कापी कर देने के लिये उनको कहा तो उन्होंने पूरे प्रेम और भक्ति भाव से स्वीकार कर लिया और अनेक बाधाओं और कष्टों को झेल करके भी जो इन्होंने इस कार्य को पूर्ण कर दिया है एतदर्थ मैं हृदय से उनको धन्यवाद देता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह ऐसे सुयोग्य विधेयाचार्य्यों को सफल दीर्घजीवन प्रदान करें और यह भी मेरी भविष्यवाणी है कि आगे यह बहुत उन्नति करेंगे। सम्पादन कला में यह अत्यन्त कुशल हैं मेरे श्लोकस्थ हार्दिक भावों को खेंच कर अर्थ करने में इन्होंने आशातीत काम किया है।

मैं चाहता हूं कि मेरे संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा के शब्दों की उत्पत्ति बताने वाले अपूर्व बृहत् "घनश्याम शब्द कोश" का सम्पादन भी इन्हीं के मस्तिष्क से हो तो उत्तम है और इसके लिये जैसा कि उनकी इच्छा है मैं भी उन को उर्दू, फ़ारसी और अर्बी ज़बानों को पढ़ा कर कोश के सम्पादनार्थ अफ़ज़लुल फ़ुज़ला बना दूं। यही मेरी कामना और ईश्वर से प्रार्थना है। अस्तु। आमीन, फकत्त शमिति—

विशेष: १—नास्त्यन्तरान्मन्यामोऽपकदोषो दूषितभावर्दुभावो वा यस्य सोऽनन्तरामः। जिसके हृदय में किसी प्रकार आम (आमय दोष, दुर्भाव) न हो वही अनन्तराम है। निरामी या निर्दोषी मानव।

२—और कौशलदत्त तो कौशल (चातुर्य, निपुणता, दक्षता) का दिया हुआ अर्थात् तज्जन्य है ही तो कौशल के विषय में मेरा वाक्कौशल कैसे चल सके। अतः तूष्णीमस्मि।

इस ही तरह से—ओसाफ़े मज़कूरुस्सदर से मुत्तसिफ़, नेकबख़्त, ख़ैरख़्वाह शागिर्देमुअव्विद या कोई ख़लीले मुख़्लिस, खलीकेअकील मुझ को कर्मेएज़दी से कभी मिल जावें तो मेरे बनाये हुए मजमूआए अशआरे फ़ारसी ज़बान की इशाअत भी मुमकिन हो जावे। आमीन।

स्वरित रचित श्लोकाः

प्रायश्चित्तं स्वदोषाणां दानादिभिर्विधीयते ।
पुण्यकर्माण्यतः सर्वैः कार्याणि भुवि मानवैः ॥

सर्व मनुष्यों को चाहिये कि अपने दैनिक दोषों के प्रायश्चित रूप में दानपुण्यादि उत्तम कार्यों को करते रहें।

कारणं कथित विज्ञै रज्ञानं पापकर्मणाम् ।
अतः पापनिरोधार्थ मात्मज्ञानार्जनं वरम् ॥

बुद्धिमानों ने पाप कर्मों का कारण अज्ञान ही को माना है इसलिये पाप कर्मों को रोकने के वास्ते आत्मज्ञान का प्राप्त करना श्रेष्ठ है।

स्वेच्छयाहं करिष्यामि भरिष्यामीह तत्फलम् ।
स्वावलम्बनमार्गे तु पृच्छा हि भाग्यबाधिका ॥

स्वावलम्बी कहता है कि मैं अपनी इच्छा से ही करूंगा और जो करूंगा उसका फल अवश्य ही भोगूंगा (वही मेरे भाग्य का परिचायक है) स्वाऽवलम्बन के मार्ग में तो दूसरों से पूछ २ कर काम करने से भाग्य में रुकावट आजाती है क्योंकि पूर्व-जन्म के अच्छे संस्कारों के फल का नाम ही "भाग्य" है।

—राजवैद्य डा० घनश्याम शर्मा
पुरोहित (पारीक)

गच्छति यत्र कुत्रापि यद्धि यस्मै च रोचते ।
स्वभाग्यान्वेषणार्थन्ना करोति दैवप्रेरितः ॥

पूर्व जन्म के संस्कारों से प्रेरित होकर ही मनुष्य अपने भाग्य को ढूंढने के लिये कहीं भी जाता है और जो उसको अच्छा लगे वही काम करता है।

—घनश्याम

सम्मति

प्रस्तुत पुस्तक वर्तमान युग के संतप्त मनुष्य के लिये संजीवन बूटी है। आज मनुष्य जीवन विविध विषमताओं से घिरा हुआ है। स्वास्थ्य, योग, भक्ति, दान, विद्या, राजनीति और चरित्र आदि का मनुष्य में अभाव है। अतएव विद्वान् लेखक और प्रसिद्ध राजवैद्य श्री घनश्यामजी शर्मा ने इन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों का संस्कृत श्लोकों में रचना कर बहुत ही सुन्दर व सरल भाषा में अनुवाद किया है। राजवैद्यजी एक अनुभवशील व्यक्ति हैं इस पुस्तक की रचना करके उन्होंने एक भारी कमी पूरी की है। आज हमारा पीड़ित समाज ऐसी पुस्तकों से लाभान्वित होकर ही उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच सकता है। मनुष्य व समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति से ही देश का उत्थान संभव है। अतएव विद्वान् लेखक ने मनुष्य जीवन से संबंधित विषयों का सुन्दर निरूपण करके मनुष्य के लिये उन्नति का मार्ग बतलाया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत गीता कलयुगी जीवन के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगी और विशेषकर आज के नवयुवक इस पुस्तक को पढ़कर अमूल्य रत्न बटोर सकेंगे।

पृथ्वीनाथ दर (कश्मीरी पण्डित)

ट्रेंड इन्स्ट्रक्टर (गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया)

लेखक—

१. "वेंतकला" और २. "सरकन्डे का रहस्य"

विषय-सूची

अध्याय	नाम विषय	पृष्ठाङ्क

तृतीय खण्ड (सर्व साधारण धर्माचार) ८७ से २१८ तक

अध्याय	नाम विषय	पृष्ठाङ्क

अध्याय नाम विषय पृष्ठाङ्क

श्लोक संख्या १२५

श्लोक संख्या १०६

अध्याय	नाम विषय		पृष्ठाङ्क

श्लोक संख्या १०३

अध्याय	नाम विषय			पृष्ठाङ्क
१५	(अध्यात्मविद्यायाम्) योगशास्त्रम् (पूर्वार्ध) ३८५ से ४१८ तक			
	तीन कोश		...	३८५
	संयम विना योग व्यर्थ	...	...	"
	चित्तवृत्ति निरोध व इससे आत्मदर्शन		...	"
	नियम की प्रशंसा	...	...	३८७
	साधनों की भिन्नता अज्ञान जन्य			३८८
	योग व चित्तवृत्ति निरोध	...	...	"
	राज हठयोग का अन्तर	...	..	३८९
	योग अध्यात्मज्ञान का मूल व क्रिया साध्य			३९०
	विना जाने योग क्रिया न करे		..	३९१
	यम-नियम	...	...	"
	आसन	...	...	३९२
	प्राणायाम व नाड़ी शोधन	...	...	३९३
	प्रत्याहार	..	...	३९६
	ध्यान	..	...	"
	धारणा	...		३९७
	समाधि	...	...	३९८
	सद्-गुरु	...	...	४००
	यौगिक क्रिया गुरु सन्निधान में ही		...	४०२
	शरीर सर्वोत्तम साधन	...	...	४०३
	कुयोगी	...	...	"
	मृत्यु अमरत्व	...	...	"
	हठ योग	...	...	४०४
	आसन व इनकी सिद्धि	...	...	४०५
	शाम्भवी मुद्रा, बन्धत्रय	...	...	"

अध्याय	नाम विषय		पृष्ठाङ्क

—:o:—

कविराज राजवैद्य डा० घनश्यामशर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य,
साहित्यरत्न हकीमेहाज़िक आलिमफाज़िले फारसी, आदर्शनगर, अजमेर ।

अथ प्रथमोऽध्यायः

आत्म निवेदनम्

नमामि परमात्मानम् सर्वेषामन्तरस्थितम् ।
सर्वेशानो धियम्मेऽस्मिन् प्रेरयेद्विघ्नशान्तये ॥ १ ॥

मैं घट घट वासी परमात्मा को प्रणाम कर रहा हूँ कि वह सब का एकमात्र प्रेरक प्रभु इस कार्य में मेरी बुद्धि को विघ्न शान्ति के निमित्त प्रेरणा दे।

श्री गुरुं माधवानन्दं योगाचार्यं तपोनिधिम् ।
वेदतत्त्वरहस्यज्ञं सांञ्जलिः प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

मैं योग विद्या के आचार्य, तप के खजाने, वेदों के रहस्यज्ञाता, गुरुवर्य श्री माधवानन्दजी को करबद्ध प्रणाम कर रहा हूँ।

श्रीगुरुमाधवानन्दकिञ्चिज्ज्ञानोपदेशतः ।
प्रभोः प्रसादाद्दैवाच्च हृत्कञ्जं मे व्यकासत ॥ ३ ॥

राजवृन्द मान्य श्री गुरुवर्य माधवानन्दजी महाराज के 'क्षणिक उपदेश मात्र' से, भगवान् के अनुग्रह से तथा सौभाग्योदय से मेरा हृत्कमल विकसित हुआ है।

चाँपानेरी स्थितस्यैव घनश्यामस्य मानसे ।
रसेलानन्तनेत्राब्दे दशम्यामाश्विने सिते ॥ ४ ॥

वियन्मध्यगते सूर्ये तरंगः स्वयमुत्थितः ।
जनानन्दकरं कार्यं कर्तव्यं स्वास्थ्यवर्धकम् ॥ ५ ॥

विक्रम संवत् २०११ के आश्विन शुक्ला दशमी के दोपह
को चाँपानेरी में ही मेरे मानस में तरंग उठी कि जनता के लि
आनन्द दायक तथा उसकी प्राकृतिक स्थिति का पोषक को
कार्य करना चाहिए।

संसार पाठशालेयं सर्वेषां हितकारिणी ।
अत्रस्थो विज्ञलोको लब्धुमनुभवानलम् ॥ ६ ॥

सूक्ष्मदृष्ट्येव सुमतिर्निकृष्टादपि वस्तुनः ।
अत्युत्कृष्टं हि लभते लोकाश्चर्यकरं फलम् ॥ ७ ॥

सर्वसाधारणास्तत्र पश्यति मुग्धया दृशा ।
तेषां कृते प्रयासो मे करुणा नोदितात्मनः ॥ ८ ॥

यह संसार रूपी पाठशाला सभी का समान रूप से हित
करने वाली है, किन्तु यहाँ केवल विज्ञ लोग ही अनुभव प्राप्त
करने में समर्थ हैं, यहाँ बुद्धिमान् मनुष्य सूक्ष्म दृष्टि से साधारण से
साधारण वस्तु से भी ऐसे उत्तम फल पा सकता है जो लोगों
को आश्चर्य में डालने वाले होते हैं। ऐसी अवस्था में साधारण
मनुष्य केवल विस्मय भरी भोली निगाह से देखते हैं। उन लोगों
के लिए करुणा से प्रेरित हो कर मैंने यह प्रयास किया है।

बाल्यादेव मया दृष्टे पातोत्थाने पुनः पुनः ।
स्वकीये परकीये च विन्ने हेतुफले अपि ॥ ९ ॥

बुद्धि योगाच्च शास्त्रेभ्यो लब्धाननुभवानहम् ।
ग्रथ्नामि स्वमनो योगात् लोकैकहितकाम्यया ॥ १० ॥

मैंने बचपन से ही अपने और पराये अनेक उत्थान पतन, (जिन्दगी के उतार चढ़ाव) वार वार देखे हैं उनका हेतु एवं फल भी विचारा है, अपनी बुद्धि से तथा शास्त्रों से पाये हुए अनुभवों को मैं विशुद्ध लोकहित की दृष्टि से मनोयोग पूर्वक ग्रन्थबद्ध कर रहा हूँ।

परिस्थिति स्वभावाभ्यामध्येता मेऽस्तु सस्तुतः ।
इति प्रास्ताविकं किञ्चित् कुर्वे आत्मनिवेदनम् ॥ ११ ॥

इस ग्रन्थ के पाठक मेरे स्वभाव से तथा मेरी परिस्थितियो से पूर्ण परिचित हो जावें तथा अधिक लाभ प्राप्त कर सकें। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रासङ्गिक रूप में "कुछ आत्म-निवेदन" कर देना चाहता हूँ।

चांपानेरीति नामैको ग्रामोऽस्ति लोकविश्रुतः ।
मण्डलेऽजयमेर्वाख्ये राजस्थानेऽधुना त्वभूत् ॥ १२ ॥

ग्रामीण वन्धुओ में अत्यन्त प्रसिद्ध (विशेष श्रुत) चांपानेरी नामक एक ग्राम है जो अब तक अजमेर में था किन्तु अब (राज्य विलयन विधानजन्य विलीनीकरण के अनन्तर) राजस्थान में हो गया है।

जन्मात्र वैक्रमेऽब्दे मे रामाब्धिनिधिगोमिते ।
चतुर्दश्यां वदीषेऽर्के शुभं यौ दिवसेऽभवत् ॥ १३ ॥

इसी चांपानेरी ग्राम में आश्विन कृष्णा चतुर्दशी रविवार सम्वत् १९४३ के शुभ समय में मेरा जन्म हुआ।

तृतीयेऽह्नि प्रजातेन पितरि स्वर्गते सति ।
चिरं कष्टं मया भुक्तं बाल्यकाले सुदारुणम् ॥ १४ ॥

अपने पिता के स्वर्ग-गामी होने के तीन दिन के अनंतर पैदा हुए मैंने बाल्यावस्था में बहुत दारुण कष्ट चिर काल तक भोगे ।

निर्धना विधवा माता प्रकामं बन्धुपीडिता ।
दुःखैकशरणा नित्यं वात्सल्यान्मामपालयत् ॥ १५ ॥

अपने भाई बन्धुओं द्वारा अत्यन्त सताई गई विधवा और निर्धन माता ने रात दिन दुःखों की शरण में भी पूर्ण स्नेह से मेरा पालन किया ।

निर्धनत्व ! नमामि त्वां सर्वौद्धत्य प्रणाशकम् ।
स्वधनेतृसुभाग्यानां शङ्कालज्जाभयान्वितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे निर्धनाऽवस्थे ! तू सब के औद्धत्य अर्थात् अकड़ और घमण्ड का नाश करने वाली है तथा तेरे होते हुए—मनुष्य के हृदय में से शङ्का, लज्जा और भय—निकलते ही नहीं हैं । एवं जिनके अच्छे भाग्य होते हैं उनकी सुपथ विधायिका (अच्छे पथ पर लगाने वाली) भी तू ही है । अतः तुझे मैं नमस्कार करता हूँ ।

आत्मसम्बन्धजातानां ज्ञातीनां पार्श्ववर्त्तिनाम् ।
बाल्ये तु वर्त्तनं दृष्ट्वा दैन्यमन्वभवं हृदि ॥ १७ ॥

(निरालम्ब जननी जैसे मेरा पालन पोषण करती थी—जीवन यापन के साधारण स्तर में वर्तमान में)—अपने सम्बन्धियों, भाई बन्धुओं तथा पड़ोसियों और जाति वालों के रहन-सहन के

स्तर को देख कर, उनसे अपनी तुलना मन ही मन कर, दीनता का अनुभव किया करता था। इसी भाव ने मेरे मन में महत्वाकाङ्क्षा को जन्म दिया।

शान्तदृष्टचैव लोकानां दृष्ट्वा कर्मार्जितं फलम् ।
विधेयमविधेय वा किङ्कर्मेति व्यचिन्तयम् ॥ १८ ॥

मैं निर्लिप्त दृष्टि से शान्ति पूर्वक लोगों के कर्म-प्राप्त फलोपभोग को देख देख कर यही सोचा करता हूँ कि यहां संसार में कौनसा कर्म विधेय है और कौनसा अविधेय है।

षोडश वर्ष पर्यन्तमध्ययनात् पराङ्मुखः ।
गोचारणन्तदारण्ये करोमिस्म यदा कदा ॥ १६ ॥

मैंने १६ वर्ष की अवस्था तक अध्ययन नहीं किया, इस समय प्रायः मैं कभी कभी अपनी गायों को जंगल में चराया करता था।

चतुर्दशवर्षदेश्योऽहं साम्बः शाहपुरं ययौ ।
स्वाधिकाराप्तये तत्र नाशात् पितृव्य सन्ततेः ॥ २० ॥

साक्ष्यात्तद्वंशजं ज्ञात्वा राजा रिक्थ गृहं ददौ ।
द्विवर्षीयाभि योगान्ते नीरिक्थं परवेष्टितम् ॥ २१ ॥

अपने एकमात्र चाचा के पुत्र की मृत्यु हो जाने पर मैं चौदह वर्ष की अवस्था में अपनी माता सहित विरासत की प्राप्ति के लिये 'शाहपुरा' चला गया। वहाँ निरन्तर दो वर्ष की मुकदमेबाजी के बाद साक्षियों के प्रमाण के आधार पर शाहपुरा नरेश ने वस्तुओं से सूना एवं किरायेदारों से भरा वह घर जो मेरी रिक्थ (विरासती जायदाद) था, मुझे दे दिया।

स्वीयोपार्जितदानेन कृत्वा तदृणशोधनम् ।
मातृश्रीसुमहायेन कष्टावस्थामपारयम् ॥ २२ ॥

उस घर में सम्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं बचा था पर घर मुझे मिलते ही साहूकार कर्ज का हिसाब लेकर आ गये। मैंने अपने उपार्जित धन द्वारा कर्ज चुकाकर मातेश्वरी की सहायता से जैसे तैसे कष्ट की अवस्था पार की।

अस्मत्पोषणवृत्यर्थं कृतवांस्तुच्छभृत्यताम् ।
निन्दनीयेति त्यक्तासौ शास्यवृत्ति जिहासया* ॥ २३ ॥

अपने एवं माताजी के उदर पोषण के लिए मैं साधारण नौकरी करता था किन्तु उसे निन्दनीय समझ कर छोड़ दिया तथा भविष्य में किसी के शासन की अधीनता में नौकरी न करने का पूर्ण सङ्कल्प कर लिया।

टिप्पणी :—इस समय डा० साहिब किसी पेच में प्रतीहार के रूप में कार्य करते थे तथा क ख ग के ज्ञान से भी शून्य थे किन्तु दृढ़ नियम थे। एक बार मालिक के प्रतिनिधि किसी अन्य कर्मचारी की तनिक अनियमितता से आपने वह नौकरी ही नहीं छोड़ दी अपितु प्रतिज्ञा ही कर ली कि कभी ऐसी नौकरी नहीं करनी जिस में दूसरा शासन करता हो। आप वहां वेतन आठवें दिन निश्चित समय पर लेते थे। वह नवागन्तुक इसे जानता भी था किन्तु उसने इन्हें दूसरे समय पर आने के लिए कहा और वेतन न दे कर फिर दूसरा समय दिया "जो कहकर भी नहीं करता उसके यहां रहना ही नहीं" कह कर आप उसी समय घर चले आये।

प्रवृत्तिर्बाल्यकालान्मे सदासीच्छुभकर्मसु ।
षोडशवर्षपर्यन्तं नाधीतं वस्तुतो मया ॥ २४ ॥

यद्यपि मेरी प्रवृत्ति बाल्य काल से ही शुभकर्मों की ओर थी तथापि सोलह वर्ष की अवस्था तक मैं निश्चत रूप से अध्ययन नहीं कर सका।

विद्याध्ययनतर्षो मे एतावत् क्षीणवृत्तिकः ।
परिवेशाच्छुभोदर्कादिदम्यालालसाभवत् ॥ २५ ॥

मेरे मन में विद्याध्ययन की इच्छा अभी तक अत्यन्त साधारण रूप में थी, यहां उपयुक्त परिवेश (वातावरण) पा कर भावी-शुभ होने से, अदम्य लालसा के रूप में बदल गई।

अध्येतुं क्रमशो विद्यां नासीदायुर्न मे स्थितिः ।
अध्यापकाय दातुं स्वमितिशोकं परं ययौ ॥ २६ ॥

क्रमिक अध्ययन की न तो मेरी अवस्था ही थी और न अध्यापक को प्रदान करने के लिए धन ही था, अपनी इच्छा पूर्ति के साधन के अभाव में मैं अत्यन्त दुःखी हुआ।

किञ्चित् कञ्चित्तदा पृष्ट्वा श्रीगणेशः कृतो मया ।
हिन्द्यांग्लोर्दूगिरान्तूर्णं वर्णमाला तु शिक्षिता ॥ २७ ॥

तब मैंने थोड़ा थोड़ा किसी को पूछ कर अध्ययन का प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू की वर्णमाला तो सीख ली।

वृद्धौ साहसिलोकानां सहायस्तु स्वयं प्रभुः ।
तस्यैव मयितुच्छेऽपि निरुपाधिकृपाऽभवत् । २८ ॥

भगवान् स्वयं परिश्रमी लोगों के अभ्युत्थान में सहायक होते हैं, उन्हीं भगवान् की मुझ तुच्छ प्राणी पर भी अहैतुकी कृपा हुई।

श्रीमतां माननीयानां निःस्वलोकहितैषिणाम्।
राजाधिराजवर्याणां दृष्टिपातोऽभवन्मयि ॥ २९ ॥

दरिद्र जनों के उपकारी-अनाथ लोगो के हितैषी-माननीय राजाधिराज (श्रीमान् नाहरसिंहजी) की (कृपा) दृष्टि मुझ पर पड़ी।

कृपया शाहपूराजः श्रीनाहरनृपस्य वै।
पठित्वा फारसीभाषां तद्भाषाध्यापकोऽभवम् ॥ ३० ॥

शाहपुरा नरेश श्री नाहरसिंहजी के अनुग्रह से फारसी भाषा का अध्ययन कर मैं उसी भाषा का शिक्षक नियुक्त हुआ।

विद्यादानाय कैशोरात् सर्वथा निरतोऽभवम्।
विस्मरन् कायिकं सौख्यं खादनाच्छादनादिकम् ॥ ३१ ॥

मैं खाना पहिनना आदि शारीरिक सुखों को भूलकर (उनका ध्यान ही न रख कर)—किशोरावस्था मे विद्या ग्रहण करने और देने में मग्न हो गया। (विद्या दान—विद्या+आदान) अध्ययन और अध्यापन में ही तल्लीन हो गया।

ऊनविंशतिवर्षीयो धर्मस्याध्यापकोऽभवम्।
परैः श्रुत्वा पठित्वा च धर्मज्ञानं मयार्जितम् ॥ ३२ ॥

उन्नीस वर्ष की अवस्था में मैं धर्म का अध्यापक हो गया, दूसरों से सुनकर एवं ग्रन्थों में पढ़ कर मैंने धर्म विषयक ज्ञान प्राप्त किया।

घनश्यामगीता

ग्रन्थकार : किशोरावस्था (१६ वर्ष) में

(इस समय तक अध्ययन आरम्भ नहीं किया गय

की सम्पत्ति जन्म से ही प्राप्त थी किन्तु जीवन

ओर उन्मुख नहीं हुआ था) चांपानेरी से

स्वेच्छयेतस्तो गत्वा देववाणीं सुयत्नतः ।
धर्मग्रन्थांश्चतन्मूलान् सोत्साहमपठम्मुदा ॥ ३३ ॥

स्वेच्छा से ही मैंने संस्कृत भाषा एवं उस भाषा में निबद्ध धार्मिक ग्रन्थों का मनोयोग से उत्साह पूर्वक अध्ययन किया।

विहायाध्यापनं कर्म पञ्चहायनकालिकम् ।
पत्रसम्पादकत्वेन लाहौरं गतवानहम् ॥ ३४ ॥

मैं पांच वर्ष की अध्यापक-वृत्ति को छोड़ कर पत्र सम्पादक के रूप में लाहौर पहुँचा।

वैद्य ठाकुरदत्तेन पाञ्चालदेशवासिना ।
सानुरोधं समाहूतो मत्पाण्डित्यतोषिणा ॥ ३५ ॥

सर्वत्र प्रथित पञ्चनदवासी अमृतधारा फार्मेसी के अधिष्ठाता वैद्य ठाकुरदत्तजी द्वारा मैं अपनी विद्वत्ता से सन्तुष्ट होने पर बार बार अनुरोध पूर्वक बुलाया गया था।

अनेकभाषाचञ्चुत्वं यूनान्यां वैद्यके गतिः ।
आस्तां "देशोपकारस्य" सम्पादन सहायके ॥ ३६ ॥

हिन्दी अंग्रेजी संस्कृत फारसी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञान तथा यूनानी आयुर्वैदिक व एलोपैथी आदि चिकित्सा पद्धतियों में पूर्ण गति ने "देशोपकार" नामक पत्र की सम्पादन कला में सहायता देते हुए मुझे वहां अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

उपसम्पादकत्वेन दाक्ष्यात् कार्यं समाचरन् ।
जलवाय्वोरसात्म्यात्तत् त्यक्त्वा स्वपुरमाययौ ॥ ३७ ॥

उप सम्पादक के तौर पर होशियारी से कार्य करता हुआ भी मैं जलवायु अनुकूल न होने से उस वृत्ति को छोड़ कर शीघ्र ही अपने घर आ गया।

नृपवर्येण मासान्ते एकं गश्त्यौषधालयम्।
मत्सहायेन संस्थाप्य, नेतृत्वन्तस्य मेऽर्पितम् ॥ ३८ ॥

महाराजाधिराज-महाराज श्री नाहरसिंह जी ने मेरे सहयोग से एक मास में ही गश्ती (चलता फिरता) औषधालय खोल कर उसका भार मुझ पर ही डाल दिया।

अत्रैशाब्द त्रयादूर्ध्वं सुभगाकन्यायाऽभवत्।
उत्तीर्णानेकप्रत्यूहो ममोद्वाहः सवैभवः ॥ ३९ ॥
वागूएड्या जोशिवंश्यस्य गोठ्याणाग्रामवासिनः।
सुपुत्र्या शिवनाथस्य पार्वत्योदात्तभावया ॥ ४० ॥

यहां शाहपुरा में ही लगभग तीन वर्ष के अनन्तर गोठ्याणा ग्राम निवासी वागूएड्या जोशी श्री स्योनाथ जी की सुशील सुन्दर कन्या पार्वती से अनेक विघ्न बाधाओं को पार कर धूम धाम के साथ मेरा विवाह हुआ।

मत्सौभाग्यमनिच्छन्तो बान्धवा वैरिणोऽभवन्।
आसँश्चतुर्दशाब्दांस्त उद्वाहान्मे विरोधिनः ॥ ४१ ॥

मेरे अभ्युदय को न चाहने वाले मेरे भाई बन्धु सदा वैरी ही रहे। विवाह काल से लेकर निरन्तर १४ वर्ष तक वे मेरे विरोधी बने रहे।
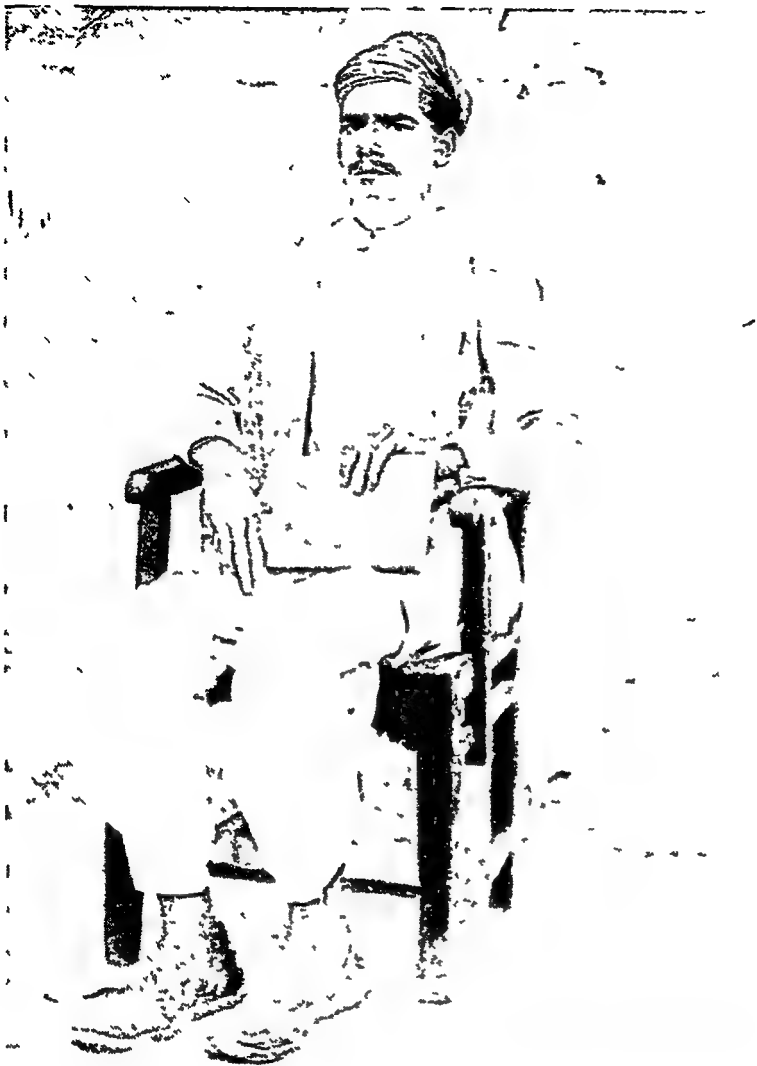
ग्रन्थकार : नवयौवनावस्था में (२१ वर्ष की आयु) शाहपुरा का जीवन काल

(इस समय धर्म एवं फारसी भाषा का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया गया था, जीवन नवीन मोड़ पर तीव्रगति से दौड़ रहा था)

विधाय सेवां पञ्चाब्दान् ततो मुक्तिमवाप्य च ।
स्वतन्त्रजीवनोद्देश्यश्चापानेरीं समाययौ ।। ४२ ।।

निरन्तर पांच वर्ष तक इस चलऔषधालय में रहते हुए जन सेवा कर मैं स्वतन्त्र जीवन विताने के उद्देश्य से उसे छोड़ कर चांपानेरी आ गया ।

भूपालैः ठाकुरैर्नित्यं लोकैरन्यैः प्रतिष्ठितैः ।
सम्मानितोऽवसं प्रेम्णा जन्म भूमौ सुखान्वितः ।। ४३ ।।

वहां के इस्तमरारदार ठाकुरों व अन्य प्रतिष्ठित प्रजाजनों से सम्मान पाता हुआ प्रेमपूर्वक "अपनी जन्मभूमि" में सुख से रहने लगा ।

तत्रैवाहं स्वकीयं हि घनश्यामौषधालयम् ।
स्थापयित्वा चिकित्सां च कर्तुमारब्धवान् गृहे ।। ४४ ।।

मैंने चांपानेरी में ही 'अपना घनश्याम-औषधालय' जमा कर घर में रह कर ही चिकित्सा करना आरम्भ किया ।

कष्टावधि समाप्तयन्ते वर्षे पञ्चदशान्तरे ।
श्री पितृव्यस्य कल्याण जिदोऽनुगतसंसदि * ।। ४५ ।।
ईश्वरेच्छाप्रभावेण मुदाप्तैर्बान्धवैस्सह ।
नव्य इवाभवत्तैर्मे सम्बन्धः स्नेहबन्धुरः ।। ४६ ।।

* यहाँ अनुगतसंसदि पद मौसर के अर्थ में ग्रन्थकार द्वारा नव प्रयुक्त है—"गतम् परलोकयातम्-अनु पश्चात् कृता या हि ससत्" इसका शब्दार्थ है ।

विवाह के १५ वें वर्ष के अनन्तर चांपानेरी में ही कष्ट-भोग की घड़ियों के निकल जाने पर दैवयोग से मेरे पितृव्य श्री कल्याणजी के मोसर में इकट्ठे हुए उन्हीं भाई बन्धुओं से भगवान् की इच्छा से प्रेम पूर्ण नवीन सा सम्बन्ध हुआ।

महासम्मेलनन्तत्र मयापि तदनन्तरम्।
घोषितं ज्ञातिवर्गेषु मातुः श्री जीवनोत्सवम् ॥ ४७ ॥

उसी अवसर पर मैंने भी अपने माताजी के "जीवित मौसर" की घोषणा चारों ओर अपनी जाति के भाई बन्धुओं में कर दी।

वेदभक्तिनिधीशाख्ये सवत्पौषे विधौ वदि।
दशम्यां वैभवाज्ज्ञातमपूर्वं घोषितं महः ॥ ४८ ॥

वह घोषित उत्सव सम्वत् १९९४ पौष कृष्णा दशमी सोमवार को बड़े ठाटबाट से मनाया गया जो सब प्रकार से अपूर्व था।

सिद्धिदमपरार्घ्यञ्चा पुनरावर्तिनन्तथा।
कालं जाने सदाऽनर्घ्यं तथा व्यवहरामि च ॥ ४९ ॥

मैं समय को सर्वत्र सर्व सिद्ध देने वाला, सर्व श्रेष्ठ, वापिस न लौटने वाला तथा अमूल्य समझता हूँ और सदा इसी भांति व्यवहार में भी लेता हूँ।

अहिफेन वशिभ्यस्तु मुक्तिदात् वरोपमः।
आविष्कृतो मया त्रैव योगोऽद्भुतगुणाकरः ॥ ५० ॥

यहीं पर मैंने अमल व्यसनियों को उनके व्यसन से मुक्ति

दिलाने वाले दैवी वर तुल्य अद्भुत गुण की खान अपने प्रसिद्ध योग अमल छुड़ावन गोलियो का अविष्कार किया।

ग्राम्यैरपि सुखोच्चार्यः प्रथितः स यथागुणम् ।
अमलछुडावनी नाम्ना ग्रामेग्रामे गृहेगृहे ।। ५१ ।।

अशिक्षित अल्प शिक्षित बन्धुओं से भी सुख पूर्वक ग्रहण किये जाने योग्य गुणानुकूल "अमल छुड़ावनी वटी' नाम से वह योग गॉव गाँव और घर घर में प्रसिद्ध हुआ।

सुदूरागतरुग्णानां सौविध्याद् विचारितम् ।
स्वगृहेऽजयमेरौ हि वासः साम्प्रति साम्प्रतम् ।। ५२ ।।

दूर से आने वाले रोगियो को होने वाली आवागमन सम्बन्धी असुविधा का विचार कर अब अपने घर अजमेर में ही रहना मैंने उपयुक्त समझा।

प्रागेव निर्मितान्यासन् गृहाणि क्रीत-भूमिपु ।
शाखापुरेऽजमेरीय आशागञ्जे मनोरमे ।। ५३ ।।

मैंने अजमेर के ही मनोरम उपनगर आशागञ्ज में अपनी खरीदी हुई भूमि पर पहले ही मकान बनवा रखा था।

आशारामस्तु भूस्वामी शिष्येपु मेऽधिकः प्रियः ।
तन्नाम्नैव नवा वस्तिराशागंजेति ख्यापिता ।। ५४ ।।

मेरे शिष्य वर्ग में मुझे ठाकुर आशाराम अधिक प्रिय होने से मैंने उस नवीन वस्ती का नामकरण भी उन्हीं की स्मृति की चिरस्थायिता के लिए किया।

वसुनागनिधिचन्द्राङ्के शुभे वैक्रमवत्सरे ।
ग्राहकान् सूचयन् सर्वानजमेरमधिष्ठितः ॥ ५५ ॥

सम्वत् १९८८ में मैं अपने समस्त ग्राहकों को सूचना देते हुए अजमेर जा बसा ।

आशागंजस्थितेनापि सद्म निर्मापित मया ।
आदर्शनगरे नव्यं नगरक्षोभवर्जितं ॥ ५६ ॥

आशागंज में रहते हुए भी मैंने नागरिक कोलाहल से वर्जित आदर्शनगर में एक नया भवन और बनवा लिया ।

प्राचीनगृहसन्त्यागे विचारोऽपि न मेऽभवत् ।
यद्यपि सदनपूर्त्या हृद्यां वास्तव्यतां ययौ ॥ ५७ ॥

आदर्शनगरस्थानां किन्तु प्रेक्षावतामिह ।
वासं चकार मित्राणामनुरोधात्पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

यद्यपि नवीन भवन पूर्ण हो कर आकर्षक निवास-स्थल बन गया था किन्तु अभी पुराने घर को छोड़ने का मेरा कोई विचार नहीं था पर आदर्शनगर निवासी अपने विद्वान् मित्रों के साग्रह अनुरोध से मैंने यहाँ रहना भी प्रारम्भ कर दिया ।

दाक्षिणेऽजयमेरोर्हि नसीराबादवर्त्मनि ।
स्थितो दिक्षु प्रसिद्धोऽस्ति, घनश्यामौषधालयः ॥ ५९ ॥

यह प्रसिद्ध भवन अजमेर के दक्षिण में नसीराबाद रोड पर है तथा चारों ओर घनश्याम-औषधालय नाम से प्रसिद्ध है ।

सर्वत्र प्रथिताद्‌योगादहिफेनापहारकात् ।
सार्धैकवर्षे विपुला सम्पत्सर्वविधाभवत् ॥ ६० ॥

बहवः कार्यकर्तारो भृत्याश्चैवानुजीविनः ।
'मोटरादिक' यानञ्च चतुर्दिक्प्रथितंयशः ॥ ६१ ॥

बहुत से कार्यकर्ता अनेक अनुजीवी चाकर "स्पेशल ब्यूक" मोटर की सवारी, चारों ओर फैली हुई ख्याति यह सभी प्रकार की उत्तम सम्पत्ति मुझे अपने प्रसिद्ध योग अमल छुड़ावनी वटी से केवल १॥ वर्ष में ही मिल गई।

आदितो दूषकानेव मन्येऽहं हितकारकान् ।
नमामि निन्दकान् चातः रूपान्तरगुरूनहम् ॥ ६२ ॥

मैं प्रारम्भ से ही निन्दकों को 'हितैषी' मानता रहा हूँ, उन्होंने मेरी त्रुटियां बता कर सुधारने का अवसर दिया। अतः वे एक-रूप से मेरे गुरु ही हुए इस कारण मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ—सदा आदर देता हूँ। जिनके कारण ही मेरी आज यह अवस्था है।

नमाम्यहं सुभावेन निन्दकान् दोष सूचकान् ।
दोषाणां शोधने सक्तान् दोषदृष्ट्या निरीक्षणात् ॥ ६३ ॥

दोष दृष्टि से देख कर-छोटे से छोटे दोष को भी पकड़ कर दृष्टिगत करने वाले, मेरे दोषों के सुधारकों निन्दकों को भी सुन्दर भाव से ही आदर देता हूँ।

नापवादात्तु भेतव्यं भेतव्यं वस्तुतश्च्युतेः ।
स्वीयोन्नयनकाले तु भवत्यापत्पदेपदे ॥ ६४ ॥

मनुष्य को चाहिये कि उन्नति काल में अपने विरोधी जनो

और मूर्खों के अपवादात्मक वचनों से न डरे परन्तु वस्तुतः अपनी गिरावट, अवनति, प्रमाद और गलती से ही डरे वरना अपने उन्नति काल में तो पग पग पर आपत्ति आती ही है।

रोचते ममवाक्कस्मै कस्मैचिद्वा न रोचते ।
हृदि मे तु भयन्नास्ति रोचते स्पष्टता हि मे ॥ ६५ ॥

मनो मे तुष्टिमायाति यदा स्पष्टं वदाम्यहम् ।
वैराद्वा न कुभावाद्वा स्वभावादेव केवलम् ॥ ६६ ॥

मुझे स्पष्टवादिता का गुण बहुत भाता है, मुझे यह तो डर ही नहीं है कि मेरी बात किसी को अच्छी लगती है या नहीं। मेरे मन को तभी सन्तोष मिलता है जब मैं "स्पष्ट बात" कह लेता हूं। ऐसा मैं किसी प्रकार की वैर भावना से या बुरी नियत से नहीं करता हूँ। केवल अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ही करता हूँ।

व्यवहारानभिज्ञोऽहं वदामि स्पष्टमेव हि ।
नैवास्ति मम वाण्यान्तु छलव्याजादिमेलनम् ॥ ६७ ॥

आज के लोग जिसे "व्यवहार" कहते हैं मैं उससे थोथा ही हूँ, मैं जो कुछ कहना चाहता हूं उस पर अवसरवादिता का मुलम्मा नहीं चाहता हूं, सीधे सादे रूप में स्पष्ट कह देता हूं। मेरी वाणी में छल कपट का मेल तनिक भी नहीं है। यदि मैं करना चाहूं तो भी छल कपट कर नहीं सकता हूं क्योंकि बोलते समय मेरे हृदय के भाव फौरन उद्गार बन निकल पड़ते हैं।

जानाति यो न भावम्मे छलव्याजौ च वाञ्छति ।
निकामं दुर्मना मे स्यात् न त्यजे स्पष्टवादिताम् ॥ ६८ ॥

मेरे भावों को न समझने वाला या छल कपट पसन्द करने वाला व्यक्ति मेरे व्यवहार से चाहे अप्रसन्न ही हो जावे मैं अपनी स्पष्टवादिता को नहीं छोड़ता हूं।

शिक्षको नाभवन्मेऽस्याम् न मे विद्याप्यधिकृता ।
स्पष्टव्यवहृतौ वाण्यां नियतिर्मे नियामिका ॥ ६९ ॥

इस विषय में न तो मेरा शिक्षक ही है और न कोई ग्रन्थ ही इसमें निर्देशक है। वाणी के स्पष्ट व्यवहार में मेरी प्रकृति (नियत) ही सदा सञ्चालन करती है।

न सहे दैनिके कार्ये क्रमभङ्गं मनागपि ।
क्रमभङ्गसहत्त्वं हि च्युतौ सोपानमादिमम् ॥ ७० ॥

भङ्गेऽपीह क्रमे जाते दुर्दैवादनपेक्षिते ।
शोकशल्यापविद्धम्मे पश्चात्तपति मानसम् ॥ ७१ ॥

मैं अपने दैनिक कार्यों में जरा सा भी क्रम भङ्ग नहीं सह सकता हूं। क्रम-भङ्ग करना और होने देना पतन का प्रथम सोपान है। कभी दुर्भाग्यवश अनपेक्षित भी क्रमभङ्ग हो जाने पर शोकशङ्कु से विंधे हुए हृदय से मैं पश्चात्ताप करता हूं।

प्रतिश्रुतस्य वाक्यस्यापेक्षे पूर्तिं करोमि च ।
ध्रुवो मे नियम एषः शल्यमेतत्सदाऽसताम् ॥ ७२ ॥

२

मैं प्रतिज्ञा किये हुए कार्य की पूर्ति (दूसरों से) चाहत हूं और स्वयं भी करता हूं। यह मेरा अटल सिद्धान्त है, यह असत् लोगों के लिये काँटा है, (क्योंकि वे किसी प्रकार प्रभाव में आकर प्रतिज्ञा तो कर लेते हैं पर पूरी कर नहीं पा हैं अतः नियमानुसार उन्हें कुछ कहा जाने पर बुरा मान लगते हैं)।

यथा वदति वाचा यस्तथा चेन्न करोति स ।
मनुजाद् दुर्हृदस्तस्मात् घृणा मे मनसि स्वतः ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य अपने मुख से कह कर भी यदि वैसा नहीं करत है तो ऐसे उस दुराशय मनुष्यों से मुझे स्वाभाविक घृणा है।

प्रियोऽहं सच्चरित्राणां सत्यमार्गैकमार्गिणाम् ।
निष्पक्ष तत्त्ववेत्तृणां श्रमाप्तगुणशोभिनाम् ॥ ७४ ॥

मैं अपने इसी गुण के कारण सच्चरित्र व्यक्तियों का सत्य मार्ग के पथिकों का, निष्पक्ष रूप में सत्यासत्य का विवेचन करने वाले तथा परिश्रम पूर्वक प्राप्त किये हुए गुणों से शोभ पाने वाले लोगों का प्रिय हूं।

शिष्यभावं समादाय जिज्ञासाभावतस्तथा ।
सद्भावेन विनत्या च पृच्छकायोत्तराम्यहम् ॥ ७५ ॥

मेरा स्वभाव है कि मैं चलते रस्ते ही किसी से कोई चर्च नहीं करता हूं। शिष्यभाव लेकर आने वाले सच्ची जिज्ञास रखने वाले सद्भाव व नम्रता वाले प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का ही उत्तर देता हूं।

मामाकाङ्क्षति दूरस्थो गुरुश्चेद् वृणितुन्नरः ।
लिखित्वा प्रेषयेच्छ्लोकं-सोपदं गुरुभावतः ॥ ७६ ॥

"श्रीमन् गुरु घनश्याम ! त्वमेव शरणम्मम ।
तनुश्चित्तं धनम्मेऽद्य त्वदर्थं हि समर्पितम्" ॥ ७७ ॥

यदि कोई दूर स्थित भी व्यक्ति मुझे गुरु बनाना चाहे तो वह श्रद्धा पूर्ण भावों से उपहार सहित निम्न लिखित श्लोक लिख कर भेजे " श्रीमन् गुरुदेव ! घनश्याम ! आप ही मेरे एक मात्र शरण हैं, मैंने अपना तन मन और धन आज आपके ही चरणों में न्यौछावर कर दिया है" ।

रमेशचन्द्रनामा मे पुत्रोऽनल्पगुणान्वितः ।
सुभाषी गुरुवश्यश्च चन्द्रवन्निर्मलः सुधीः ॥ ७८ ॥

रमेश चन्द्र नामक मेरा पुत्र सुभाषी है गुरुजनों का आज्ञा-कारी, चन्द्रमा की भांति निर्मल एवं सुबुद्धि है इस प्रकार वह सभी उत्तम गुणों से सम्पन्न है ।

केवलं वंशमूलम्मे रमेशस्तनुसम्भवः ।
दिनेशश्च महेशश्च पोत्रौ त्रिभगिनीयुतौ ॥ ७६ ॥

शकुन्तलाच सन्तोषा शारदा ता जनिक्रमात् ।
आभिजात्ये कलाकार्ये गार्हस्थ्ये च समाः समाः ॥ ८० ॥

मेरा पुत्र रमेश ही मेरे वंश का एक मात्र मूल है. दिनेश तथा महेश दो पौत्र हैं, शकुन्तला सन्तोषा शारदा ये सौन्दर्य ललित कला तथा गृहस्थ कार्यों में समान, तीन पौत्रियाँ हैं ।

गौर्वाल व्यासवंश्यस्य नागौरग्रामवासिनः ।
सुपुत्री बांजराजस्य, दत्ता मे सुगुणी स्नुषा ॥ ८१ ॥

नागौर ग्राम वासी गौर्वाल व्यास पण्डित बांजराजजी की कन्या सुगुणी मेरी चतुर पुत्रवधू है ।

सान्धोल्याग्रामवास्तव्यः सुश्रीरामदयालजित् ।
मन्यते पूर्वसम्बन्धात् सुगुणीं स्वसुतानिभाम् ॥ ८२ ॥

तत्सूनुस्तेजपालोऽपि भगिनीं सत्करोति हि ।
सहायोऽनेककार्येषु स्निग्धोऽस्माकमतीव सः ॥ ८३ ॥

सान्धोल्या ग्राम निवासी श्री रामदयालजी, जिनकी पुत्री का चि० रमेश के साथ वाग्दान मात्र हुआ था जो असमय ही काल कवलित हो गई, अपने इसी पुराने सम्बन्ध से सुगुणी को अपनी कन्या समझते हैं ।

उनके पुत्र श्री तेजपाल जी भी अपनी बहिन का पूरा सम्मान रखते हैं तथा अनेक कार्यों में हमारी सहायता करते हैं वे हमारे अत्यन्त ही प्रिय हैं ।

कल्याणः श्यालपुत्रो मे दक्षो लोककविः श्रुतः ।
शक्तो नम्रो हितैषी च गोठ्याणाग्रामग्रामणीः ॥ ८४ ॥

गोठ्याणा गॉव के सरपञ्च, लोक व्यवहार निपुण, जन्मजात लोककवि एवं मेरे साले के पुत्र, श्री कल्याणरायजी सदा मेरे हितैषी रहे हैं, ये नम्र और समर्थ व्यक्ति हैं ।

इमे गृहसदस्या मे सम्बन्धिनो गुणोत्तमाः ।
प्रार्थयामो महेशानं पुष्यन्तु च फलन्त्विति ॥ ८५ ॥

ग्रन्थकार के सुपुत्र वैद्य श्री रमेशचन्द्र शर्मा

मेरे घर के ये सदस्य तथा मेरे सम्बन्धी ये दोनों पिता पुत्र व कल्याणरायजी सदैव फलें फूलें। यही मेरी व मेरी पत्नी की भगवान् से प्रार्थना है।

स्वर्गीया नास्ति माता मे दर्शनाय च मेऽधुना।
चित्तेऽतोऽपि विरक्तिर्हि संजाता सुखिनोऽपि मे ॥ ८६ ॥

मेरी स्वर्गीय माताजी केवल हमारे बीच नहीं है, इससे सब कुछ सुख सामग्री होते हुए भी मेरे चित्त में वैराग्य सा उत्पन्न हो गया है।

यदाहं मातृवात्सल्यं सेवाभावप्रपूरितम्।
स्मरामि हृदयेऽनन्य तदानन्दोदयो भवेत् ॥ ८७ ॥

मातृहृत्प्रेमनिर्बाध प्रवाहोऽस्त्येव मादृशाम्।
अनन्त सौख्यसामग्री तथा सन्तोपशेवधिः ॥ ८८ ॥

मैं जब भी सेवा से पूर्ण एकनिष्ठा माता के वात्सल्य प्रेम को याद करता हूं उस समय मेरे हृदय में आनन्द की अनुभूति होने लगती है चाहे मैं किसी भी अवस्था में हूं।

मुझ जैसे व्यक्तियों को माता के हार्दिक प्रेम का प्रवाह अनन्त सुख सामग्री को देता है तथा मेरे लिये यह सन्तोप का खजाना है।

आयुषो मे व्यतीता हि सम्प्रति सप्ततिः समाः।
प्रवृत्तिर्निवृतिर्नित्यं भज्यते क्रमशोऽनया ॥ ८९ ॥

मेरी आयु के सत्तर वर्ष बीत चुके हैं, अब दिनों दिन उम्र

के आधिक्य से प्रवृतिमार्ग ध्वस्त होता जा रहा है (भञ्ज आमर्दने) और निवृत्ति मार्ग बनता जा रहा है (भज सेवायाम्)।

एकलः सर्वथा क्वापि यान्यहन्निर्जने वने ।
दृश्यते मानवो नैव रुवन्ति च पतत्रिणः ॥ ६० ॥

भवानीकृपया तत्र स्मरामि जननीं निजाम् ।
विनाश्य लौकिकान्बन्धान् वसानि मातृसन्निधौ ॥ ६१ ॥

मैं सर्वथा अकेला किसी निर्जन वन में चला जाऊं जहाँ राग-द्वेषादि की भावनाओं से घिरा मानव दिखाई भी न देता हो और पक्षी प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में कलरव करते हों। मैं चाहता हूं कि मैं वहां जाकर भगवती भवानी के अनुग्रह से अपनी माता को याद करूं तथा लौकिक बन्धनों को तोड़कर उनके निष्कपट वात्सल्यमय अङ्क में अबोध शिशु सा रहूं।

प्रवृत्तिर्योगमार्गेऽपि क्वचिन्मे हृदि वर्त्तते ।
स्थित्वा योगमठे ध्यानं संगं त्यक्त्वा करोम्यहम् ॥ ६२ ॥

कभी कभी योग मार्ग की ओर भी, स्वाभाविक प्रवृत्तिवश, अनायास ही आकृष्ट हो जाता हूं। उस समय सङ्ग त्यागकर योग मठ में जाकर ध्यान करता हूं।

भजामि शङ्करन्नित्यम् परमेश बाह्यतो न हि ।
करोमि तात्त्विकीं पूजा मान्तरिकीं विचारतः ॥ ६३ ॥

मैं मङ्गलमय भगवान् की सेवा करता हूं किन्तु बाह्य प्रकारों द्वारा स्थूल रूप से नहीं। मैं मानव की अन्तःप्रक्रिया में सत्संकल्पपूर्ण विचारों से तत्वचिन्तनमय पूजन करता हूं।

ग्रन्थकार : परिवार सहित

(कुर्सी पर स्वर्गीय स्नेहमयी माताजी, पीछे पुत्र व धर्मपत्नी सहित स्वयं ग्रन्थकार)

एकदा हृदि मे जातं दर्शनं परमात्मनः ।
कथितुं तन्न शक्नोमि अन्यथेव तदाभवम् ॥ ६४ ॥

व्यत्यासो मे स्वभावेऽपि तदाभूद्वर्तने तथा ।
एकान्तं रोचते मह्यमनासक्ताय संसृतौ ॥ ६५ ॥

एक बार मुझे अपने हृदय में परमात्मा के दर्शन हुए, उस अनुभव का मैं वर्णन नहीं कर सकता हूं, मैं उसके समय सर्वथा बदल सा गया। मेरे स्वभाव में तथा रहन सहन में भी परिवर्तन हो गया। संसार से अनासक्त मैं अब केवल एकान्त ही एकान्त चाहता हूं।

नृहितगीतगीतस्य लोकादुद्वेजितस्य च ।
विरक्तिभावा इत्थम्मे मनस्यायान्ति कर्हिचित् ॥ ६६ ॥

लोकहित की कामना से मैंने गीता लिखी है, अब मैं सांसारिक झगड़ों से ऊब चुका हूं। अतः इस प्रकार बतलाये गये विरक्ति के भाव मेरे मन में प्रायः उठते रहते हैं।

याचनार्थं घनश्यामः कवित्वन्न करोत्ययम् ।
करोतीष्टप्रकाशाय मनस्तुष्टयै हि केवलम् ॥ ६७ ॥

मैं घनश्याम धनप्राप्ति रूप भिक्षा के लिए कविकर्म में प्रवृत्त नहीं हुआ हूँ, केवल मात्र अपने अभीष्ट विषय के प्रकाशन एवं उससे सम्भव आत्मतुष्टि के लिए ही कविता कर रहा हूं।

घनश्यामस्य गीतेयं प्रवृत्ता स्वयमेव हि ।
नोचेन्मूढात्मनो मे का शक्तिः कवयितुं क्षमा ॥ ६८ ॥

यह घनश्याम गीता अन्तःकरण के स्रोत से स्वतः प्रवृत्त हुई है अन्यथा मुझ अज्ञ में कविता करने की शक्ति कहाँ? (अर्थात् मन में जैसे जैसे भाव उठते गये आन्तरिक प्रेरणा से मैं उन्हें सङ्कलित करता गया, प्रयासमूलक कवित्वकर्म की क्षमता मुझ में नहीं है)।

एकः श्लोकोऽपि नास्त्येव ग्रन्थे मे परकर्तृकः ।
स्वभावाद्रोचते मह्यं स्वकीया रचना सदा ॥ ९९ ॥

इस ग्रन्थ में अन्य रचित एक भी पद्य नहीं है, मेरा स्वभाव ही 'स्व' को पसन्द करता है इससे मुझे स्वकृत कार्यों में या स्वयं कार्य करने में आनन्द मिलता है।

भगवान् ज्ञानदातास्ति सुबुद्धेः प्रेरको हि सः ।
घनश्यामेन चाज्ञेन तत्प्रभावाद्विनिर्मिता ॥ १०० ॥

ज्ञान शक्ति का प्रदाता एक मात्र भगवान् ही है वही सुबुद्धि का प्रेरक है, उसी की कृपा के प्रभाव से मैं मूढ़ घनश्याम कुछ कर सका हूं।

घनश्यामेन गीतेयं निर्मिता चलता सदा ।
वर्त्मनि गृहकार्यार्थं भ्रमतेतस्ततोऽथवा ॥ १०१ ॥

यह गीता मैंने मार्ग में चलते चलते अथवा गृहसम्बन्धी कार्यों के लिए इधर उधर घूमते-फिरते ही रची है * ।

* (तत्काल विशिष्ट भाव को अङ्कित कर लेना एवं केवल इसी के पीछे न बैठे रहना इसके अनुभवों की योग्यता और ग्रन्थकार की कर्मठता का पूर्ण परिचायक है, कर्म क्षेत्र में निरन्तर कुछ न कुछ करते रहना तथा साधारण से साधारण बात में अनुभव की मुद्रा लगा देना गीता का उत्तम सन्देश है) सं०।

ग्रन्थकार

(गीता प्रकाशन समय की आयु ७२ वर्ष)

भवप्रत्यय योगेन ग्रथ्नामि ज्ञानशृङ्खलाम् ।
नैवाहं वस्तुतो योगी न चाभ्यस्ता मया क्रिया ॥ १०२ ॥

पूर्व जन्म के संस्कारों के योग से मैं यह ज्ञान लड़ी गूंथ रहा हूं । न तो मैं कोई योगी ही हूं और न योगियों के समीप मैंने इन क्रियाओं का कभी अभ्यास ही किया है ।

घनश्यामस्य गीतेयं वैषम्यस्य विनाशिनी ।
जनानामैक्यभावस्य सौहार्दस्य च पोषिका ॥ १०३ ॥

यह गीता अपने ग्रथित ज्ञान से लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कर उनके बीच असमानता की खाई को पाटने वाली, उनमें एकता को पैदा करने वाली तथा प्रेम भाव को पुष्ट करने वाली है ।

भावना मामकीनास्यां स्वमत्यैव प्रकाशिता ।
नरर्षभैः सदा कार्यं स्वविवेकतुलाहृतम् ॥ १०४ ॥

मैंने इस ग्रन्थ में अपनी भावनाएं अपनी बुद्धि के अनुसार प्रकट की हैं, श्रेष्ठ पुरुषों को सदैव अपने विवेक तराजू पर तोला हुआ ही कार्य करना चाहिए ।

इस गीता में मेरी भावनाएं पौनःपुनिक अनुशीलनमूलक संस्कारविशेष रूप स्थायीभाव अपनी ही बुद्धि के प्रावरण में लिपटी हुई अभिव्यक्त की गई हैं । अतः संस्कारग्रहण क्षमता एवं अभिव्यक्ति प्रकार से वे सर्व साधारण की दृष्टि से अटपटे कहे जाते हैं । नर पुङ्गवों से निवेदन है कि इसे विवेक तुला से तोलें तथा तदुचित गौरव प्रदान करें ।

अथवा ग्रन्थ में मेरी मति के अनुसार प्रकाशित इन भावनाओं का अध्ययन करें तथा स्वतन्त्रचेता महानुभाव अपने विवेक के आधार पर कार्य करें।

इस ग्रन्थ मे विविधशास्त्र सिद्धान्त तथा लौकिक अनुभवों के आधार पर निर्मित मेरी ही भावनाएं मैंने अपने तरीके से प्रकाशित की हैं श्रेष्ठ पुरुषों को अपने विवेक द्वारा सदसद् विचार कर प्रमाणित ही कार्य करना चाहिए और वही मैंने किया है।

भगवतो घनश्यामस्याऽत्र प्रगता नवा तथा।
ज्ञानन्नैश्रेयसं दद्यात् गीताधीता समन्वयात् ॥ १०५ ॥

इस जगत् में भगवान् घनश्याम की पुरानी श्रीमद्भगवत गीता तथा भगवान् के चैतन्यांश घनश्याम की नवीन तत्वखनि गीता, पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापनापूर्वक मनन से पढ़ी जाने पर उत्तम कोटि का पारलौकिक कल्याणसाधक ज्ञान प्रदान करती है।

अर्थात् श्रीमद्भगवद् गीता में तथा इस तत्वखनि गीता में संगति बिठा कर अध्ययन करने पर मनुष्य को पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

गीताज्ञानमतिश्रेष्ठ, विविधाडम्बरैर्हि किम्।
घनश्यामेन या गीता सैवेह दुःखभञ्जिका ॥ १०६ ॥

गीता का ज्ञान अत्यन्त श्रेष्ठ है, अतः मनुष्य इसी ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास करें, व्यर्थ के विविध विस्तारपूर्ण आडम्बरों

से क्या लाभ ? घनश्याम ने जो गीता लिखी है, यही यथार्थ में दुःख नाशक है * ।

मानवाः शतशः प्रायो घनश्यामेप्सवोऽभवन् ।
भविष्यन्त्युत्तरे काले–ऽप्यनेके स्वशुभेच्छुकाः ॥ १०७ ॥

अब तक प्रायः सैकड़ों मानव-घनश्याम को चाहने वाले हो चुके हैं और भविष्य काल में भी (जो अपने कल्याण की इच्छा रखते हैं) अनेक घनश्यामेच्छुक हो जायंगे—अर्थात् सैकड़ों इस घनश्याम के भी शिष्य हैं और अनेक अब हो जायंगे ।

दृष्ट्वा विविधशास्त्राणि स्वमत्या सुविचार्य च ।
घनश्यामेन गीतेयं गीता ज्ञानपिपासया ॥ १०८ ॥

विविध शास्त्रों को देख देख कर अपनी मति से उनका मनन कर उत्कट ज्ञान पिपासा के शमन के हेतु ही इस गीता का निर्माण किया गया ।

---

* ग्रन्थकार का यह विचार बिल्कुल युक्तियुक्त है, गीता अपने आप में पूर्ण एक विश्वविख्यात ग्रन्थ है जो मनुष्य को सन्मार्ग दिखाता है किन्तु इस पर आचार्यों और विद्वानों ने एकाङ्गी विचारधाराओं को लेकर भाष्यग्रन्थ लिखे हैं जो गीता के सार्वभौम अभिप्राय से दूर हैं, इसी दृष्टि से ये आडम्बर (व्यर्थ के फैलाव) हैं। घनश्याम गीता में आज के युग की विचारधाराओं का सन्निवेश है उन पर अपने विचार हैं तथा प्राचीन युग के मान्य सिद्धान्त व गीता का सार भी है, इस लिये एक मात्र इसका अध्ययन और आचरण ही मनुष्य के सम्पूर्ण दुःखों को दूर कर सकता है ।

नाहं जानामि वेदान्तं नैव योगन्न साधनम् ।
ध्यानं ज्ञानं विरक्तिञ्च यथाज्ञातन्निवेदितम् ॥ १०९ ॥

वेदान्त योग योगसाधन ध्यान ज्ञान वैराग्य आदि कुछ भी मुझे ज्ञान नहीं है, मैंने तो जो जैसे जाना, जितना पहलू जिस रूप में समझ में आया सेवा के रूप में निष्कपट रूप से प्रस्तुत कर दिया।

कवित्वन्नैवजानामि कोषं व्याकरणन्न च ।
विदुषां सङ्गतिर्नाप्ता धृष्टता क्षम्यतामियम् ॥ ११० ॥

कविकर्म का मुझे बिल्कुल ज्ञान नहीं है और न कोष व्याकरण ही जानता हूं, विद्वानों के सम्पर्क का सौभाग्य भी नहीं पा सका हूं। अतः अनधिकार चेष्टा रूप मेरी यह धृष्टता क्षमा करें।

इति श्री घनश्यामगीतायां तत्वखन्यामात्मनिवेदनन्नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥
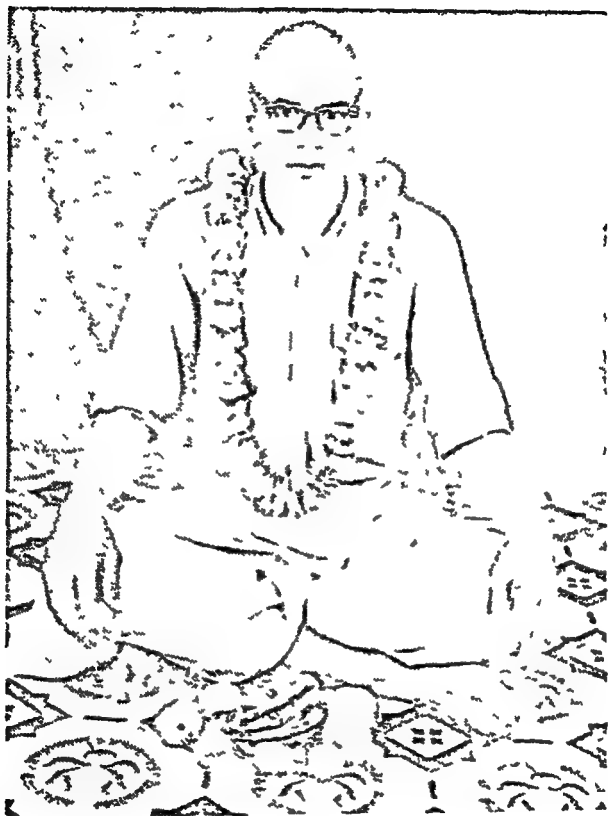
ग्रन्थकार के शिष्य-स्वामीजी श्री सन्तोषगिरीजी पर्य्यटक
(रूपचन्दजी लखारा चांपानेरी वाले) वर्त्तमान निवास स्थान
ग्राम—रघुनाथपुरा, सोदासपुरा, सागानेर आदि

अथ द्वितीयोऽध्यायः

आश्रमचतुष्टये

ब्रह्मचर्यम्

दुर्लभ्यः सर्वमुख्यश्च नृयोनिः सर्वयोनिषु ।
जघन्यो नास्ति तस्मात्तु व्यर्थन्नीतस्तु येन सः ॥ १ ॥

तत्पूर्णफललाभाय सीमिते जीवने ह्यतः ।
कृताश्रम व्यवस्थेय मृषिभिर्दिव्यदृष्टिभिः ॥ २ ॥

भगवान् की अनन्त सृष्टि की सभी योनियो में "मनुष्य-योनि" मुख्य है एवं अत्यन्त दुर्लभ है, जिसने इस मानव जीवन को प्रमादालस्य वश व्यर्थ ही खो दिया है उससे अधिक पापी आत्मघाती और कौन होगा ?

सीमित जीवन में ही इस मानवयोनि के मोक्षरूप पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए दिव्यदृष्टि ऋषियों ने आश्रमचतुष्टय की व्यवस्था की है।

ब्रह्मचर्यमिदं मुख्यं तदाश्रमचतुष्टये ।
इदमाधारभित्तिर्हि भव्यजीवनसन्ततेः ॥ ३ ॥

उस आश्रम-चतुष्टय में यह ब्रह्मचर्य ही मुख्य है। यही इस उत्तम-श्रेयःपूर्ण जीवन परम्परा की आधार भित्ति है।

यावन्न ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायार्थं श्रमो भवेत् ।
तावत्तत्त्वरहस्याप्ति रमूलपत्रसिञ्चनम् ॥ ४ ॥

जब तक ब्रह्मचर्य पूर्वक 'स्वाध्याय' के लिए श्रम नहीं किया जावेगा तब तक गुह्यतत्व प्राप्ति की आशा केवल पत्तों में पानी देना है।

नश्वराः प्राणिनो लोके तदाचारा न नश्वराः ।
गर्जन्ति हि सदाचारा अतीते जीवनेऽपि च ॥ ५ ॥

आचाराणां हि सर्वेषा मर्जने मूल मुत्तमम् ।
ब्रह्मचर्यमिति नात्र कस्यापि स्यान्तमद्वयम् ॥ ६ ॥

इस संसार में सभी देह धारी विनश्वर हैं किन्तु उनकी आचार-संहिताएं सदा स्थायी रहने वाली हैं। जीवन के समाप्त हो जाने पर भी आचार सर्वदा गरजते रहते हैं।

सभी आचारों के उपार्जन में सर्वोत्कृष्ट कारण ब्रह्मचर्य ही है इसमें किसी की भी दो राय नहीं हो सकती है।

आगामिसुखदुःखानां बुद्धिरेवादिकारणम् ।
वाञ्छति चेत्सुख कश्चित् यतेत बुद्धिशोधने ॥ ७ ॥

बुद्धि कार्यक्षमता का नाम है अतः भाविजीवन के सभी सुख दुःख बुद्धि के कारण ही होते हैं। यदि कोई सुख चाहता है तो बुद्धि का परिष्कार करे। अपनी बुद्धि को इस प्रकार के ढांचे में ढाले कि सभी नवीन परिस्थितियों के लिए उसकी क्षमता निर्बाध रहे।

ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य यादृशं बुद्धिशोधनम् ।
न भवेत्तादृशं लोके साधनानां शतैरपि ॥ ८ ॥

ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित मनुष्य की बुद्धि का जितना परिष्कार होता है उतना और वैसा अन्य सैकड़ों साधनों से भी नहीं होता है।

बाल्यावस्थार्जितोऽभ्यासो नेतास्ति देहिनां ध्रुवम् ।
अन्तिमश्वासपर्यन्तं विकासत्वं प्रयाति च ॥ ९ ॥

बाल्यावस्था में अर्जित अभ्यास ही मनुष्यों का सच्चा सञ्चालक है जो अभ्यास अन्तिम श्वांस तक विकसित होता रहता है।

संयम की आवश्यकता सम्पूर्ण जीवन में है और इसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य से ही होती है।

सुखेप्सुना क्रियाः सर्वाः कर्तव्या नियमेन वै ।
नियमान्नियतं तासां भविष्यन्ति फलान्यपि ॥ १० ॥

सुखाभिलाषी व्यक्ति को अपने समस्त कार्यकलाप नियमपूर्वक ही करने चाहिए तभी उनके फल भी नियमानुसार निश्चित ही होंगे।

सुदीर्घकालपर्यन्तं ब्रह्मचर्ये स्थितो नरः ।
आहारव्यवहारादौ दृढः सुन्तुलितो भवेत् ॥ ११ ॥

अपनी आयु के एक बहुत बड़े भाग तक ब्रह्मचर्यावस्था में स्थित मनुष्य अपने आहार-व्यवहार में पूर्णतया सन्तुलित हो जाता है। उसका यह अर्जित अभ्यास (एक्वायर्ड हैबिट्स)

जन्य सन्तुलन जीवन का एक अङ्ग बनकर आमरण स्थायी रहता है।

उद्गतिः स्थिरता धैर्यं सन्तोषो दृढभावना।
प्राप्यन्ते येन मोक्षोऽपि ब्रह्मचर्यन्तदेकलम् ॥ १२॥

ब्रह्मचर्य ही एक मात्र वह अर्जित गुण है जिससे जीवन में प्रगति स्थिरता धीरज, सन्तोष, दृढ़विचारशीलता यहां तक कि मोक्ष की भी प्राप्ति सुगम हो जाती है।

योगादि मार्गों में भी यम नियमादि सोपानों मे ब्रह्मचर्य की ही प्रधानता है उसके बिना स्थिरता आदि गुण सम्भव ही नहीं है।

रेतः प्राणा बलं रेतो जीयेत रेतसा मृतिः।
सुपक्केनैव वीर्येण तनौ प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ १३॥

वीर्य ही प्राण है बल भी वीर्य ही है। शुक्र से ही मनुष्य का जीवन क्रम है इसी से उसकी मृत्यु है। सुपक्क वीर्य के जरिये ही प्राण शरीर में सुन्दर रूप से प्रतिष्ठित होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव से विकारग्रस्त जर्जर शरीर में प्राण भी निर्बल अवस्था में होते हुए, नहीं से मालूम देते हैं।

रेतसस्तु शरीरेऽस्मिन् पाचनं परमन्तपः।
ब्रह्मचर्यन्तदुत्कृष्टं तेनामृतत्वमाप्यते ॥ १४॥

इस शरीर में शुक्र का पाचन (विलीन रग रग में जज्ब कर लेना) ही उत्तम तपस्या है, यही उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य है, इसी से अमृत तत्व की प्राप्ति होती है।

प्राणावस्थितिमार्गस्तु ब्रह्मचर्यमनुत्तमः ।
तिष्ठन्त्यविकृते देहे प्राणा नित्यमचंचलाः ॥ १५ ॥

शरीर में प्राणों को टिकाये रखने का एक मात्र उपाय उत्तम ब्रह्मचर्य ही है। किसी भी प्रकार की विकृति से वर्जित स्वस्थ देह में प्राण सदा निश्चल अवस्था में रहते हैं। ऐसे शरीर में प्राणों की अवस्था कभी भी 'अब तब' नहीं होती है।

मनसो भावजं शुक्रं शुक्राधीनञ्च जीवनम् ।
सप्रयासं मनः शुक्रे रक्षणीये नरैः सदा ॥ १६ ॥

मानसिक भावों के अनुकूल ही सबल या निर्बल शुक्र की उत्पत्ति होती है और जीवन इसी शुक्र के अधीन है। अतः पुरुषों को सदैव प्रयास पूर्वक मन और शुक्र की, विरोधी तत्वो से दूषित होने से रक्षा करनी चाहिए।

वीर्य्यस्य रक्षणादेव शरीरं रक्षितो भवेत् ।
शुक्रं हि सप्तधातूनां देहे सारोहि वर्त्तते ॥ १७ ॥

वीर्य की रक्षा से ही शरीर की रक्षा होती है क्योंकि शरीर में सातों धातुओं का एक मात्र सार वीर्य ही है।

ब्रह्मचर्य्यप्रभावेण यथेच्छं सयमी जनः ।
प्राप्नुयादायुषो दैर्घ्यं शुक्रायत्त हि जीवनम् ॥ १८ ॥

संयमी पुरुष ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनमानी आयुवृद्धि कर सकते हैं क्योंकि जीवन शुक्र के ही वशीभूत होता है।

शरीरे सञ्चितं शुक्रमोजसि परिवर्त्तितम् ।
सर्वचेष्टासु वैचित्र्यं ददाति च प्रकाशते ॥ १९ ॥

शरीर में एकत्रित शुक्र 'ओज' के रूप में बदला हुआ सभी प्रकार की चेष्टाओं में लोकोत्तरता प्रदान करता है तथा शरीर को दीप्तिमान् "प्रकाशित" बनाता है।

ओजस्वी व्यक्ति की बोलचाल आदि सभी प्रकार की चेष्टाएँ अनन्यसाधारण विलक्षणता लिये हुए होती हैं एवं वह व्यक्ति तेजोविशेष से दमकता है।

शक्तिं सहिष्णुतां विद्यां धृतिं शुद्धिं मनो जयम् ।
मानवः प्राप्नुयादेतान् ब्रह्मचर्य्यस्य साधनात् ॥ २० ॥

कार्यसाधक दैहिक व आत्मिक सामर्थ्य, सहनशीलता, विद्या, धीरज, पवित्रता और मनोनिग्रह इन गुणों को मनुष्य ब्रह्मचर्य की साधना से सहज ही पा लेता है।

पूर्णेन ब्रह्मचर्येण मनीषा सुस्थिरा भवेत् ।
विचाराः स्थिरबुद्धेर्हि भवन्ति कार्यसाधकाः ॥ २१ ॥

अखण्ड-ब्रह्मचर्य-साधना से मनुष्य की मनीषा पूर्ण स्थिर हो जाती है। स्थिर बुद्धि व्यक्ति के विचार ही कार्यसिद्धि में समर्थ होते हैं।

ब्रह्मचर्यं विना देहे मनः स्थैर्यं भवेत् कुतः ।
मनस्थैर्यं विना सिद्धिः क किं केनापि लभ्यते ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्य विना मन का स्थिर होना कठिन है और मन के स्थिर हुए विना क्या कभी किसी ने कहीं सिद्धि पाई है?

ब्रह्मचर्यं विना योगः समाधिर्वा भवेन्नहि ।
सर्वोच्चकर्म्मणां सिद्धिं र्ब्रह्मचर्यं विना कुतः ॥ २३ ॥

ब्रह्मचर्य के विना योग (चित्तवृत्ति का निरोध) और समाधि में सफलता नहीं मिल सकती है। सभी प्रकार के उच्च कर्मों में सफलता की प्राप्ति ब्रह्मचर्य के विना कहां सम्भव है?

स्वस्थताऽस्वार्थता तोपो ब्रह्मचर्यं सहिष्णुता।
त्यागोऽसङ्कीर्णता चैव गुणाश्चित्तप्रसादकाः ॥ २४ ॥

आरोग्य, निःस्वार्थ वृत्ति, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, सहनशीलता, त्याग और उदारता ये सभी गुण मनुष्य के चित्त को प्रसन्नता प्रदान करते हैं।

वरोऽन्यः संयमाल्लोके संयमो मुखशिश्नयोः।
उत्कृष्टो येन ह्यन्येषां सयमः प्राप्यते जनैः ॥ २५ ॥

अन्य प्रकार के विविध संयमों से मुख और लिङ्ग का संयम ही सब से बड़ा संयम है, जिससे दूसरे प्रकार के संयमों की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है।

मुख से मतलब वाणी से है और वाणी का अर्थ वागिन्द्रिय से निष्पन्न कार्य जो खाने पीने और बोलने से सम्बन्धित है, यदि आदमी चटखोरेपन पर विजय पाले तो जीवनयात्रा के पाथेय में से एक की समस्या तो हल हो जाती ही है, दूसरी समस्या तूं तूं मैं मैं की भी इसी के अन्तर्गत आ जाती है। शिश्न का संयम व्यभिचार एवं सम्भोग की अधिकता पर नियन्त्रण करना है इस प्रकार आज के राष्ट्रीय जीवन में घूँस आदि के व यौन सम्बन्धी भ्रष्टाचारों के निरोध के लिए यही संयम अपेक्षित है।

ब्रह्मवेदस्तपोब्रह्म मोक्षश्च ब्रह्म कथ्यते।
तल्लक्ष्य साधना चर्या ब्रह्मचर्यमितीरितम् ॥ २६ ॥

वेद को ब्रह्म कहते हैं तप भी ब्रह्म है और मोक्ष भी ब्रह्म है अतः मोक्षालक्ष्य मूल ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया गया तप ही ब्रह्मचर्य है। "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" (ज्ञान के विना मोक्ष नहीं मिलता है) यह प्रसिद्ध है ही और ज्ञान की प्राप्ति वेद से सम्भव है, वेदाध्ययन एक साधना या तप ही है, इस प्रकार ब्रह्मचर्य वेद के लिए की जाने वाली साधना है।

न भवेद् देहसंश्लेपश्चिन्तनं मनसापि न।
योपाभिश्च कुभावानां ब्रह्मचर्यन्तदा भवेत् ॥ २७॥

स्त्रियों के साथ शरीर का स्पर्श मात्र भी न हो तथा उनके प्रति मन में बुरी भावनाओं का चिन्तन न हो यही ब्रह्मचर्य है।

सङ्गत्या मनसा वाचा मैथुनं यः परित्यजेत्।
नियमेनाचरेन्नित्यं ब्रह्मचारी स एव हि ॥ २८ ॥

जो सङ्गति मैथुन (सम्भोग) मनो मैथुन (मन में कुभावना पूर्ण विचार मय सम्भोग) तथा वाङ् मैथुन (मुख से अश्लील शब्द कह कर सम्भोगात्मक इच्छा प्रकट करना) बिल्कुल छोड़ दे तथा निश्चित ढङ्ग पर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करे वही ब्रह्मचारी है।

यस्य ब्रह्माभिधे वीर्ये कम्पनं नैव विद्यते।
तेनैव प्राप्यते ब्रह्म ब्रह्मचारी स एव हि ॥ २९ ॥

जिसके ब्रह्म अर्थात् वीर्य में असंयम से होने वाला किसी भी प्रकार का विकारपूर्ण कम्पन न हो वही ब्रह्म (वेदज्ञान और परमात्मा स्वरूप) की प्राप्ति करता है और वास्तविक ब्रह्मचारी है।

यावान् प्रारम्भिको भागो ब्रह्मचर्याय दीयते ।
तावदेवाप्नुयाद् दैर्घ्य मायुषोऽविकृतन्नरः ।। २० ।।

मनुष्य अपने जीवन का जीतना प्रारम्भिक भाग ब्रह्मचर्य अवस्था में विताता है वह उतना ही अधिक दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्त करता है ।

ब्रह्मचर्य द्विधा प्रोक्तं शारीरं मानसं तथा ।
देह साध्यन्तु शारीरं मनः साध्यञ्च मानसम् ।। ३१ ।।

स्वरूप भेद से ब्रह्मचर्य दो प्रकार का होता है १ शरीर तथा २ मानस, शारीर से किया जाने वाला शारीर कहलाता है तथा मन से पालन किये जाने वाला मानस कहलाता है । इन्हें ही वाह्य और आन्तर तथा परोक्ष व साक्षात् भी कह सकते हैं ।

क्रियानिवृत्ति नामान्त्य मैथुनेन विनाखिलाः ।
सप्तापि मानसानि स्युः सङ्कल्पादि क्रिया इह ।। ३२ ।।

प्राचीन शास्त्रकारों ने मैथुन के (१ स्मरण २ कीर्तन ३ केलि ४ प्रेक्षण ५ गुह्यभाषण ६ संकल्प ७ अध्यवसाय तथा ८ क्रिया निवृत्ति) आठ प्रकार माने हैं, इनमें अन्तिम क्रिया निवृत्ति (सम्भोग) मैथुन के अलावा शेष सब मैथुन 'मानसिक प्रक्रिया' मात्र हैं, इनमें साक्षात् मैथुन की तीव्र लालसा रहती है जो अपना "पश्चात्-प्रभाव" छोड़कर मन पर हमेशा के लिए दूषित छाप अङ्कित कर देती है । अतः—

सप्तानां सर्वथा त्यागो जागर्तौ शयने तथा ।
मानसं ब्रह्मचर्यन्तन्मनः साध्यमितीरितम् ।। ३३ ।।

जाग्रत अवस्था में तथा शयनावस्था में तथा सचेतन और अर्धचेतन या अवचेतन (कान्शयस व अन् कांश्यस) अवस्था में इन सातों प्रकार के मैथुनों का सर्वथा परित्याग कर देना ही मानस ब्रह्मचर्य है जो पूर्णतया मन द्वारा साध्य है।

प्रत्यक्षं नारीसम्भोगः शुक्रच्यवनमूलकम् ।
क्रियानिवृत्तिनामान्त्यं शारीर मैथुनम्मतम् ॥ ३४ ॥

शारीरमैथुनत्यागादखण्ड शुक्रधारणम् ।
ब्रह्मचर्यमदो बाह्यं जरारोगादि नाशकम् ॥ ३५ ॥

वीर्य को स्खलित करने वाला, स्त्री से किया गया सम्भोग ही 'क्रिया निवृत्ति' मैथुन कहलाता है यही शारीरिक मैथुन है। शारीरिक मैथुन के त्यागने से वीर्य की अखण्ड प्राप्ति होती है यही बाह्य ब्रह्मचर्य जरा रोग आदि का नाशक है।

चिन्तयेन्मनसाद्यो वाचया तद्वदेत्तथा ।
कुर्याच्चापि तदा लोकैः शुद्धात्मेति स कथ्यते ॥ ३६ ॥

शुद्धात्ममानसे पापं प्रसारन्नाधिगच्छति ।
निश्छलं ब्रह्मचर्यस्य पालनं तत्कृत भवेत् ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य जैसा मन में विचारता है वैसा ही अपने मुख से कहता है तथा व्यवहार में करता भी है तो वह 'शुद्धात्मा' कहलाता है।

'शुद्धात्मा' मनुष्य के मन में पाप फैलने ही नहीं पाता है ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया ब्रह्मचर्य का पालन सर्वथा पूर्ण व निश्छल होता है।

जिस मनुष्य के स्वभाव में ही एक सा विचारना कहना व करना रम गया है उससे इसके विपरीत आचरण ही कैसे हो सकता है ? ऐसे व्यक्ति के मन में यदि पाप पूर्ण भाव का उदय भी हुआ तो वह उसे गुप्त रखकर या अन्यथा रूप में प्रकाशित कर बढ़ावा नहीं देगा बल्कि उसे जड़मूल से नष्ट कर प्रायश्चित करेगा और सब के सामने उसे प्रकाशित करेगा तभी उसे शान्ति मिलेगी।

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय बाह्याभ्यन्तरतः शुचिः ।
स्वेष्टध्यानं बटुः कुर्या न्नित्य निश्चलमानसः ॥ ३८ ॥

ब्राह्म मुहूर्त की अमृतमय वेला में उठकर शौच दन्तधावन स्नानादि द्वारा शारीरिक-शुद्धि करके तथा मार्जन अघमर्षण सत् संकल्पादि से पूर्ण सन्ध्या की प्रक्रिया द्वारा आन्तरिक शुद्धि करके ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) निश्चल मन से अपने 'इष्ट-देवता'का ध्यान एवं पूजन करे।

साधना पथ पर बढ़े हुए साधक को परमात्मा की उपासना से बल मिलता है तथा शौचाचार वगैरह मन को पवित्र करते हैं। अतः इस विषय में कभी प्रमाद न करे।

गात्र पुष्टि करो नित्य बद्धकोष्ठादि नाशकः ।
उत्तेजनाहरश्चैव व्यायामो ब्रह्मचारिणाम् ॥ ३९ ॥

व्यायाम ब्रह्मचारी के शरीर को पुष्ट करता है, उसकी कब्ज आदि को दूर कर स्फूर्ति देता है, गुप्ताङ्गों पर एवं मन पर पड़ने वाले उत्तेजना के भावों को दूर करता है।

कब्ज आदि से गुप्ताङ्गों पर दबाव पड़ता है और व्यायाम कब्ज को रहने ही नहीं देता है, वीर्यरक्षा के लिये शरीर का

पुष्ट होना आवश्यक है, व्यायाम इस में ब्रह्मचारी की सहायता करता है।

प्रसाधनं शरीरस्य नैव हानिकरं मतम् ।
वासनोत्तेजकन्तत्तु व्यवहार्यन्न केवलम् ॥ ४० ॥

शरीर को सजाना बुरा नहीं है, ब्रह्मचारी भी अपने शरीर को स्वच्छ और संवारा हुआ रखें उसकी साज सज्जा वासना को उत्तेजना देने वाली नहीं होनी चाहिये इसलिये यह उत्तेजक शृङ्गार उसके व्ययवहार में लाने की वस्तु नहीं है।

गाढनिर्मलवासोभिश्छादितं निर्मलं वपुः ।
सहायकं भवेन्नित्यं ब्रह्मचर्यस्य साधने ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचर्य के साधने में निर्मल शरीर तथा रेजी या खादी का मोटा व निर्मल वस्त्र सहायक होते हैं।

गन्दा शरीर खुजली आदि रोगों से आक्रान्त होजाता है, मैल से गुप्ताङ्गों में उत्तेजना पैदा होती है मन पर अवसाद (उदासभाव) छाया रहता है। महीन वस्त्र विलासिता के भाव पैदा करता है सादगी से दूर हटाता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी को मोटा पहिनना और साफ सुथरा रहना आवश्यक हो जाता है।

शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वानान्न वशे भवेत् ।
एतादृशो दृढाभ्यासो ब्रह्मचर्ये सहायकः ॥ ४२ ॥

शीतोष्ण (सर्दी गर्मी) सुख दुःख आदि द्वन्द्वों के वश में न रहे अपितु उन्हें वश में रखने का प्रयास करे इस प्रकार का

दृढ़ अभ्यास साधक को विलासिता से दूर रखते हुए ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्ति में सहायक होता है।

मातपित्रोगुरोश्चापि माननीयस्य वा पुनः ।
आज्ञानां पालनं भद्रं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥ ४३ ॥

माता, पिता, गुरु अथवा किसी भी महापुरुष की आज्ञाओं का पालन करना कल्याणकारक है तथा भुक्ति (इहलौकिक सुख) मुक्ति (पारलौकिक सुख) की प्राप्ति करने वाला है।

भवन्त्यन्नान्मनः प्राणा बुद्धि र्देहश्च प्राणिनाम् ।
मनोविकृतिनाशार्थमन्नशुद्धिर्गरीयसी ॥ ४४ ॥

मद्यं मांस रसोनञ्च तामस सहभोजनम् ।
ब्रह्मचारी त्यजेन्नित्यं व्रतं कुर्याद्यदा कदा ॥ ४५ ॥

अन्न से ही प्राणि मात्र के मन, प्राण, बुद्धि और शरीर का निर्माण होता है। अतः मन को विकारों से मुक्त करने के लिये अन्नशुद्धि की महती आवश्यकता है।

ब्रह्मचारी को मद्य, मांस, लशुन, तमोगुण युक्त पदार्थ एवं सहभोजन का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए एवं कभी २ व्रती (निराहार) भी रहना चाहिये।

प्रदेशः कोऽपि संसारे रिक्तो न स्यादयं विधिः ।
एकेन रिच्यते चेत्सः केनाप्यन्येन पूर्यते ॥ ४६ ॥

संसार में कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकता यह प्राकृतिक नियम है यदि किसी के द्वारा कोई स्थान रिक्त किया जाय तो उसकी किसी अन्य के द्वारा पूर्ति होजाती है।

कदापि प्राणिनां चित्तं सङ्कल्परहितं न हि ।
गुणा ग्राह्याः सदा तस्मात् विशेषुर्नैव दुर्गुणाः ॥ ४७ ॥

प्राणिमात्र का मन कभी भी संकल्प रहित (विचार परम्परा से शून्य) नहीं होता है अतः मन से सदैव गुणों का ही ग्रहण करना चाहिये जिससे दुर्गुणों का समावेश न हो सके ।

निरीक्षणन्तु नारीणां ताभिर्हसनभाषणे ।
प्रायशो वर्त्तनं तासु कामुकस्य हि लक्षणम् ॥ ४८ ॥

स्त्रियों को एक टक देखना उनके साथ हंसना बोलना तथा अधिकतर उनके बीच में रहना कामुक पुरुष की पहिचान है ।

मैथुनेऽष्टविधे सन्ति सङ्कल्पः स्मृति कीर्तने ।
तुरीयाध्यवसायश्च क्रिया मानसमाश्रिताः ॥ ४९ ॥

प्रवृत्तिम्मानसीन्त्यक्त्वा प्रवृत्तिर्दैहिका कुतः ।
अतः सर्वप्रयत्नेन रोधव्या मानसी क्रिया ॥ ५० ॥

आठ प्रकार के मैथुन में सङ्कल्प स्मृति कीर्तन और चौथा अध्यवसाय ये चारों मैथुन पूर्ण मानसी क्रिया पर आश्रित हैं (इनका सम्बन्ध मन से) है मन की प्रवृति के बिना शारीरिक प्रवृति कहां से होगी ? अतः पूरे प्रयास के साथ मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण करना चाहिए ।

स्त्रीमात्रं मातृरूपेण द्रष्टव्यं ब्रह्मचारिणा ।
दुर्भावो हृदि नानेयो वन्दनीयं यतात्मना ॥ ५१ ॥

ब्रह्मचारी प्रत्येक स्त्री को, यदि देखना पड़े तो, माता के रूप

में देखें, अपने आपको नियन्त्रण में रखकर उनकी मातृ रूप में वन्दना करे।

चेतो यदि निमग्नं स्यात् वस्तुनि विषयेऽथवा।
प्रत्याहारस्ततस्तस्य दुष्करं मन्यते मया ॥ ५२ ॥

यदि मन किसी बात में या विषय और पदार्थ में एक बार भी रम गया तो फिर उससे उसको हटाना मैं अत्यन्त कठिन समझता हूं।

लौकिकसौख्यभोगेषु नारीणाञ्च कलेवरे।
दोषबुद्धिर्मनोरक्षेत् लौकिक भोगतर्पतः ॥ ५३ ॥

सांसारिक विषय वासना तथा सुखों के भोग में एवं स्त्री के शरीर में दोषों को देखने की प्रवृत्ति ब्रह्मचारी के मन को भोगों की तृष्णा के फन्द में पड़ने से बचाती है।

नारी के रूप के पीछे इस प्रकार की भावना से हाड़ मांस की मैली ठठरी देखना संयमी पुरुषों के लिये सभी शास्त्रकारों का मार्ग दर्शन है, इस में नारी के रूप को विकृत नहीं किया गया है किन्तु तथ्य का प्रदर्शन किया गया है। वह भी परिस्थिति विशेष के लिये।

चित्ते विकारवेलायां सत्सङ्गं व्रजेन्नरः ।
कुभावाः प्रशमं यान्ति सतां सङ्गो हि भेषजम् ।५४॥

चित्त में विकार पूर्ण भाव पैदा होने पर पुरुष सज्जनों का सहारा ले, सत्संग से बुरे भाव शान्त हो जाते हैं, सज्जनों की सङ्गति वस्तुतः एक उत्तम दवा है।

वन्यानां सिंहनागानां पालनं सुकरं भवेत् ।
क्रीडनं कृष्णसर्पेण ज्वलिताग्नौ गतिस्तथा ॥ ५५ ॥

जङ्गली सिंह, हाथी आदि हिंस्र पशुओं को पालना सरल है। काले सांप से खेलना तथा जलती आग पर चलना भी कठिन नहीं है।

सुकरं भक्षणं वह्नेः शोषणञ्च पयोनिधेः ।
उत्क्षेपणञ्च हेमाद्रेरिन्द्रादीनां जयोऽपि च ॥ ५६ ॥

आग को खाना तथा समुद्र को सुखाना, सुमेरु पर्वत का उठा फेंकना, इन्द्रादि देवों को जीतना सरल है।

जानामि क्लेशदानेतान् साधितुं सुकरं परम् ।
कन्दर्प दर्पनाशस्तु शङ्केऽहं भुवि दुष्करः ॥ ५७ ॥

ये सब दुःखकर कार्य हैं मैं जानता हूं फिर भी इन्हें सुकर मानता हूं किन्तु कामदेव के दर्प का नाश करना, उसे वश में करना मैं सोचता हूं, पृथ्वी पर मुश्किल ही है।

ब्रह्मचर्यं महाक्लिष्टं सौकर्येण न सिद्ध्यति ।
संयमेनेन्द्रियग्राम निग्रहेणैव साध्यते ॥ ५८ ॥

ब्रह्मचर्य अत्यन्त कठिन है, जो सरलता से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यह तो संयम से व इन्द्रिय समुदाय को वश में रखने से ही किया जा सकता है।

उपदेशश्च शिक्षा च विदुषां हितकारिणाम् ।
श्रोतव्ये व्यवहर्तव्ये वृद्धलोकानुगामिनाम् ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये अपने हितैषी गुरु वर्ग या विद्वानों की शिक्षा तथा बड़े बूढ़ों का अनुसरण करने वाले अनुभवी लोगों की शिक्षा व आदेश सुने तथा उन पर चले।

चलचित्रं दूषितन्नाट्यं पश्येन्नैव मनागपि ।
पठेन्नाश्लीलसाहित्यं ब्रह्मचर्यान्तरायकृत् ।। ६० ।।

गन्दे नाटक व सिनेमा कभी नहीं देखे। ब्रह्मचर्य में विघ्न डालने वाला अश्लील, कुरुचि पूर्ण साहित्य नहीं पढ़े।

धनधर्मशरीरेभ्यः कृतान्तदूतसन्निभम् ।
धूम्रपान सदा त्याज्यं ब्रह्मचर्यविघातकम् ।। ६१ ।।

धन धर्म और शरीर के लिये यमदूत के समान, ब्रह्मचर्य के नाशक, धूम्रपान को ब्रह्मचारी सर्वथा छोड़ दे।

अचिकित्स्यो महादुष्टो भीष्मः कुसङ्गतिज्वरः ।
एतत्कीटाणुभिर्दूरं ब्रह्मचारी सदा वसेत् ।। ६२ ।।

कुसंगति एक लाइलाज बहुत बुरी भयंकर बीमारी है। ब्रह्मचारी इस रोग के कीटाणु (बुरे लोगों) से सदा दूर रहे।

पूतभावैः सदा शुद्धे सर्वथा शान्तमन्दिरे ।
क्षालितपाणिपादोऽसौ नियमादेकलः स्वपेत् ।।।। ६३ ।।

सदा पवित्र भावनाओं से शुद्ध, पूर्णतया शान्त (क्षोभ वर्जित) भवन में अकेला ही नित्य नियम के अनुसार नियत समय पर हाथ पैर धोकर शयन करे।

समष्टि व्यष्टिरूपेण सम्प्रति साम्प्रतं खलु ।
ब्रह्मचर्यप्रचारस्तु पतनोन्मुखभारते ॥ ६४ ॥

आज इस पतनोन्मुख भारत में व्यक्तिगत रूप से और सामुदायिक रूप से ब्रह्मचर्य पालन के लिए शिक्षा के प्रचार की आवश्यकता है ।

सत्यं देशोन्नतिर्भूयात् यदत्र मानवाः समे ।
हनुमद् भीष्म तुल्याः स्युः ब्रह्मचर्यपथप्रियाः ॥ ६५ ॥

हमारे देश की वास्तविक उन्नति तभी सम्भव है जब यहाँ के सभी मानव हनुमानजी व भीष्म पितामह के तुल्य ब्रह्मचर्य प्रिय हों ।

इति श्री घनश्यामगीतायां तत्त्वखन्यामाश्रमचतुष्टये
ब्रह्मचर्यवर्णनन्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

आश्रमचतुष्टये

गृहस्थाश्रमः

शिक्षितो दीक्षितः पूर्णः लब्धवृत्तिः सुमानवः ।
संसारक्रमरक्षायै गृहस्थाश्रममाश्रयेत् ॥ १ ॥

मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य कालतक शिक्षा प्राप्त कर तथा लोक व्यवहार में दीक्षित होकर, आजीविका का प्रबन्ध कर, सांसारिक क्रम की रक्षा के लिये गृहस्थाश्रम अपनावे ।

सर्वेषामपि वर्णानां शेषाश्रमत्रयस्य च ।
लोकव्यवहृतेश्चैवाधारोऽयमाश्रमस्सदा ॥ २ ॥

यह आश्रम सभी वर्णों का, शेष तीनों आश्रमों का तथा लोक व्यवहार का नित्य आधार है । इसी आधारशिला पर मानव-संस्कृति की स्थिति है ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां गार्हस्थ्यमर्थकामयोः ।
एकएवाश्रयोनित्यमाश्रमोऽयं सताम्मतः ॥ ३ ॥

मनुष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से धर्म और मोक्ष की प्राप्ति तो किसी भी आश्रम में कर सकता

है किन्तु अर्थ और काम की प्राप्ति व सम्यग् विनियोग का एक मात्र आश्रम यही आश्रम है। यह सर्व सज्जन सम्मत है।

अनादिरेष संघर्षः प्राणिनां जीवितुं भुवि ।
चलतीतीति विजेतुं तं युग्मस्याऽपरिहार्यता ॥ ४ ॥

भवति योग्यतमो युग्मोऽधिगन्तुं दीर्घजीवनम् ।
युग्मपूर्तिर्विधेयातः सदानुकूलबन्धुना ॥५॥

जीवन कायम रखने के लिये अनादि काल से ही प्राणियों में संघर्ष चला आ रहा है, उस संघर्ष पर विजय पाने के लिये जोड़े की आवश्यकता होती है, इन में जो अधिक योग्य जोड़ा होता है वही दीर्घ जीवन प्राप्त करता है (Survival of the fittest) यह प्राकृतिक सिद्धान्त है। अतः सदैव युग्म में अनुकूलता का प्रथम ध्यान रखा जावे।

जातिविद्यावयोवंशगुणाद्यैः स्वानुरूपिणम् ।
चिरसङ्गिजनं लब्ध्वा व्यक्तिर्नैवावसीदति ॥ ६ ॥

अपनी जाति, विद्या, अवस्था, वंश, योग्यता आदि से अपने अनुकूल जीवन साथी को चुनकर व्यक्ति को दुःखी नहीं होना पड़ता है।

समाजस्थिति संगोप्त्री दिव्यभावप्रदायिनी ।
नियतपद्धतिर्नित्यमुद्वाहः संविदा मतः ॥ ७ ॥

विवाह सामाजिक मर्यादा की रक्षा करने वाला, व्यक्ति में सुन्दर और उत्तम भावना पैदा करने वाला तथा जीवन के लिये नियमित पद्धति प्रस्तुत करने वाला एक सर्वमान्य समझौता है।

येनकेनापि रूपेण सर्वत्रापीह संसृतौ ।
वैवाहिकीप्रथावद्या दृश्यते लब्धसत्कृतिः ॥ ८ ॥

विवाह की निर्दोष प्रथा इस सारी पृथ्वी पर सभी प्रकार के समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित है तथा सभी जगह गौरवपूर्ण स्थान रखती है।

कदापि स्थिरतामेति प्रेम नैत्रैकवस्तुनि ।
पुरुषस्य स्त्रिया वापि सदैव वायुवच्चलम् ॥ ६ ॥

प्रेम वायु की भाँति चञ्चल होता है। अतः चाहे स्त्री हो या पुरुष किसी का भी प्रेम एक जगह स्थिर नहीं होता है। अतः—

प्रेमचापल्य रोधाय यथा शास्त्रविधि द्वयोः ।
आप्तसाक्ष्यात्कृतो बन्धो परिणयेति कथ्यते ॥ १० ॥

प्रेम की चञ्चलता को रोकने के लिये शास्त्रोक्त विधियों के के अनुसार आप्त (प्रामाणिक) व्यक्तियों की साक्षी से किया गया प्रेमी व प्रेमिका का अथवा स्त्री पुरुष का बन्धन ही विवाह कहलाता है।

पुत्री जामातरौ स्यातां साधारौ गृहमेधिनौ ।
प्रेम्णोति यौतकं प्रायो दीयते स्म पुरा जनैः ॥ ११ ॥

इदानीं वरपक्षस्तु मत्वा कल्पद्रुमं सुतम् ।
तद्यौतक फललाभाय व्यग्रः प्रायोऽत्रलोक्यते ॥ १२ ॥

नवीन गृहस्थी बने हुये मेरे लड़की व जमाई के लिये कुछ आधार हो जावे इसी प्रेममय भावना से प्रायः पुराने समय में लोग दहेज देते थे किन्तु आज तो वर पक्ष के अभिभावक माता

पिता आदि पुत्र को 'कल्पवृक्ष' मानकर उसके दहेज रूपी फल की प्राप्ति के लिये सदैव आतुर देखे जाते हैं।

सुखवंशा विनश्यन्ति आत्महत्याश्च बालिकाः।
कुर्वन्ति सततं देशे यौतकदाननिर्बलाः ॥ १३ ॥

पवित्रो लोकवन्द्योऽपि विधिर्वैवाहिकः खलु।
जघन्यो जायते नित्यं यौतकेन कलङ्कितः ॥ १४ ॥

दहेज देने में असमर्थ कई फले फूले परिवार नष्ट हो जाते हैं, देश में चारों ओर प्रायः बालिकायें आत्महत्या करती हैं। हमारा पवित्र व लोगों में सम्मान से पूजे जाने वाला विवाह का सम्बन्ध "दहेज़" से कलङ्कित होकर दिनोंदिन घृणित होता जारहा है।

अवस्थासाम्यभावेन नृपुप्रेमप्रजायते।
असमाना अवस्थासु न मिलन्ति परस्परम् ॥ १५ ॥

असमानौ यदि स्यातां जायापती परस्परम्।
सम्बन्धिनौ जनौ वापि नैवानन्दस्तदा भवेत् ॥ १६ ॥

सब अवस्थाओं में समानता होने से ही पुरुषों में स्नेह का सम्बन्ध होता है। विभिन्न अवस्था वाले लोग परस्पर मेल जोल नहीं बढ़ाते हैं। यदि पति व पत्नी तथा दो सम्बन्धी समान स्तर के नहीं हुये तो कभी भी सम्बन्ध का आनन्द नहीं आवेगा *।

* पद्य "समान शीलव्यसनेषु सख्य" को याद दिलाते हैं, साथ ही बेमेल सम्बन्ध (चाहे वह अवस्था, जाति, देश, स्थिति में किसी भी दृष्टि से हो) की भयङ्करता की ओर ध्यान दिलाते हैं, ऐसे सम्बन्ध बीच की खाई पाटने में प्रायः असमर्थ होते हैं। अतः परिणाम की दृष्टि से भयङ्कर सिद्ध होते हैं जैसा आज कल प्रायः देखा जा सकता है।

प्रकृतिर्मानवस्येयं समानैः सुखमाप्नुयात् ।
तस्मात् भूयात् समानो वा कुर्यादन्यान् समानकान्॥ १७॥

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने समान वालों में ही सुख पा सकता है। अतः अपने सम्बन्धित क्षेत्र में तो स्वयं दूसरों जैसा बने या उन्हें अपने समान बना ले † ।

प्रीतिराप्तानुमत्या या क्रियते लोकसंहतौ ।
साभवेत्सुखदा लोके दुःखदा या निरर्गला ॥ १८ ॥

प्रामाणिक (बुजुर्ग) लोगों की अनुमति से लोगों के समक्ष किया जाने वाला प्रेम सुखप्रद होता है, जो निरर्गल (उच्छृङ्खल सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल) होता है वह सदा दुःखदायी होता है ‡ ।

प्रीतेस्तु स्वार्थमूलायाः स्थैर्य नैव कदाचन ।
स्वार्थाभावात्तदुच्छेदः प्रीतिः स्वाभाविकी स्थिरा ॥ १९ ॥

---

† प्रस्तुत पद्य मे असमानता की खाई को पाटने की ओर इङ्गित है यदि पत्नी अल्पशिक्षित वा अशिक्षित है तो उसे भी अपने स्तर के उपयुक्त शिक्षित बनाले । पत्नी की धार्मिक मनोवृत्ति दृढ़ है तो अपनी दुर्बल मनोवृत्ति को उसके साचे मे ढाले अथवा उचित प्रतीत हो तो उसकी रुचि का परिष्कार करे । इस प्रकार वैषम्य को दूर कर अपने सम्बन्धों का समन्वय की भावना से पालन करे ।

‡ पाश्चात्य देश में प्रेम और विवाह का क्रम है । यहाँ विवाह और प्रेम का । प्राय. प्रथम प्रकार के प्रेम का अन्त तलाक मे होता है और द्वितीय प्रकार का प्रेम दोनों में एक की मृत्यु के बाद भी स्थिर रहता है ।

स्वार्थमूलक प्रेम कभी भी स्थिर नहीं रहता, स्वार्थ के समाप्त होते ही प्रेम भी नष्ट होजाता है, प्रेम तो स्वाभाविक ही स्थिर रहता है + ।

विच्छेदायाक्रमारम्भं प्रेमाधिक्यमिति ध्रुवम् ।
सामान्य प्रेमभावस्तु प्रायशः स्थिरतामियात् ॥ २० ॥

विना क्रमिक विकास के एकदम चरम सीमा पर पहुंचा हुआ प्रेम निश्चित रूप से नष्ट होगा। प्रायः प्रेम वही स्थिर होता है जो साधारण क्रम से विकसित होता है ×।

प्रीतिस्तु तीक्ष्णसूचीव चित्तं विध्यति वीक्षणात् ।
दुश्शब्दाश्माहता प्रायः सद्यो भवति कुण्ठिता ॥ २१ ॥

प्रीति एक तीखी सुई है जो देखने मात्र से ही हृदय को वेध देती है और कठोर वचन रूपी पत्थर की चोट खाकर तत्काल कुण्ठित होजाती है।

रागिणः प्रेमवृद्ध्यर्थं विश्वासवर्धनाय च ।
प्रकाशतं सुगोप्यां स्त्री तस्मै वार्तां मनोरमाम् ॥ २२ ॥

अपने अनुरागी व्यक्ति के प्रेम को बढ़ाने के लिये तथा

+ वस्तुतः स्वार्थ आधारित प्रेम, प्रेम न होकर प्रेमाभास है, यहाँ प्रेम जो कि सदैव साध्य होता है, साधन बनकर आता है। अतः कृत्रिम होता है। निस्वार्थ प्रेम में बनने बिगड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं।

× प्रेम का एक दम बढ़ जाना प्रेम करने वाले व्यक्ति के आवेग का सूचक है। आवेगावस्था वाले व्यक्ति को स्थिरचेता नहीं माना जाता है। अतः उसका प्रेम भी कैसे स्थिर हो सकेगा।

अपने आपको उसका पूर्ण विश्वासी बताने के लिये प्रायः स्त्रियां मनोरम गुप्त बातों को भी उसके सामने प्रकट कर देती हैं।

नारी तु ह्यबलातः सा प्रायो ब्रूते छलेन हि।
नार्याः कपटभावस्य पारमाप्नोति नो नरः॥ २३॥

प्रायः स्त्री अबला (निर्बल) होती है। अतः वह पुरुष के पास छल का सहारा लेती है, उनकी बात चीत व्यवहार छल पूर्ण होते हैं, पुरुष उनकी इस शक्ति से पराजित हो जाता है वह इसके कपट का पार नहीं पा सकता है।

सत्प्रीतिस्त्वेकनिष्ठैव नेच्छति भाजनान्तरम्।
पात्रान्तराभिलाषा तु प्रीतिः स्याद् व्यभिचारिणी॥ २४॥
सत्प्रीतिर्जायते योगाल्लोभाच्च व्यभिचारिणी।
प्रथमा सौख्यदामुत्र परा सर्वत्र दुःखदा॥ २५॥

सच्चा प्रेम हमेशा स्थिर होता है वह दूसरे प्रेमपात्र को कभी नहीं चाहता है। जिस प्रेम में भिन्न २ प्रेम पात्रों के लिये अभिलाषा की जावे वह प्रीति व्यभिचारिणी होती है।

सच्ची प्रीति सुयोग से होती है इनमें साक्षाद्दर्शन गुण श्रवण आदि होते हैं, व्यभिचारिणी प्रीति लोभ से होती है। सत्प्रीति परलोक में भी सुखप्रद होती है और असत् प्रीति सभी जगह (यहाँ भी परलोक में भी) दुःख देती है।

द्वयोस्तु प्रेमिणोर्मध्ये वियोगो दुःखदायकः।
सर्वानन्दकरा प्रीतिः सैव स्याद्या निरन्तरा॥ २६॥

दो प्रेमियों के बीच किसी भी प्रकार का वियोग दुःख देने वाला होता है, सभी को आनन्दित करने वाली प्रीति तो वही

होती है जो निरन्तर चले उसमें किसी प्रकार का व्यवधान न हो।

तावत्सङ्क्लिश्यते व्यक्तिः प्रेमपात्रमनारतम् ।
मनस्तोषकरो यावन्नैवान्यः प्रेमकृन्मिलेत् ॥ २७॥

प्रेमी व्यक्ति उस समय तक निरन्तर दुःखी होते रहते हैं जब तक उनके मन को सन्तुष्ट करने वाला कोई अन्य प्रेम-कारक व्यक्ति नहीं मिलता है।

प्रेमाकाङ्क्षा भवत्येव योषित्स्वेवाधिका ह्यतः ।
शृङ्गारनिर्मितन्ताभ्यो नराकर्षणहेतुकम् ॥ २८ ॥

प्रेम की भूख पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती है। अतः पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये शृङ्गार की रचना की गई है *।

आहार्यः सत्वजश्चापि शृङ्गारो द्विविधो मतः ।
सत्वजः प्राकृतो ज्ञेयः आहार्यः कृत्रिमः पुनः ॥ २९ ॥

आहार्य भार न आपि शून्या प्राकृतिकेन सा ।
कदापि रोचते नैव जनायोदारवृत्तये ॥ ३० ।

---

* प्रायः स्त्री जाति स्वभावतः Passive होती है वह चाहती है कि उसे कोई चाहे वह पूरी तरह से "किसी की बनकर रहना चाहती है" यही "कामश्चाष्टगुणः स्मृतः" का अभिप्राय है। अतः आकर्षण करने की आवश्यकता भी स्वभावतः उन्हें ही होती है उस आवश्यकता की पूर्ति का साधन शृङ्गार है जो उन्हें विधाता से भी मिलता है तथा नर रचित कृत्रिम भी होता है, जैसा आगे मूल से स्पष्ट है।

श्रृङ्गार दो प्रकार के होते हैं। एक आहार्य और दूसरा सत्वज। सत्वज अलङ्कार प्राकृतिक होते हैं वे हावभावादि होते हैं। आहार्य कृत्रिम आभूषण होते हैं जो सुवर्णादि धातुओं से बने होते हैं, वस्त्रादि से सम्बन्ध रखने वाले भी होते हैं।

कृत्रिम साज सज्जा एवं आभूषणों के भार से दबी हुई भी स्वाभाविक हावभावादि से सूनी काठ की पुतली जैसी नारी कभी भी उदार वृत्ति वाले पुरुष को नहीं भाती है †।

अकामायाः स्त्रियाः प्रीतिर्न नरेण भविष्यति।
कामादेव तु वश्या स्यात् परकीया न सुभावतः। ३१॥

काम शक्त्यनुसारेण प्रीतिर्नारीसु वर्धते।
शक्तिक्षयानुपातेन स्त्री रागोऽप्यपचीयते॥ ३२॥

बिना कामना के कोई भी स्त्री पुरुष से स्नेह नहीं करेगी, परकीया (पराई) स्त्री काम के कारण ही मनुष्य के वश में होती है, सुन्दर भाव से नहीं।

स्त्री पुरुष में जितनी कामशक्ति होगी उतनी ही उसकी

---

† मनुष्य सच्चिदानन्दांश होने से प्रायः सदैव सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है। अतः स्त्री को सजाने की रुचि स्वयं भी रखता है किन्तु उसका चिदंश उसमें विवेक द्वारा 'पारख' भी पैदा करता है, अतः उसे औचित्य का ध्यान भी रहता है चिदंश का स्तर जितना अधिक होगा मनुष्य उतना ही अधिक कृत्रिमता से परे हटकर स्वाभाविकता की ओर बढ़ने लगेगा फिर उसे 'आत्म-गुण' अधिक अच्छे लगने लगेंगे।

प्रीति बढ़ेगी तथा कामशक्ति के ह्रास के अनुपात से उसकी प्रीति घटेगी भी † ।

> नैव श्रोतुं सदोपापि नारी मर्पति लाञ्छनम् ।
> निर्वाद शान्तये किन्तु आत्महत्यामपीप्सति ।। ३३ ।।

इतना होने पर भी नारी कभी भी अपना कलङ्क नहीं सह सकती है, वह लोकनिन्दा की शान्ति के लिये आत्महत्या तक से नहीं चूकती है ।

> पुंसो लिङ्गं विना सर्वे प्रायः सन्ति गुणाः स्त्रियाम् ।
> पुल्लिङ्गस्य वशे भूत्वा नराधीना हि कामिनी ।। ३४ ।।
> नरस्य लिङ्गमेवास्ति नारीणामिष्टदैवतम् ।
> न कस्यास्तद्विनाकेन सम्बन्धोऽपि विधीयते ।। ३५ ।।

पुरुष के लिङ्ग को छोड़कर प्रायः सभी विशेषताएं स्त्रियों में भी होती है, पुरुष के लिङ्ग के वशीभूत होकर ही काममत्ता स्त्री पुरुष के आधीन होती है ।

पुरुष का लिङ्ग ही स्त्रियों का इष्ट देवता है, विना इसके किसी से भी इसका सम्बन्ध नहीं होता है ।

> प्रकृतिः कलि नारीणां पातिव्रत्यात्मनं न हि ।
> पूज्य एकः पतिस्तासां जीवनन्तं विना वृथा ।। ३६ ।।

---

† नारीसु—नारीनिष्ट पुरुष विषयक, पुरुष निष्ट नारी विषयक ।
स्त्री रागः—स्त्रीणां रागः, स्त्रीकर्तृक रागः ।
स्त्रीणां रागः स्त्री कर्मक रागः ।

यह प्रकृति कलिप्रधान (दुराचारिणी) स्त्रियों की है पातिव्रत्य स्वभाव वाली स्त्रियों की नहीं। उनका तो एक मात्र पति ही पूज्य है, जिसके बिना उनका जीवन निरर्थक है।

शिक्षार्थिनां गुरुः पूज्यो द्रव्यदाता धनार्थिनाम् ।
सुखार्थिनां यथा त्यागी कामिनी कामिनान्तथा ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार शिक्षार्थियों के लिये गुरु सेव्य होता है धनार्थियों के लिये धन देने वाला तथा सुखार्थियों के लिये त्यागी पुरुष सेव्य होता है उसी प्रकार कामी पुरुषों के लिए कामिनी सेव्य होती है।

क्रियेत चेत्सदा नार्यास्तोषणं वस्त्रभूषणैः ।
प्रियालापादराद्यैश्चावलापि सबलायते ॥ ३८ ॥

यदि स्त्री को वस्त्र, आभूषण प्रेमपूर्वक बातचीत व सत्कार आदि से सदा प्रसन्न किया जाय तो वह अबला होते हुये भी सबला बन जाती है।

नारी बालस्य मातेव यूनः सा तु फलप्रदा ।
वृद्धस्य सेविका नित्यं नारिदेवि! नमोऽस्तुते ॥ ३९ ॥

नारी बालक के लिये माता की तरह युवा पुरुष के लिए सन्तति रूप फल देनी वाली की तरह तथा वृद्ध के लिये सदा सेविका की तरह रहने वाली है। अतः हे नारी देवी! तुझे नमस्कार है।

कार्ये लग्नो भवेन्नित्यं सम्मते लोकशास्त्रयोः ।
स्थातव्य न बिना कार्यं फलं किञ्चिद् भवेद् ध्रुवम् ॥ ४० ॥

लोक एवं शास्त्र की सम्मति के अनुसार मनुष्य को सदैव कार्य में संलग्न रहना चाहिये, कभी बेकार नहीं बैठना चाहिये, ऐसा करने से अवश्यमेव कुछ न कुछ फल मिलेगा ही।

येन केन प्रकारेण द्रव्यस्योपार्जनं भवेत् ।
तदेव कर्म कर्तव्यं हिंसा द्वेषादि वर्जितम् ॥ ४१ ॥

जिस किसी भी तरह द्रव्य का उपार्जन करना ही चाहिये परन्तु जो हिंसा और द्वेष आदि से रहित हो वही कार्य करे।

अनुसृत्य स्थितिं स्वीयां स्वकीयं जीवनस्तरम् ।
उत्थापयेदवश्यं हि नोचेदायो निरर्थकः ॥ ४२ ॥

अपनी वर्तमान स्थिति का अनुसरण करते हुए अपने रहन सहन के स्तर को अवश्यमेव उन्नत करें अन्यथा आय करना भी निरर्थक ही रहेगा।

स्वस्थितेरनुसारेण द्रव्य भुञ्याद् विचक्षणः ।
वसति सधनोऽपीह निःस्ववत् का धनार्थता ॥ ४३ ॥

विचक्षण पुरुष को चाहिये कि वह अपनी स्थिति के अनुसार द्रव्य का उपभोग करे धन के होते हुए भी यदि दरिद्र की तरह रहे तो धन होने का क्या लाभ है ?

दूरदर्शिनया यस्तु वित्तसन्तुलनान्नरः ।
व्ययेदर्थं यथाकामं भ्रश्यति स्वस्थितेर्न सः ॥ ४४ ।

जो गृहस्थ अपनी दूरदर्शी बुद्धि से विचार करते हुए अपने धन का सन्तुलन कर प्रयोजन के अनुसार धन खर्च करे तो वह अपनी स्थिति से कभी नहीं गिरेगा।

लक्ष्यते मनुजैर्नूनं या सा लक्ष्मीर्मता मया।
त्रिविधा सा भवेच्छोभा शोभना स्त्री धनागतिः ॥ ४५ ॥

जिसे मनुष्य अपना लक्ष्य बनावे, मैं उसे ही लक्ष्मी मानता हूं। वह तीन प्रकार की होती है १ शोभा २ सुन्दर स्त्री एवं वर्तमान में धन की आय।

सम्पत्तावनुगास्सर्वे सध्यूङ् कोऽपि न चापदि।
धार्मिकाः सुहृदो हित्वा विपत्तौ ये सहायकाः ॥ ४६ ॥

सम्पत्ति में सभी अनुगमन करते हैं परन्तु विपत्ति में कोई साथ नहीं देता है केवल धार्मिक मित्र ही ऐसे होते हैं जो विपत्ति में भी साथ नहीं छोड़ते।

गतन्तु स्वप्नवद् भूतं न च ज्ञानं भविष्यतः।
सुखाप्राप्तिकरोपायान् वर्तमाने समाचरेत् ॥ ४७ ॥

जो समय बीत चुका वह स्वप्न की भाँति हो चुका (उसका बारम्बार विचार नहीं करना चाहिये) आगे क्या होगा? इस का किसे ज्ञान है? अतः वर्तमान काल में ही सुख प्राप्ति कराने वाले उपायों को करना चाहिये।

कर्त्तव्य पूर्त्तयेकर्म यज्ञायक्रियतेऽथवा।
ऋणस्य शोधनाय वा देवपित्रर्षिं सम्पदाम् ॥ ४८ ॥

कोई भी काम या तो कर्तव्यपूर्ति के लिये किया जाता है या यज्ञ के लिये किया जाता है अथवा देव, पितर, ऋषि सम्बन्धी ऋण को चुकाने के लिये किया जाता है।

भर्त्रादि पूज्य वर्गोऽपि दोहृदं पूरयेन्मुदा ।
सर्वाङ्गपुष्टदीर्घायुरपत्यन्तेन जायते ॥ ५८ ॥

उत्तम सन्तान की इच्छुक गर्भिणी आहार विहार और कर्म की शुद्धि तथा नियमितता पर विशेष ध्यान दे। वह अपने गुरु जनों का तिरस्कार न करे अपने व्यवहार से बाल बच्चों व सेवकों को सन्तुष्ट रखे तथा पति को प्रसन्न रखे।

इसी प्रकार पति आदि पूज्यवर्ग भी गर्भिणी की आकांक्षाओं को पूर्ण करे जिससे सर्वाङ्ग सम्पन्न पुष्ट और दीर्घ जीवी सन्तान उत्पन्न होवे।

पुत्रसद्गुणसमृद्ध्यै सदाचारो ह्यपेक्षते ।
मातापित्रोरभावश्चेत् सन्ततिर्दुर्गुणान्विता ॥ ५६ ॥

सन्तान में सद्गुणों की समृद्धि के लिये माता पिता का सदाचारी होना अपेक्षित है यदि इनमें सदाचार का अभाव हो तो सन्तति दुर्गुणों से युक्त होगी।

स्वपत्नीमतिरिच्यैव सर्वा एव स्त्रियो भुवि ।
मातृभावेन पूज्या हि पत्नीमपि व्रजेदृतौ ॥ ६० ॥

पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त विश्व की समस्त नारियों का मातृ-भाव से सन्मान करे और अपनी पत्नी के साथ भी ऋतुकाल में ही गमन करे।

मातापित्रोः स्वभावस्य प्रभावोऽपरिहार्यतः ।
पृथग्वा मिश्रितश्चापि सन्ततौ सम्भवेदिह ॥ ६१ ॥

माता और पिता के स्वभाव का प्रभाव, पृथक् २ या सम्मिलित रूप में सन्तति पर अवश्य पड़ता है।

जारदोष विना पुत्रः पितृद्वेष्टा भवेन्न हि ।
अजारजस्तु कष्टानि पितृदत्तानि चंस्यति ॥ ६२ ॥

पुत्र जारज-दोगला-हुए विना कभी भी पिता का द्वेषी नहीं होता है। जो दोगला न हो वह पिता के द्वारा दिये गये सभी कष्टों को सरलता से सह लेगा।

प्रभुदत्तोपहारोऽयं ज्ञात्वेति पालयेद् गृही ।
सन्ततिं स्वां विना स्वार्थं शुद्धकर्तव्यभावतः ॥ ६३ ॥

"प्रभु ने हमें यह उपहार दिया है" यही सोचकर गृहस्थ विशुद्ध कर्तव्यभाव से विना स्वार्थ अपनी सन्तान का पालन करे।

सन्तति जन्मनाशाभ्यां त्यजेद् गर्वावसीदने ।
जातं कर्तव्यभावेन निस्स्वार्थं पालयेद् बुधः ॥ ६४ ॥

सन्तान के जन्म व मरण से मनुष्य न गर्व करे और न दुःखी ही होवे अपितु बुद्धिमान् मनुष्य निस्वार्थ भाव से कर्तव्य-पूर्वक सन्तान का पालन करे।

स्वदत्तं यदि नीतश्चेद् तेनैव प्रभुणा स्वयम् ।
तदप्यनुग्रहस्तस्य न कार्या परि देवना ॥ ६५ ॥

प्रभु ने अपना दिया हुआ पदार्थ यदि स्वयं ही ले भी लिया तो यह भी उसका अनुग्रह ही समझो कि इतने समय तक किसी न किसी रूप में उन्होंने अनुग्रह पूर्वक सेवा का अवसर प्रदान किया इसमें दुःख नहीं करना चाहिए।

पुत्राः पुत्र्यः स्नुषाश्चैव समत्वेन समादृताः ।
मन्यन्ते पितरौ नूनं स्निह्यन्ति सत्यभावतः ॥ ६६ ॥

पुत्र पुत्रियाँ और बहुएं समान भाव से आदर कीजाने पर अपने माता पिता का निश्चित रूप से आदर करती हैं तथा हार्दिक स्नेह रखती हैं ।

लोकः स्नुषागमात् पूर्वं गदितुं नैव शक्नुयात् ।
सुखि वा दुःखितोऽस्मीति पश्चादेवानुभूयते ॥ ६७॥

आत्मजे स्वविधेये तु सुखप्राप्तिरसंशयम् ।
पुत्रे स्नुषावशीभूते दुःखावाप्तिर्हि केवलम् ॥ ६८ ॥

मनुष्य अपनी पुत्रवधू के आने के पूर्व यह नहीं कह सकता है कि मैं दुःखी या सुखी हूं, यह तो उसके आने पर ही अनुभव होता है और कहा जा सकता है । पुत्र के आज्ञापालक होने पर निश्चित रूप से सुख की प्राप्ति होती है । किन्तु उसके पत्नी के वश में होकर उसी के ईशारे से नाचने पर केवल दुःख ही दुःख माता पिता के पल्ले पड़ते हैं ।

स्नुषाया एव संसर्गात् कृतघ्नो मे सुतोऽप्यभूत् ।
पितृकृतानि सर्वाणि चाकृतान्येव मन्यते ॥ ६९ ॥

विचार्यैवं गदित्वा च धृष्टा कार्या स्नुषा नहि ।
प्रत्युतः स्नेहभावेन दौरात्म्यं चेत् विनाशयेत् ॥ ७० ।

मेरा पुत्र बहू के संसर्ग से ही कृतघ्न हो गया है जो आज अपने पिता के किये उपकारों व कार्यों को नहीं मानता है । इस

प्रकार की भावनाओं से या कटु उक्तियों से सास-श्वसुर वहू को धृष्ट न करें अपितु उसमें दौरात्म्य यदि हो भी तो प्रेम भाव से दूर करें।

भार्याटिकस्य पुत्रस्य वृद्धिमौद्धत्यमागतम् ।
तत्स्वभावानुसारेण बुद्धिमान् समतान्नयेत् ॥ ७१ ॥

पत्नी के वशीभूत पुत्र की बढ़ी हुई उद्धतता को बुद्धिमान् मनुष्य उसके स्वभाव के अनुसार शनैः २ ठिकाने पर लावें।

पुत्रा विभाजनीया हि पित्रा द्वेषाङ्कुरान्विताः ।
नोच्चेद् द्वेषातिरेकेण प्राप्स्यन्ति वैरभावनाम् ॥ ७२ ॥

पुत्रों में द्वेष के अङ्कुर फूटते ही, उनके जमने के पहिले ही, पिता बटवारा कर दे, नहीं तो धीरे-धीरे द्वेष की अधिकता से उनमें स्थायी वैर-भावना जड़ पकड़ लेगी।

पीतरक्तादि वस्त्रेभ्यो वासस्तु श्वेतमुत्तमम् ।
विसारिभिः परं स्यात्तद् यशोभिर्धवलीकृतम् ॥ ७३ ॥

पीले लाल आदि विविध रंग के वस्त्रों से सफेद वस्त्र ही उत्तम है किन्तु वह चारों ओर फैले हुए यश से उज्ज्वल हो।

गृह एव वशी भूत्वा स्थातव्यं किं गिरौ वने ?
ममत्व मोहयोस्त्यागः-संन्यासो वस्तुतो मतः ॥ ७४ ॥

उपासना आदि के लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। पहाड़ पर या जंगल में जाने से ही क्या? मनुष्य को

जितेन्द्रिय होकर घर ही में विदेहराज की भाँति रहना चाहिये, आसक्ति और मोह को त्यागना ही तो संन्यास है ।

स्वप्ने च भोजने पाने ह्यानन्दे कार्यसंकटे ।
सदैव संयमेनैव वर्त्तितव्यं सुचेतसा ॥ ७५॥

बुद्धिमान् मनुष्य खान-पान, शयन, आनन्द, कष्ट आदि सभी अवसरों में संयम से रहे ।

परिश्रममनादृत्य कालं क्षिपति यो वृथा ।
फैशनमात्रमारुढः कष्टं सोऽवश्यमेष्यति ॥ ७६ ॥

परिश्रम की अवहेलना कर जो मनुष्य समय को व्यर्थ ही खो देता है और केवल फैशन—बनावठनाव के चक्कर में पड़ा रहता है वह अवश्य दुःख भोगेगा ।

नाविष्टः व्यर्थकृत्येषु लोकेऽल्पव्यवहारवान् ।
सुखदुःखादि युग्मेषु नासक्तः सत्यतत्परः ॥ ७७॥
कर्मणां फलदातारं जानीयात् केवल प्रभुम् ।
फलावाप्तावनिर्विण्णः सद् गृहस्थः प्रशस्यते ॥ ७८ ॥

व्यर्थ कार्यों में न लगने वाला, लोगों से अल्प व्यवहार रखने वाला, सुख और दुःख के द्वन्द्व में अनासक्त, सत्यरत, केवल परमात्मा को ही कर्मों का फलदाता जानने वाला स्वयं कर्मफल के मामले में तटस्थ रहने वाला ही सद्गृहस्थ सभी का प्रशंसा-पात्र होता है ।

स्वजनेन समो भूयात् परजनो न कर्हिचित् ।
विपत्तावन्तकाले वा सहायः स भविष्यति ॥ ७६ ॥

पराया व्यक्ति कभी भी अपनों जैसा नहीं होगा, विपत्ति में या मरण में अपना ही आदमी सहायक होगा।

समीपस्थैः सदा रक्षेत् प्रेमभावञ्च मेलनम् ।
आकस्मिक विपत्तौ तु भूयासुस्ते सहायकाः ॥ ८० ॥

अपने निकट रहने वालों (सम्बन्ध की दृष्टि से जिनके बीच हम रात दिन रहते हैं या जो पड़ौस की दृष्टि से हमारे समीप हैं उन) से सदा प्रेम भाव और मेल जोल रखे। अचानक आपड़ने वाली विपत्ति में (जब हमारे वनिष्ट हम से दूर होंगे और उन्हें हमारे कष्ट की सूचना भी नहीं होगी) ये ही सहायक होंगे।

क्रोधितं प्रति न क्रुध्यात् विरुद्धां वृत्तिमाश्रयेत् ।
शाम्येत्तदैव तत्क्रोधः प्रसूते कलहन्न चेत् ॥ ८१ ॥

क्रोध में भरे हुये व्यक्ति के प्रति स्वयं भी क्रोध न करे बल्कि उससे विपरीत वृत्ति शान्ति का सहारा ले, जिससे उसका क्रोध तत्काल ही शान्त हो जावेगा, इससे अन्यथा करने पर क्रोध कलह पैदा करता है।

परस्त्रीवचने प्रीतौ हावभावादिकेषु च ।
प्रत्ययो नैव कर्त्तव्यो हानिपर्यवसानकः ॥ ८२ ॥
व्यर्थवाक्येषु धूर्त्तानां मिथ्या प्रीति प्रदर्शिनाम् ।
विश्वासं नैव कुर्वन्तु नार्योऽपि व्यभिचारिणाम् ॥ ८३ ॥

पुरुष को पराई स्त्री की बातों में, प्रेम प्रदर्शन में, हाव-भाव आदि में कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए, जिसका परिणाम सिवाय हानि के और कुछ नहीं है।

इसी प्रकार स्त्रियां भी झूँठा प्रेम दिखाने वाले धूर्त व्यभिचारियों के निरर्थक वचनों में विश्वास नहीं करें। ऐसा करने से उनकी पारिवारिक शान्ति तो नष्ट होती ही है, अपमान, भय, अपकीर्ति के साथ पाप-भागी भी होते हैं।

दुर्लभं मानुषं जन्म ज्ञानोन्नतिः सुदुर्लभा।
दुर्लभा सद्गुरु प्राप्तिर्दुर्लभा संगतिः सताम् ॥ ८४ ॥

मनुष्य जन्म ही प्रथम तो दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ है ज्ञान-वृद्धि और सद्गुरु प्राप्ति उससे भी अधिक दुर्लभ है तथा इन सबसे अधिक दुर्लभ है सज्जनों की संगति। अतः सज्जन गृहस्थ को सदैव सुसंगति के लिए प्रयासशील रहना चाहिए।

दैवाद् भवति सान्निध्यं नृणां सौभाग्यशालिनाम्।
सान्निध्याच्छ्रीमतां भाग्यं वर्द्धते नात्र संशयः ॥ ८५ ॥

सौभाग्यशाली पुरुषों का साथ भाग्य से ही मिलता है ऐसे श्रीमानों के साथ से सौभाग्य बढ़ता है इस में कोई सन्देह नहीं है।

धर्मत्वं दुर्लभं लोके ऋजुता च सुदुर्लभा।
धर्मार्जवे स्थिते तावत् यावद् दुष्टो न सम्मिलेत् ॥ ८६ ॥

संसार में धर्माचरण दुर्लभ है, उसके साथ साथ सरलता और भी दुर्लभ है। धर्म और सरलता तभी तक टिके रहते हैं जब तक कोई दुष्ट नहीं मिल जाता है।

वार्धक्ये प्रेमपात्रस्य दर्शनं मन्यतेऽवरम् ।
प्रायशः शक्तिहानित्वाद् वियोगो भवति स्वतः ॥ ८७॥

वार्धक्ये लौकिकं प्रेम पन्थानं पारलौकिकम् ।
गृह्णीयात् कृतिनस्तस्य यस्य स्याद् भाग्य सौष्ठवम् ॥ ८८ ॥

बुढापे में प्रेम पात्र के दर्शन भी अच्छे नहीं लगते हैं प्रायः शक्तिहीन हो जाने से वियोग स्वतः हो जाता है। जिसका महान् सौभाग्य होता है उसी बड़भागी का लौकिक प्रेम, बुढापे में, पारलौकिक मार्ग, भक्ति, ज्ञान, वेदान्त को अपना लेता है।

दिदृक्षा पूर्ति कायाय तीर्थयात्रा वरा नृणाम् ।
सन्मार्गप्राप्तिलक्ष्याय निर्भ्रान्तो भाव इष्यते ॥ ८९ ॥

धार्मिक दृष्टि से तीर्थ यात्रा का महत्व नहीं है इसके लिये तो भ्रान्तिशून्य पवित्र भाव की आवश्यकता है। हाँ, नवीन २ स्थानों को देखने की इच्छा से तीर्थयात्रा अच्छी मानी गई है।

हरिं दधाति चित्ते स्त्री शक्ति हानाद् वियोगिनी ।
वृद्धिं प्रयाति प्रीतिश्च हरौ प्रेमानुपाततः ॥ ९० ॥

शारीरिक शक्ति के ह्रास से वियोगिनी तुल्य स्त्री हरि में अपना मन लगाती है, युवावस्था में रहने वाले उसके प्रेम के अनुपात से ही उसकी भक्ति भी भगवान् में बढ़ती है।

दीक्षिता न भवेन्नारी केनापि पतिमन्तरा ।
विधवा चेन्न सर्वेशं विस्मरेत्सैव सद्गुरुः ॥६१॥

प्रभु भक्ति में लीन स्त्री गुरुत्व दृष्टि से पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से दीक्षा न ले । यदि स्त्री विधवा है तो भगवान् को ही गुरु माने क्यों कि वे ही सब के सद्गुरु हैं और उन्हें कभी न भूले ।

इति श्री घनश्यामगीतायां तत्वखन्यां आश्रमचतुष्टयनिरूपणे ।
गृहस्थाश्रमवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

आश्रमचतुष्टये

वानप्रस्थसंन्यासौ

पौत्रे जाते गृहे काम वानप्रस्थो भवेद् बुधः ।
सभार्य आचरेन्नित्यं मोहत्यागादिकं व्रतम् ॥ १ ॥

घर में पौत्र पैदा होने पर बुद्धिमान् पुरुष वानप्रस्थाश्रमी हो जावे वह अपनी पत्नी सहित आसक्ति-ममता-मोह आदि के त्याग का व्रत अपनावे * ।

---

* वानप्रस्थ के लिये प्रायः शास्त्रकारों ने वयः की दृष्टि से समय निर्धारित नहीं किया है उसमें उन्होंने साधारण सा सीमा बन्धन रखा है, पुत्र के पुत्र होजाने पर अथवा केश पक जाने पर जैसे पद वर्षों में 'सीमा का निर्धारण न करते हुए भी पूर्णतया उपयुक्त 'समय' को, बताते हैं। पौत्र जन्म से नवीन पीढ़ी का आरम्भ हो जाता है व्यक्ति अपनी परम्परा की अक्षुण्णता के प्रति आश्वस्त हो जाता है, ऐसे समय में व्यक्ति पितृ ऋण से ब्याज-सहित उऋण हो जाता है । अतः गृहस्थ छोड़ देने में कर्तव्य की अपूर्णता जैसी कोई बात नहीं रहती है । पिता की उपस्थिति में पुत्र अपनी सन्तति के प्रति पितृगौरव का पालन भी यथावत् नहीं कर सकेगा इस कारण यह समय पिता के लिए गृहत्याग का उचित ही है ।

गृह एव वशी भूत्वा तिष्ठेत् किं स्याद् गिरौ वने।
ममत्व मोहयोस्त्यागः वैराग्यं वस्तुतो मतम् ॥ २ ॥

ममता और मोह को सर्वथा छोड़ देना ही सच्चा वैराग्य है (जिसका सम्बन्ध मन से है, वाह्य परिस्थितियां इसमें साधक बाधक नहीं होती हैं) अतः घर में ही जितेन्द्रिय बन कर रहे, पहाड़ या वन में क्या होगा †।

केशों का पक जाना शक्तिह्रास का संकेत है जो उसके अवसान के सामीप्य की सूचना देता है, अतः परलोक यात्रा के लिये भी पाथेय जुटाना आवश्यक है यह संकेत मिलते ही कार्यारम्भ कर देना बुद्धिमत्ता है। केश-पलितता' स्वयं की शक्ति पर निर्भर है जो उसके ब्रह्मचर्य और गृहस्थ की दीर्घता व संयम से सम्बन्धित है। एक व्यक्ति लम्बी अवस्था तक भी 'सिर की सफेदी' से बचा रहता है तथा एक असमय में ही पूरा 'श्वेत-केशी' हो जाता है। अतः दोनों के लिये एक भी अवस्था का विधान स्वतः अनुपयुक्त होजाता है।

पत्नी को साथ रखने न रखने के विषय में भी मिलने वाले विकल्प दीर्घदर्शिता के प्रमाण है, पत्नी में आत्मोन्नति की भावना पूर्ण विकसित है और वह सच्ची सहधर्मिणी है या घर में पुत्रादि कर्त्तव्य-निष्ठ व श्रद्धालु न हों तो पत्नी को साथ लेना उचित है। पत्नी घर में ही रहना चाहती है पुत्रादि योग्य व श्रद्धालु हों तो घर मे भी उसकी साधना चल सकती है। अतः उसे घर पर छोड़ा जा सकता है। (सम्पादक)

† किसी समय जंगलों में खाद्य पदार्थों की प्रचुरता होने से साधक को उदर चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। वानप्रस्थ का अर्थ भी यही है सम्भवतः 'वानैः प्रस्थीयतेति वानप्रस्थम्' तदस्यास्तीति वानप्रस्थम्। वन्य पदार्थों पर स्थिति निर्भर रखने वाला अथवा वान सूखामेवा प्रस्थ प्राचीन तोल विशेष

निजकर्म फलेच्छाया स्त्यागस्त्यागोऽभि धीयते ।
स एव संसृतित्यागो देहान्नैव भवत्यसौ ॥ ३ ॥

कर्मों के फल की इच्छा को छोड़ देना ही सच्चा त्याग है, यही 'संसार का त्याग' है, यह त्याग शरीर से नहीं होता है मन से होता है।

कर्मणां करणादेव लोकयात्रा भविष्यति ।
कर्मणाञ्च फलत्यागात् चिन्तानाशं समेष्यति ॥ ४ ॥

मनुष्य की सांसारिक स्थिति (जिन्दगी) कर्म करने से ही रह सकती है। अतः कर्म तो त्यागा ही नहीं जा सकता है. कर्मों के फल का त्याग किया जा सकता है जिससे चिन्ताओं से छुटकारा मिल जाता है। ।

वस्तुनि विद्यमानेऽपि विरक्तिस्त्याग उच्यते ।
असामर्थ्यवशात्त्यागस्त्यागो नैव दरिद्रता ॥ ५ ॥

लगभग आधासेर से सेर भर का। अतः संग्रह के नाम पर जहाँ ग्रन्थमात्र वान ही हो ऐसी अवस्था।

आज के समय मे वन्य-भूमि अधिकृत या सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं रही। अतः जंगल में जाने पर सब से प्रथम आवश्यकता उदरपूर्ति एक समस्या हो जावेगी बरबस बस्तियों से सम्पर्क रखना पड़ेगा। सम्भवतः इस से पुत्रादि पर भार भी पड़े। अतः यही उत्तम है कि घर में ही साधना की जावे।

। फल तो किये हुए कर्म का चाहो या न चाहो मिलेगा ही अतः उसका त्याग भी सम्भव नहीं है। सम्भव है फल विषयक आकांक्षा या आसक्ति का त्याग। अतः फलाकांक्षा का त्याग ही यहाँ फलत्याग है। इसी से आत्मा निर्लिप्त या बन्धनमुक्त होती है।

पदार्थ के वर्तमान रहते हुए भी उस में इच्छा का न रहना त्याग कहलाता है। पदार्थ की इच्छा है किन्तु प्राप्त करने की शक्ति नहीं है अतः पदार्थ मिल नहीं रहा है अथवा छोड़ा हुआ सा है यह अवस्था त्याग नहीं है यह तो दरिद्रता है।

वस्तुनः स्थिति समृद्धी विना त्यागं कुतो भुवि ।
यथा देहे मलद्वारं विना देहस्थिति र्नहि ॥ ६ ॥

किसी भी पदार्थ की सत्ता और बढ़ोतरी त्याग विना हो ही नहीं सकती है, यदि शरीर में मल-द्वार नहीं हो तो शरीर स्थित ही नहीं रह सकता है।

त्यागादेव हि वस्तूनां संग्रहोस्ति फलप्रदः ।
संग्रहस्तु विनात्याग मेकलः स्यान्निरर्थकः ॥ ७ ॥

त्याग करने पर ही वस्तुओं का संग्रह फलदायक होता है विना त्याग का अकेला संग्रह तो सर्वथा निरर्थक है।

दोषा लोभाश्रिताः सर्वे लोभस्त्यागेन नश्यति ।
त्यागाद् भवति वैरक्त्यं विरक्तिः सर्व सम्पदा ॥ ८ ॥

तमाम बुराइयों की जड़ लोभ है, इस लोभ को नष्ट करने का कुल्हाड़ा त्याग है, त्याग से वैराग्य की प्राप्ति होती है और वैराग्य ही पूरी सम्पत्ति है।

भुक्तभोगस्य यस्त्यागः स त्याग उत्तमो मतः ।
अभुक्त विषयो योगी गुप्तभोगं समीहते ॥ ९ ॥

भोगे हुए भोगों का त्याग अधिक उत्तम त्याग माना गया है, विषयों के भोग से शून्य योगी गुप्त रूप से भोगों की इच्छा करता रहता है ‡ ।

लोको विविधमार्गेषु यत्र कुत्रापि सम्भवेत् ।
विहायान्यगुणाँस्तस्य त्यागवृत्तिन्नमाम्यहम् ॥ १० ॥
सर्वेषां साधुवृत्तानां त्यागवृत्तिर्विशिष्यते ।
स्वयमेव विनश्यन्ति दोषास्त्यागाच्च मानसाः ॥ ११ ॥

साधना सम्बन्धी विविध मार्गों में से योगी किसी भी मार्ग पर आरूढ़ होवे मैं तो उसके समस्त अन्य गुणों पर ध्यान न देकर उसकी त्यागवृत्ति को ही सम्मान देता हूँ। सभी उत्तमोत्तम सदाचरणों में त्यागवृत्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। त्याग की भावना की दृढ़ता से मन के अन्य सभी दोष स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

‡ विचार चाहे कार्यान्वित हों या नहीं अपनी स्थायी प्रतिक्रिया 'पश्चात् प्रभाव' (आफ्टर एफैक्टस्) के रूप में मन पर छोड़ देते हैं किन्तु इनमें असफल विचारों का प्रभाव अधिक गहरा और भयंकर होता है क्योंकि वे अचेतन मस्तिष्क में चले जाते हैं तथा अनुकूल अवसर पाकर प्रकट होना चाहते हैं उस समय चेतन मस्तिष्क उन्हें रोकता है और कभी २ भयंकर अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था हो जाती है जिससे मस्तिष्क का सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। अतः अभुक्त विषय साधक की अपेक्षा भुक्त विषय साधक का मार्ग निरापद और अधिक सुगम होता है। उसका भोगों के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और उस तरफ घृणा की भावना स्वतः उग्र होती जाती है।

भूषणं त्याग एवास्ति त्यक्तसद्म नृणामिह ।
जायत आत्मवाँस्त्यागात् त्यागी सत्य प्रचारकः ॥ १२ ॥

घर बार में अनासक्त वैराग्यवान् पुरुषों का त्याग ही एक मात्र भूषण है। त्यागी ही सच्चे अर्थ में आत्मवान् आत्मबली (उत्तम आत्मावाला) है। त्यागी सत्य का प्रचारक होता है।

सर्वदा सर्वथानन्दी त्यागाद् भवितुमर्हति ।
यदृच्छा प्राप्त सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो भवेद्धि सः ॥ १३ ॥

मनुष्य त्याग से पूर्णतया स्थायी आनन्द प्राप्त कर सकता है। त्यागी पुरुष स्वतः प्राप्त पदार्थ से सन्तुष्ट होकर सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्ति पा लेता है।

बाल्यकालाद् विरक्तिस्तु कचित्कस्य भवेद् भुवि ।
कस्यचिद् दैव योगाच्चे दनघः सैव सर्वथा ॥ १४ ॥

बालकपन से ही वैराग्य-अनासक्ति-की भावनाएं जगत् में शायद ही किसी विरले ही मनुष्य में पाई जाती हैं, यदि किसी सौभाग्यशाली में इस प्रकार की भावना हो तो वह पूर्णतया निष्पाप (पाप के स्पर्श के लेश से भी शून्य) है।

सुखस्य कल्पवृक्षोऽयं वर्तेत हृदि चेत्सदा ।
वार्धक्ये तत्फलं ग्राह्यं भोगा भोज्यास्तु यौवने ॥ १५ ॥

सुखों का कल्पवृक्ष यह वैराग्य यदि किसी के हृदय में हो तो वह युवावस्था में निर्लेप भाव से भोगों को भोग कर भी वृद्धावस्था में उसके उत्तम फल को प्राप्त करे।

न सुखं भोग्यभोगेषु स्वास्थ्यवित्तयशस्सु च ।
सुखन्त्वेकाग्रचित्ते हि व्यग्रो न लभते सुखम् ॥ १६ ॥

स्वास्थ्य धन दौलत प्रसिद्धि व कीर्ति तथा नाना प्रकार के भोगों में सुख नहीं है। सच्चा सुख तो मन की एकान्तता में है, विविध विषयों में व्यग्र मनुष्य सुख कभी नहीं पा सकता है * ।

विषण्णो दुःखभोगेन प्रायश्चिन्तति मानवः ।
किमिदं जीवनं मेऽस्ति दुःखभोगाय केवलम् ॥ १७ ॥

इत्थम्भूताद्धि सत्क्षोभात् जीवनं परिवर्तते ।
आपाततः सुखान् भोगान् दुःखदान् मनुते तदा ॥ १८ ॥

प्रायः मनुष्य संसार में दुःख भोगते २ विषाद से घिरा हुआ विचारा करता है कि मेरा यह जीवन भी कैसा है? क्या यह एक मात्र दुःख भोग के लिये ही मुझे मिला है? इस प्रकार की मानसिक हलचल से उसका जीवन नया मोड़ (Turn of life) ले लेता है, तब वह मनुष्य दिखने में उत्तम इन भोगों को परिणाम में दुःखदायी मानने लगता है।

आगामि सुखदुःखानां बुद्धिरेवादिकारणम् ।
सुखाभीप्सु सयत्नं ना विदध्याद् बुद्धिशाधनम् ॥ १९ ॥

---

* सुख का अर्थ यहाँ आराम न लिया जाकर आनन्द लिया गया है स्वास्थ्यादि परिगणित वस्तुओं में तथा भोगों में क्षणिक तुष्टि (विश्रान्ति) तो अवश्य है जैसे राहगीर के लिये कुछ देर विश्राम देने वाला तरु अथवा शीघ्रता से गन्तव्य पर पहुँचाने वाला यान किन्तु चरम आनन्द, जो आत्मा का धर्म है। इन बाह्य पदार्थों में उपलब्ध नहीं हो सकता है।

शास्त्रज्ञानेन सगत्या कथानां श्रवणेन च ।
देवेज्यैः प्रार्थनाभिश्च क्रियते बुद्धिशोधनम् ॥ २० ॥

आगन्तुक सुख दुःख के भोग में बुद्धि ही आदि कारण है अतः सुखार्थी मनुष्य प्रयत्न पूर्वक बुद्धि शोधन करे ।

शास्त्रों के अनुशीलन से सज्जनों की संगति से उत्तम कथाओं के श्रवण से देवभजन से तथा ईशप्रार्थना से बुद्धि के विक्षेपों को हटाकर इसे शुद्ध किया जाता है ।

भोगासक्तिर्भवेत्तावत्तत्वं यावन्न बुद्ध्यते ।
एतस्माद्विषयासक्तै स्तत्वज्ञानन्तु नादृतम् ॥ २१ ॥

जब तक तत्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक भोगों में आसक्ति बनी ही रहेगी । यही कारण है कि विषयों में रमे हुए लोग 'तत्व ज्ञान' का आदर न कर उससे विमुख रहते हैं ।

विषयासक्तिवैराग्य तत्वज्ञानेन जायते ।
वाचालो मूकतां धत्ते प्राज्ञस्तेन भवेज्जडः ॥ २२ ॥

तत्व ज्ञान होजाने पर विषयासक्ति में वैराग्य हो जाता है इस वैराग्य से वाचाल मनुष्य व्यर्थ बकवाद छोड़कर गूंगा सा हो जाता है और प्राज्ञ जड़ तुल्य हो जाता है ।

काकविष्ठा समं ज्ञात्वा विषयाञ्जगतोऽखिलान् ।
आसक्त्यभावः सर्वेषु वैराग्य तद्धि निर्मलम् ॥ २३ ॥

समस्त सांसारिक विषयों को कौवे की बीट के समान समझ कर उन में आसक्ति न रखना ही निर्मल वैराग्य है ।

संसर्गाज्जायते नृणां भावेषु परिवर्तनम् ।
यथा स्यादुत्सवे हर्षः श्मशाने च विरक्तता ॥ २४ ॥

संसर्ग के कारण मनुष्यों के भावों में भी परिवर्तन हो जाता है, जैसे उत्सव में सम्मिलित व्यक्ति को हर्ष की अनुभूति होती है और श्मशान में स्थित को वैराग्य की ।

हिंसा भावो भवत्येव शस्त्रपाणेर्यथा हृदि ।
मालापाणेस्तथैवस्या न्नियत भक्ति भावना ॥ २५ ॥

शस्त्रधारी मनुष्य के हृदय में हिंसा के भाव हो ही जाते है हैं वैसे ही मालाधारी के हृदय में निश्चित रूप से भक्ति भावना जाग्रत् हो जाती है * ।

ईश्वराप्तौ विधिः कोऽपि स्वात्मज्ञानादृते न हि ।
सर्वाण्यतः परित्यज्या ध्यात्मज्ञानामृतं पिवेत् ॥ २६ ॥

---

* यह युग्म मदालसा के

"संगः सर्वात्मना त्याज्यः सचेत्यक्तुन्नशक्यते ।
सद्भिरेव सदा कार्यः संतसङ्गो हि भेषजम् ॥"

को याद दिलाता है । इसमें सङ्ग के सत् असत् दोनों पहलू रख दिये गये हैं । उत्सव व श्मशान के उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि भले ही हम स्वयं यहाँ सक्रिय भाग न लेते हों किन्तु दृष्टि जन्म सम्पर्क का ही असर होगा । इसी प्रकार शस्त्र और माला का उदाहरण बताता है कि संसर्ग केवल चेतन का ही नहीं माना गया है अचेतन का भी उतना ही प्रभाव डालता है । यही कारण है कि आश्रम विशेष की वेशभूषा रहन सहन मे प्रार्थक्य है तथा उन परपर्याप्त जोर दिया गया है । (सम्पादकीय)

सन्मार्ग के पथिक के लिये विधि निषेधों में त्याग का उपदेश निषेधात्मक पक्ष में है. यह नहीं करें यह नहीं करें आदि तो अन्त में करें क्या ? इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पद्य में है:-

ईश्वर प्राप्ति के लिए 'आत्म ज्ञान' के अतिरिक्त कोई भी अन्य 'विधि' नहीं है. अतः सब कुछ (साधना के विरोधी तत्व समुदाय को) छोड़कर अध्यात्म ज्ञान रूपी अमृत का पान करें।

ज्ञानाद् दासायते हिंस्रः कृपिर्ज्ञानाद् विधीयते ।
ज्ञानादेव नरः शक्तः सोहापोहविवेचने ।। २७ ।।

ज्ञान के बल से हिंसक भी सेवक हो जाता है, ज्ञान से ही कृषि की जाती है, ज्ञान से ही मनुष्य तर्क वितर्क पूर्ण चिन्तन में समर्थ है।

नित्याभ्यासाच्च संसर्गात् शास्त्राणामनुशीलनात् ।
तर्काद् वृद्धञ्च तज्ज्ञानं भवेत्सर्वार्थसाधकम् ।। २८ ।।

दैनिक अभ्यास से, सज्जनों के संसर्ग से, शास्त्रों के मनन से तथा तर्क से बढ़ा हुआ ज्ञान सब प्रयोजनों की पूर्ति का साधन है।

स्वकीयेन श्रमेणैव ज्ञानं यल्लभते नरः ।
वर्धते तच्छनैरेव संचयेन यथा मधुः ।। २९ ।।

जिस प्रकार सञ्चय से मधु बढ़ता जाता है वैसे ही स्वयं के परिश्रम से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह शनैः २ बढ़ता रहता है।

ये हि वाक्पटवो लोके विविधाख्यानवादिनः ।

परोपदेशपारीणाः ब्रह्मज्ञास्ते कदापि न ॥ ३० ॥

जो लोग बातचीत में काफी चतुर होते हैं तरह २ की बातें बनाते हैं, दूसरों को उपदेश देने में ही पारंगत होते हैं वे सच्चे ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता कभी नहीं होते है।

ब्रह्मभावसमाविष्टः प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।

साम्यभावसमायुक्तो ब्रह्मज्ञो भवतीदृशः ॥ ३१ ॥

निरन्तर ब्रह्मभाव में लीन रहने वाला, प्रशस्त आत्मावाला, जितेन्द्रिय, सभी को समभाव से देखने वाला व्यक्ति ही ज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता होता है।

सर्वेषां सम्प्रदायानां सारं गृह्णाति हंसवत् ।

त्यक्त्वा सर्वाणि फल्गूनि संन्यासी हंस उच्यते ॥ ३२ ॥

जो संन्यासी विश्व में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के व्यर्थ अंश को छोड़ते हुए साररूप को ग्रहण करता है वह अपने इस नीरक्षीर पृथक्करण के स्वभाव से 'हंस' कहलाता है।

ज्ञानिनां लक्षणं ह्येतत् गूढतत्त्वविचारिणाम् ।

सर्वेऽपि सम्मता ह्यत्र ब्रह्मज्ञोमूकवद्भवेत् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मज्ञ व्यक्ति मूक होता है जो उस अनिर्वचनीय आत्मानंद की अनुभूति तो करता है पर कहता कुछ नहीं है। यही गूढ़

तत्व विचारने वाले ज्ञानियों का मुख्य लक्षण है, इसमें सभी एक मत हैं किसी की भी यहाँ दो राय नहीं हो सकती है।

विवेकी योगसक्तश्च आत्मचिन्तारतोऽनिशम्।
वक्तुन्नेच्छति केनापि साधको मूक एव सः ॥ ३४ ॥

जो साधक विवेकयुक्त है सदैव योग में लगा रहता है हमेशा आत्मचिन्तन करता रहता है तथा किसी से भी बोलना नहीं चाहता है वह मूक योगी कहलाता है।

निमग्नो ब्रह्मचिन्तायां वार्तामन्यां शृणोति न।
न प्रशंसाञ्च निन्दाञ्च निरशङ्को बधिरो हि सः ॥ ३५ ॥

जो ब्रह्मचिन्तन में मग्न होकर अपनी या पराई निन्दा स्तुति तथा अन्य सांसारिक बातों को नहीं सुनता है वह निस्सन्देह 'बधिर-योगी' है।

ज्ञानी त्वाकर्षणानीह पश्यन्नपि न पश्यति।
दृष्ट्वा व्यासज्जते नैव तेष्वतः सोऽन्धवत् स्मृतः ॥ ३६ ॥

ज्ञानी लौकिक या पारलौकिक आकर्षणों को देखता हुआ भी नहीं देखता है, यदि उन्हें आकर्षणों के रूप में देखता भी है तो उन में लीन नहीं होता है। अतः वह अन्धयोगी कह-लाता है।

संयोगो जडवृत्तीनां दुःखभोगस्य कारणम्।
वियोगाज्जडवृत्तीनां योगसिद्धिः स्वयं भवेत् ॥ ३७ ॥

जड़ वृत्तियों का संयोग दुःख भोग में कारण होता है, जड़ वृत्तियों से सम्बन्ध तोड़ लेने से योगसिद्धि स्वतः होजाती है।

चैतन्ये योजयेच्चित्त मनात्मवृत्तिरोधतः ।
जडचैतन्य बोधाद्धि स्वस्य बोधः प्रजायते ॥ ३८ ॥

जड़ पदार्थों में मनोवृत्ति को रोक कर इसे चैतन्य में लगावे, जड़ चैतन्य के विवेक से आत्म-बोध स्वतः हो जाता है।

मनः सङ्कल्पराहित्याद् रागद्वेषौ न ते ह्यतः ।
शुद्धोऽसि त्वञ्च बुद्धोऽसि त्यक्त्वा मोहं सुखी भव ॥ ३९ ॥

मन के संकल्प रहित होने से राग द्वेष आदि से तू अछूता है, तू शुद्ध है, बुद्ध है, इस मोह को छोड़कर अपने स्वरूपानन्द में स्थिर हो।

कर्मणां करणे भुक्तौ मनोबुद्धी अधिकृते ।
न ते साक्षिभूते स्तः सन्नियन्त्र्य सुखी भव ॥ ४० ॥

कर्म करने में तथा उनका फल भोगने में मन और बुद्धि ही कारण होते हैं, तू तो साक्षीमात्र है, अतः इनका मन व बुद्धि का नियन्त्रण कर सुखी हो।

त्वं शरीरन्न तेऽप्येतत् कर्ता भोक्ता च नासि भो ।
निरपेक्षः सदा साक्षी चिद्रूपोऽसि सुखञ्चर ॥ ४१ ॥

न तो तू स्वयं शरीर है और न यह शरीर तेरा है, न तू

कर्ता है न भोक्ता है, तू तो इन कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म से निरपेक्ष होकर साक्षी है ज्ञानरूप है अतः आनन्द से विचर।

त्वयि सर्वे समाविष्टाः त्वञ्च सर्वेषु वर्तसे।
ज्ञात्वैतन्ममतां त्यक्त्वा ह्यहङ्कारमपि संत्यज ॥ ४२॥

एवं सञ्चिन्तयन्नित्य मात्मानं प्रति बोधयन्।
विचारसिद्धिसम्पत्त्या जीवन्मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ४३॥

यह सारा प्रपञ्च तुझ में समाविष्ट है और तू इन सबों में है इस बात को जान कर ममता छोड़कर अहंकार को भी छोड़।

इस प्रकार विचारते हुए अपनी आत्मा को उद्बोधित करता हुआ विचारों की सम्पत्ति से जीवन मुक्ति पा लेता है।

वासनां ममतां मोहं संसारभावनां तथा।
अहङ्कारं परित्यज्य संन्यासं धारयेद् बुधः ॥ ४४॥

बुद्धिमान् मनुष्य वासना ममता मोह संसार भावना और अहङ्कार को छोड़ कर ही संन्यास ले, तभी उसकी सफलता है निर्वाह भी है।

विना मनसि वैराग्यं संन्यासी न भवेन्नरः।
नोचेद्विषयभोगेच्छां रोद्धुं नैव क्षमो भवेत् ॥ ४५॥

मन में वैराग्य की तीव्र भावनाओं के विना मनुष्य संन्यासी

न बने अन्यथा वह अपनी विषय भोगों की इच्छा को रोकने में समर्थ न हो सकेगा।

वैराग्याद्यो गृहत्यागी संन्यासी सैव वस्तुतः।
आलस्यामर्षकापट्याद् यतिवेषो हि भिक्षुकः ॥ ४६ ॥

जिसने सच्चे वैराग्य के उदय होने से गृह त्याग दिया है वही वस्तुतः संन्यासी है। आलस्य (घर बाल को पालने की असमर्थता) अमर्ष (अकारण प्रचण्ड कोप) और कपट (दुनियां को उल्लू बनाकर धन-मान पाने की भावना) से यति का वेष अपनाया हुआ मनुष्य संन्यासी न होकर भिख-मंगा ही है।

अवश्यं गर्हणीयो हि परपिण्डाशनो जनः।
कल्याणमन्नदातुश्चे न्न कुर्यात्तर्हि भिक्षुकः ॥ ४७ ॥

दूसरे के अन्न पर पलने वाला मनुष्य निश्चित ही निन्दनीय है यदि वह अन्नदाता का कल्याण नहीं करता है तो ऐसा व्यक्ति संन्यासी नहीं अपितु भिक्षुक है।

प्रथमं मानसं रज्येत् भक्तिरागाज्जगत्प्रभो।
ततस्तु धारयेद् वस्त्रं गैरिकं लोकसम्मतम् ॥ ४८ ॥

प्रथम तो मनुष्य गृहस्थ और वानप्रस्थ रहते हुए भगवान् की भक्ति के रङ्ग में मन को रंगे, उसके बाद ही संन्यास लेकर लोकसम्मत गैरुआ वस्त्र धारण करे।

मद्यं मांसं रसोनञ्च तामसं भोजनं त्यजेत् ।
कायस्थित्यै मिताहारो व्रतञ्चापि समाचरेत् ॥ ४९ ॥

मद्य मांस लशुन तथा तामसिक भोजन छोड़ दे, केवल शारीरिक सत्ता के लिये अत्यन्त अल्प आहार करे तथा यदा कदा व्रत भी करे ।

एवं हि पालयन् दिव्या माश्रमीयां परम्पराम् ।
अधिगच्छत्यनायासं मोक्षमत्यन्तपौरुषम् ॥ ५० ॥

इस प्रकार दिव्य आश्रम परम्परा का पालन करता हुआ मनुष्य अनायास ही अत्यन्त पौरुष मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।

इति श्री घनश्यामगीतायां तत्वग्रन्थामाश्रमचतुष्टये
वानप्रस्थसंन्यासाश्रमवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सर्वसाधारणधर्माचारे

शिक्षासंग्रहः

न सेव्यो मर्त्यलोको हि केवलं विषयैषिणा ।
सञ्चिनुयात्सुकर्माणि जीवन् लोकः सदा भुवि ॥ १ ॥

मनुष्य केवल विषयों के भोग की इच्छा रखता हुआ ही इस मृत्युलोक का सेवन न करे अपितु पृथ्वी पर अपने जीवन-काल पर्यन्त निरन्तर शुभ कर्मों का चयन करे ।

आचारो ह्यन्यशब्देन सदाचारोऽपि कथ्यते ।
आचारस्तपसां मूलं धर्ममार्गोऽपि स स्मृतः ॥ २ ॥

आचार ही अपने साथ अन्य शब्द सत् के योग से दूसरे नाम 'सदाचार' द्वारा पुकारा जाता है। आचार तपश्चर्या का मूल है यही धर्म का मार्ग भी है * ।

---

* "आचर्यते इति आचरणम् तदेव आचारः आङ्का अर्थ समन्तात्" सब भांति या सर्वथा होता है तथा चर का अर्थ है गति या व्यवहार, अतः आचार का अर्थ हुआ 'सर्वथा व्यवहृत किये जाने वाला' सर्वथा व्यवहारा हिन्दू संस्कृति में लोक वेद से सम्मत, अनिन्दित मतिमूलक सज्जन कृत्य ही

ध्रियते बहुभिर्यस्तु स धर्म इति मे मतिः ।
व्यवहार्यः सदा सैव मानवेन सुखेच्छया ॥ ३ ॥

आचार ही धर्म है, धर्म का अर्थ ही यही है कि जिसे बहुत लोग धारण करें. यही धर्म विषयक मेरा मत है, सुखेच्छु मानवों को सदा इसी बहुजन सम्मत धर्म को आचरण में लेना चाहिए ।

उन्नतिः स्थिरता धैर्यं सन्तोषो दृढभावना ।
प्राप्यन्ते येन मोक्षोऽन्ते स धर्मः समुदाहृतः ॥ ४ ॥

जिससे उन्नति स्थिरता (चञ्चलता का अभाव) धैर्य सन्तोष दृढ़ भावना और अन्त में मोक्ष की भी प्राप्ति हो वही धर्म है ।

बाबावाक्यन्न मन्तव्यं सर्वत्राऽप्यविचारतः ।
वार्ताया विषयस्यापि तथ्ये कार्या विचारणा ॥ ५ ॥

बहुजन सम्मत धर्म से अन्धानुकरणता का प्रयोजन नहीं है । विना सोचे समझे सभी जगह केवल वृद्ध-कथन मात्र को ही प्रमाण न मान ले, किसी भी बात या विषय के तथ्यातथ्य का भी विचार करे ।

स्वधर्मं न त्यजेत् कोऽपि परधर्मस्य लिप्सया ।
उन्नतिः स्वस्य धर्मेण भवत्येव न चान्यथा ॥ ६ ॥

---

* अतः उसके पूर्व सतां आचारः या सत् आचारः के अर्थ के लिये 'सत' का प्रयोग न भी करें तो भी आचारः अपने साधारण अर्थ मात्र में ही निबद्ध न होकर 'सदाचार' का ही अर्थ देगा, अतः आचार का ही दूसरा नाम सदाचार बताया गया है न कि सदाचार का दूसरा नाम आचार ।

दूसरे धर्म की प्राप्ति की इच्छा से कोई भी स्वधर्म का त्याग न करे, मनुष्य की उन्नति अपने ही धर्म से होती है किसी अन्य धर्म से नहीं। उन्नति स्वधर्म पालन से ही होती है अन्य विधि से नहीं *।

योग्यतां क्षमतां दृष्ट्वा देशकालपरिस्थितीः।
वर्तनं करणञ्चैव स्वधर्ममिति मे मतम् ॥ ७ ॥

अपनी योग्यता (Ability) कार्य सामर्थ्य (Capacity) देश काल और परिस्थिति को विचार कर चलना और व्यवहार करना ही 'स्वधर्म' है यह मेरा मत है।

"स्वस्मै प्रिया प्रिये ये तु परस्मा अपि ते ध्रुवम्"।
धर्म एवं विचारे तु नोचे त्पाम्मेति तद्विदः ॥ ८ ॥

जो अपने लिए अच्छा या बुरा है वही दूसरों के लिए भी निश्चित रूप से वैसा ही है, इस प्रकार के विचार में ही धर्म भावना है इससे विपरीत आचरण में पाप. यही धर्मवेत्ताओं का मत है †।

---

* 'ध्रियते बहुभिर्यस्तु' के आधार पर अपने देश जाति सम्प्रदाय के बहुशिष्ट जनसम्मत धर्म की परम्परा में निश्चित ही हमारे अनुकूल तथ्य होंगे अन्यथा उसे शिष्टों का एक विशाल भाग मान्य-परम्परा में स्थान ही क्यों देता ? अतः उस धर्म को छोड़ना अपनी अनुकूलताओं का स्वयं त्याग करना है अनुकूलता के अभाव में उन्नति की आशा व्यर्थ है।

† "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्" यदन्येषां हितं स्यात् आत्मनः कर्म पौरुषम्, अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथञ्चन "आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति" आदि तद्विदों के मत के स्मारक वाक्य हैं।

प्रसन्नमनसैवात्र क्रियते नात्मघाततः ।
तुष्टिपुष्टि करं तत्स्यात् मानवस्य प्रवर्तनम् ॥ ९ ॥

जीवन में प्रसन्न मन से आत्महनन किये बिना जो कुछ किया जाता है मनुष्य का वही कार्य मनस्तोषक और पोषक होता है * ।

प्रवर्तयति दुर्दैवं पापकर्माणि मानवम् ।
विहिता शुभभोगाय हठादेवात्र जन्मनि ॥ १० ॥

(आत्मा के विरोध करते हुए भी प्रायः) दुर्भाग्य (दुर्दैव) मनुष्य को उसके किये हुए अशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए जीवन में हठात् पाप कर्मों में लगा देता है ।

भाग्यस्योदयकाले तु दोषोऽपि सुगुणायते ।
तस्यैव चास्तवेलायां गुणोऽपि विगुणायते ॥ ११ ॥

भाग्य के उदय की अवस्था में बुराइयाँ भी उत्तम गुण हो जाती हैं और उसी के अस्त होने की अवस्था में गुण भी अवगुण हो जाते हैं ।

वृद्ध्यर्थं म्यस्य बोधस्य संवादो हितकारकः ।
न्यूनैः समैस्तथा वृद्धैः विहितः शुद्धभावतः ॥ १२ ॥

* धर्मादि की सम्पूर्ण व्यवस्थाएं मनुष्य के आत्म-गुणों को दृष्टि में रखकर की गई हैं जिसमें आत्मा को शांति व बल की प्राप्ति होती है तथापि यदि धर्म की कोई क्रिया आत्म-विरोधी प्रतीत हो तो उसे न करे ।

कर्म बन्धन में छुटकारा पाने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, ज्ञान प्राप्ति के साधनों में सम्वाद (चर्चा) भी एक उत्तम साधन है):—

अपने ज्ञान के विकास के लिये अपने से छोटे बड़े या अपनी समान अवस्था के व्यक्तियों से शुद्ध भावनाओं से किया गया संवाद (वाद-विवाद) बड़ा लाभप्रद होता है।

पदार्थज्ञानप्राप्त्यर्थं तज्जिज्ञासा वरा स्मृता ।
केवलं जय प्राप्त्यर्थं विवादो दुःख मूलकः ॥ १३ ॥

वस्तुतः पदार्थ के वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए उस विषय में भिन्न २ व्यक्तियों से की गई जिज्ञासा अच्छी होती है। केवल सभा जीतने के लिए अहङ्कार से प्रेरित होकर किया गया विवाद दुःख दायी होता है *।

अमर्मज्ञेन शास्त्रार्थं विदुषो नोचितं कदा ।
जित्वापि नाप्नुयाच्छोभां निर्णयो न भविष्यति । १४ ॥

इसीलिए मर्मज्ञान से शून्य व्यक्ति के साथ विद्वान् का शास्त्रार्थ कभी भी उचित नही है, जीतकर भी वह शोभा

---

* क्योंकि ऐसे विवाद की विजय आपात रम्य होते हुए भी निरर्थक होती है और खूब महंगी पड़ती है. ऐसा वादी अपने प्रतिवादी के तर्कों को केवल उत्तर देने के लिए सुनेगा सहानुभूतिपूर्ण भावनाओं से उन में से कुछ पाने की इच्छा नहीं, यदि ऐसे व्यायाम प्रदर्शन में जीत भी गया तो उसके हाथ नया दाव भी नहीं आवेगा परिश्रम पूरा पड़ा ही।

हारने पर तो उसके अभिमान को करारी चोट लगेगी जो उसके दिल को तोड़ देगी।

नहीं पा सकेगा और न ऐसे शास्त्रार्थों में कोई सिद्धान्तपूर्ण निर्णय ही होगा।

प्रचारव्यवहाराभ्यां विना विद्या न लाभदा।
विद्यया सार्धमेवात स्तयोः शक्तिं प्रवर्धयेत् ॥ १५ ॥

विना प्रचार और व्यवहार के विद्या का कोई लाभ नहीं है (शास्त्रार्थ द्वारा विद्या के प्रचार की भावना और उसके निर्णयों द्वारा जनता के सामने निर्भ्रान्तपथ रख कर उस पर चलने की भावना रखना ही ठीक है) अतः विद्या के साथ २ ही प्रचार और व्यवहार की शक्ति भी बढ़ावे।

कर्मणां भुक्ति वेलां तु नैव जानाति मानवः।
भवितव्यमतः सर्वैः सुशिक्षा श्रवणोत्सुकैः ॥ १६ ॥

मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों के फल भोग के समय से अपरिचित रहता है अतः उसे सदैव अच्छी शिक्षा सुनने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। न जाने किस समय कैसी शिक्षा का क्या प्रभाव हो?

तदैव गृह्यते शिक्षा यदा स्याच्छुभकर्मणाम्।
भोगायाप्ता सुवेला वै भव्ययामनुमन्ततः ॥ १७ ॥

मनुष्य शिक्षा तभी ग्रहण करेगा जब उसके शुभ कर्म फल भोग के लिये कल्याण कारी शुभ वेला आगई हो।

कारणं ज्ञान विज्ञाने श्रेयसेऽभ्युदयाय च।
अवश्यमधिगन्तव्ये उन्नतिपथगामिना ॥ १८ ॥

मनुष्य के लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक श्रेय में ज्ञान और विज्ञान ही कारण हैं अतः उन्नति पथ का पथिक ज्ञान और विज्ञान अवश्य प्राप्त करे * ।

सर्वत्र सर्वदा पूज्यो महिमा कथनादिभिः ।
सद्गुरुर्लोकसंवेदः सर्वैं जिज्ञासुभिस्सदा ॥ १९ ॥

विद्या (ज्ञान विज्ञान) की प्राप्ति के स्रोत लोकव्यवहार निपुण गुरु का उनकी महिमादि गाकर जिज्ञासु लोग सदा सम्मान करें ।

शिक्षाया उपदेशस्य वेत्ति यो नोपयोगिताम् ।
तस्मै स्वहित मूर्खाय वृथा शिक्षोपदेशनम् ॥ २० ॥

जो शिक्षा और उपदेश के उपयोगों को नहीं जानता है ऐसे उस स्वहित मूर्ख (अपना भला बुरा न समझने वाले मूढ़बुद्धि) पुरुष को शिक्षा का उपदेश देना व्यर्थ है ।

शिक्षापात्रं सुमेधाश्च समर्थः साध्यसाधने ।
गुरुख्यातिकरो दक्षः शिष्योऽसौ परमोत्तमः ॥ २१ ॥

जो शिक्षा का योग्य पात्र हो अच्छी मेधा वाला हो, कार्य सिद्धि में समर्थ हो गुरु की ख्याति करने वाला और चतुर हो, वह शिष्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

शिष्यो भक्तोऽपि मूर्खश्चे दशक्तः साध्यसाधने ।
गुरुरपार्थयत्नश्च नित्यमेतेन सीदति ॥ २२ ॥

---

* मोक्ष विषयक बुद्धि ज्ञान कहलाती है तथा सांसारिक कार्यों में क्षमता प्रदान करने वाली बुद्धि विज्ञान कहलाती है ।

शिष्य श्रद्धालु होते हुए यदि मूर्ख हो और लक्ष्य की सिद्धि में अशक्त हो तो ऐसे शिष्य के साथ निरर्थक प्रयत्न करता हुआ गुरु नित्य दुःखी रहता है।

शिष्यस्य सात्विकी बुद्धिर् धत्ते शिक्षामशेषतः।
तामसी चेदसौ लोके नैव याति कृतार्थताम् ॥ २३ ॥

शिष्य की बुद्धि यदि सात्विक है तो वह सम्पूर्ण शिक्षा धारण कर लेती है यदि वह तामसी है तो कभी भी कृतार्थ नहीं होगी।

नासाद्यते कलाज्ञानं तत्कला गुरुणा विना।
न्यूनाधिक प्रकारेण भवत्येव कलागुरुः ॥ २४ ॥

न प्राप्नोत्य विनीतस्तु कलाज्ञानस्य सूक्ष्मताम्।
शुश्रूषया च भक्त्यैव तज्ज्ञो भवति मानवः ॥ २५ ॥

किसी भी कला का ज्ञान उस कला के गुरु बिना नहीं मिलता है प्रत्येक कला का न्यूनाधिक रूप से कोई न कोई गुरु होना ही है।

अविनीत व्यक्ति कलाज्ञान की बारीकी को नहीं पा सकता है। मनुष्य गुरु भक्ति और सेवा से ही उस कला में प्रवीण हो सकता है।

आज्ञां यो मनुते यस्य शिष्यस्तस्य स एव हि।
मन्यते गौरवादेव शास्तिर्नैतरथा कदा ॥ २६ ॥

जो जिसकी आज्ञा मानता है वही उसका शिष्य है। आदेश देने वाले के प्रति गौरवपूर्ण बुद्धि रखने पर ही आज्ञा मानी जाती है अन्यथा कभी नहीं।

बुद्धिमान् गुरुविश्वासी शक्तिमान् कर्तुमुद्यतः ।
स एवाधिकृतः शिष्यः शिक्षायै न ततोऽन्यथा ॥ २७॥

जो बुद्धिमान् हो गुरु में विश्वास रखता हो. असमर्थ हो, सदैव कार्य करने के लिये प्रस्तुत रहता हो वही शिक्षा देने के लिये पूर्ण अधिकारी शिष्य है, इससे विपरीत आचरण वाला नहीं।

अशास्यस्तार्किक शिष्यः तर्काधारी मतो हि सः ।
तर्केऽस्थैर्यन्ततोऽज्ञानं भक्तस्य स्थिरता गुरौ ॥ २८ ।

तार्किक शिष्य शिक्षा के अयोग्य होता है क्योंकि तर्क ही उसका एकमात्र आधार है, तर्क अस्थिर होता है अस्थिरता से अज्ञान ही बढ़ता है ज्ञान नहीं। भक्तशिष्य की गुरु में स्थिरता रहती है।

उत्कृष्टे पूज्यवुद्धिर्या स्थायिनी सैव भावना ।
भावना वा भवेद् भक्ति र्भक्तेरीश्वर दर्शनम् ॥ २९ ॥

गुरुजनों या उत्तमजनों में श्रद्धा की स्थायी स्थिति भावना कहलाती है, भावना से भक्ति की प्राप्ति होती है भक्ति से ईश्वर के दर्शन होते हैं ।

श्रेष्ठेऽपि स्थाय्यसद्भावः सद्भि 'दुर्भावना' मताः ।
तस्या भवेद् घृणा तस्या वैरादधोगतिः ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ पुरुषों में स्थायी रूप से बुरे भाव रखना दुर्भावना है. दुर्भावना से घृणा जन्म लेती है. घृणा से वैर का प्रादुर्भाव होता है, वैर से अधोगति होती है।

: उत्तम जनों में पूज्य-भाव ईश्वर प्राप्ति जैसे कार्य में भी समर्थ है तो ज्ञानादि जो कि उसके अवर कोटि के हैं, सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं

गुरूणां साधुवृत्तानां सेवासन्तर्पणादिकम् ।
विधीयते स्वभावाद्यैः लोकास्ते भुवि दुर्लभाः ॥ ३१ ॥

उत्तम वृत्त वाले गुरुजनों की स्वभाव से ही सेवा और सन्तुष्टि करने वाले पुरुष पृथ्वी पर दुर्लभ ही हैं ।

निष्काम कर्मकर्त्ता यो निरामर्षश्च ब्रह्मवित् ।
वेदवेदान्ततत्वज्ञो दयावान् ब्राह्मणो भवेत् ॥ ३२ ॥

जो निष्काम करने वाला है क्रोध से शून्य है ब्रह्म को जानता है वेद वेदान्त के सार को समझता है दयालु है वही ब्राह्मण है ।

जन्मना ब्राह्मणो नैव सुगुणैर्ब्राह्मणो भवेत् ।
यथा ब्रह्मकुलाद् भ्रष्टो ह्यन्य एवेति मन्यते ॥ ३३ ॥

मनुष्य जन्म से ही ब्राह्मण नहीं होता है अपितु अच्छे गुणों से ब्राह्मण होता है, जैसे ब्रह्मकुल से भ्रष्ट हो जाने पर वह ब्राह्मण न रह कर कुछ अन्य हो जाता है ।

पुरावृत्तान्तवक्ता यः शूद्रोऽपि जन्मना यथा ।
ब्राह्मणः कर्मभिर्जातः सूत ऋष्युपदेशकृत ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार जन्म से शूद्र होते हुए भी पुराणों की कथा कहने वाले ऋषियों को उपदेश देने वाले 'सूतजी' कर्म से ब्राह्मण होगये ।

शिरसि केशपुञ्जान्न नोपवीतान्न मालया ।
लम्बधोत्या न टीकातः ब्राह्मणः कर्मणा भवेतन् ॥ ३५ ॥

सिर पर जटा रखने से, यज्ञोपवीत से, रुद्राक्षादि की मालाओं से लम्बी धोती और टीकों से ब्राह्मण नहीं बन जाता है ब्राह्मण तो कर्म से ही होता है ।

ऋजुः सत्यश्च सन्तोषी शीलवान् सद्गुणः सुधीः ।
शुचिर्ध्यानपरोऽद्वेषी ब्राह्मणः पूजितो भवेत् ॥ ३६ ॥

सरल, सच्चा, सन्तोषी, सदाचारी, सद्गुण सम्पन्न सुबुद्धि पवित्र, ध्यान मग्न और किसी से वैर न रखने वाला ब्राह्मण ही सर्वत्र आदर पाता है ।

रागद्वेषाभिमानेभ्यो दम्भादिभ्यस्तथा पृथक् ।
सत्यं स्याद् वस्तुतो यद्धि तत्सत्यन्तद्विदां मतम् ॥ ३७ ॥

राग, द्वेष, अभिमान तथा दम्भ (पाखण्ड) आदि से पृथक् हो तथा अपने वास्तविक रूप में वर्णित हो वही सत्य स्वरूप-वेत्ताओं के मत में माना गया है ।

जानीयद् द्विविधं सत्यं धार्मिकं नैतिकन्तथा ।
शुद्धभावादृजुवाण्या प्रोक्तं यद्धार्मिकं हि तत् ॥३८॥

नैतिकं कार्यसिद्ध्यर्थं वाचः पटुतयोच्यते ।
सर्वथा सुविचार्यैव नासत्यन्तत् प्रमाण्यते ॥ ३९ ॥

सत्य दो प्रकार का होता है प्रथम धार्मिक द्वितीय नैतिक । शुद्ध भाव से सरल शब्दों में जो कुछ कहा गया वही धार्मिक सत्य है। कार्य सिद्धि के लिये चतुरतापूर्ण वाक् युक्ति द्वारा बड़े विचार पूर्वक जो कुछ कहा जाता है जिसे असत्य प्रमाणित नहीं कर सकते हैं वह नैतिक सत्य है ।

तिष्ठति धार्मिकं सत्यं शास्त्रे वा पूतमानसे ।
नैतिकं छलचातुर्ये व्यवसाये प्रयुज्यते ॥ ४० ॥

धार्मिक सत्य शास्त्रों में तथा पवित्र हृदयों में रहता है तथा नैतिक सत्य छल और छलपूर्ण चातुर्य तथा व्यवसाय में प्रयुक्त होता है ।

धार्मिके नैव सत्येन संसारो विजितो भवेत् ।
नैतिकेन तु सत्येन संसारे कुशलो जयेत् ॥ ४१ ॥

धार्मिक सत्य से ही संसार पराजित है। नैतिक सत्य से तो संसार में कुशल मनुष्य विजय पाते हैं अर्थात् धार्मिक सत्य के आगे तो समस्त संसार झुकता है भले ही वह सत्यवादी साधारण स्तर का हो या कुशल हो किन्तु नैतिक सत्य का सहारा लेकर तो कुशल मनुष्य ही विजय पा सकता है सर्व साधारण नहीं।

नैतिकसत्यावृतं स्याच्चे दसत्यं चलति ध्रुवम् ।
सत्यस्यैव तु सम्पर्कादसत्यं सत्यवद् भवेत् । ४२ ॥

नैतिक सत्य के आवरण में ही असत्य चलता है क्योंकि असत्य सत्य के सम्पर्क में आकर ही सत्य जैसा होता है।

प्रतिष्ठाप्राप्तये लोके लोभभावनयाथवा ।
विधीयते यदा पुण्यं तन्नस्यादात्मशुद्धये ॥ ४३ ॥

संसार में प्रतिष्ठा पाने के लिये या लोभ की भावना से यदि पुण्य किया जाता है तो वह पुण्य आत्म शुद्धि नहीं कर पाता है।

पाताले हरितन्नित्यं मूलन्तु पुण्यकर्मणाम् ।
अतो पल्लवितं भूत्वा दास्यति सौख्यदं फलम् ॥ ४४ ॥

पुण्य कर्मों की जड़ पाताल में सदा हरी रहती है वह अपने समय पर फूल कर सुखदायी फल देती है।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वसन्यां सर्वसाधारणधर्मचारं सच्छिज्ञासासंग्रहो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

सर्वसाधारणधर्माचारे

नीतिवर्णनम्

नीतिपथानुगो भूत्वा कुर्यात्कार्यं यथोचितम् ।
अतिक्रमात्तु नीतेर्वै कुत्सितो गण्यते नरैः ॥ १ ॥

मनुष्य नीति मार्गावलम्बी होकर उचित कार्य करें। नीति के मार्ग का उल्लंघन करने से मनुष्यों में निन्दित गिना जाता है।

जानात्यनुभवेनैव मन्यते श्रवणादपि ।
ह्यवश्यमवगन्तव्य मन्तरं ज्ञानमानयोः ॥ २ ॥

मनुष्य अनुभव से तो जानता है और श्रवण से मानता है, उसे ज्ञान और मान का यह अन्तर अवश्य जानना चाहिए।

इच्छाऽपूर्तेर्भवेत्क्रोधः भवेल्लोभश्च पूर्तितः ।
स्वरूपविस्मृतिः क्रोधात् लोभात् पापपथेरतिः ॥ ३ ॥

कामना की पूर्ति न होने से मनुष्य को क्रोध आता है और पूर्ति हो जाने से लोभ बढ़ता है। क्रोध से मनुष्य स्वरूप भूल जाता है, लोभ से पाप पथ (कुमार्ग) की ओर प्रवृत्ति होती जाती है।

क्रोधः कृन्तति सौहार्दं दहति कामभावनाम् ।
उत्शादयति दुर्भावं करोत्यनवधानताम् ॥ ४ ॥

क्रोध मित्रता पूर्ण सद्भावों को समाप्त कर देता है काम भावना को जला डालता है, बुरी भावनाएं पैदा करता है तथा अनवधानता (ध्यानाभाव) को जन्म देता है ।

कदा तु भवति क्रोधः सहायः सत्यभाषणे ।
निस्सरति हृदोगुप्तं द्रवीभूतं क्रुधाग्निना ॥ ५ ॥

कभी २ क्रोध सत्य बुलवा लेने में बड़ा सहायक हो जाता है, क्रोधाग्नि से पिघल कर हृदय के गुप्तभाव तत्काल बह पड़ते हैं ।

तृष्णाया एधमानाया अभ्यसेन्ना नियन्त्रणम् ।
चिन्ता दुःख हरोऽभ्यासः एष सौख्यप्रदो मतः ॥ ६ ॥

मनुष्य बढ़ती हुई तृष्णा को रोकने का अभ्यास करे यह अभ्यास चिन्ता एवं चिन्तामूलक दुःख को हरने वाला तथा सुख देने वाला माना गया है ।

समग्रं पार्थिवं राज्यं सम्पूर्णां सुखसम्पदाम् ।
लब्ध्वापि नो सुखी लोको यावन्मोहो न त्यज्यते ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल का शासन, सभी तरह की सुख सम्पत्ति को पाकर भी मनुष्य सुखी नहीं होगा जब तक मोह नहीं छूटेगा ।

कर्मणां फलभोगे तु पराधीनाः सदा वयम् ।
फलाशात्यागिनो भूत्वा गृह्णीमः सुखसम्पदाम् ॥ ८ ॥

हम सदैव कर्मों के फल-भोग में पराधीन हैं तो क्यों न फल की आशा त्याग कर सुखसम्पत्ति प्राप्त करे।

निष्कामकर्मभावेन विना कार्यं न सिद्ध्यति।
त्यागादेव स्वलोभस्य परस्याकर्षणं भवेत् ॥ ९ ॥

निष्काम कर्म करने की भावना के बिना कार्य सिद्ध ही नहीं होता है, अपने फल प्राप्तिरूप लोभ के त्याग ने से ही दूसरों का आकर्षण हो जाता है।

वैराग्यत्यागभावाभ्यां शान्तिस्तु लभ्यतेऽमिता।
प्रयत्नस्तौ विना शान्तेः केवलं हि विडम्बनम् ॥ १० ॥

वैराग्य और त्याग के भावों से अमित शान्ति मिलती है. इनके विना शान्ति का प्रयत्न थोथा दिखावा मात्र है।

सुखं न क्रीयते हट्टे दीयते प्रभुणैव तत्।
आत्मनो मनसस्तुष्टिर्यथा भूयात्तथा चरेत् ॥ ११ ॥

सुख बाजारों में नहीं खरीदा जाता है वह तो भगवान् के घर से ही मिलता है, जिस तरह अपना मन सन्तुष्ट हो वही व्यवहार करे *।

---

* सुख लौकिक पदार्थों में नहीं होता है अतः पैसे की खरीद में नहीं है। सुख की प्राप्ति अपने व्यवहार द्वारा होती है और प्राप्ति कराने वाले प्रभु हैं ये दोनों बातें बताती हैं कि सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की सन्तुष्टि जिन कार्यों से हो वही सुखकर है और ऐसे कार्य निश्चित रूप से हेय न होकर दिव्यवृत्ति के होते हैं, अतः इसका सीधा सादा अभिप्राय यही हुआ कि जो सुख के पीछे बावले होकर नहीं फिरते हैं अपि तु दया औदार्य आदि से सम्वलित उत्तम कर्म करते हैं उन्हें स्वतः सुख की प्राप्ति हो जाती है।

कुतोऽपि सुखसामग्रीं क्रेतुं शक्नोति वै जनः ।
आप्नुयात्स सुखं तेन न वेति संशयास्पदम् ॥ १२॥

मनुष्य सुख-सामग्री कहीं से भी खरीद सकता है, तो भी यह सन्दिग्ध ही है कि उसे सुख मिल जावे, सम्भव है मिले भी और नहीं भी।

दृश्यते न सुखं नित्यं संसारे भोग्यवस्तुषु ।
उच्छ्रयेऽपि सुखन्नैव पतन्त्येव समाच्छ्रिताः । १३ ॥

पृथ्वी तल पर किसी भी भोग्यवस्तु में नित्य सुख (शाश्वत आनन्द) नहीं दीखता है। अधिक ऊंचे उठजाने में भी वह नहीं है क्योंकि उठे हुए अन्ततोगत्वा गिरते ही हैं।

सहते आपदो यो वै सोऽन्ततस्तु सुखी भवेत् ।
कदापि न सुखं लब्धा महनं कातरो यदि ॥ १४॥

जो मनुष्य वर्तमान में आपत्तियाँ उठा रहा है वही अन्त में सुखी भी होगा। किन्तु जो सहिष्णु नहीं है, दुःख कातर है वह कभी भी सुख नहीं पावेगा।

सुखस्य कारणं संगः समाऽवस्थिति जीविनाम् ।
भूयासुः दुःखिता नोचेत् दृष्ट्वोच्चस्थितिकाङ्क्षनान् ॥ १५ ॥

समान स्थिति वाले लोगों के बीच रहना सुख प्राप्ति का कारण है यदि वे अपने से उच्च स्थिति वालों को देखकर तृष्णा से दुःखी न हों ः ।

मैं सुखी हूं यह भावना ही मनुष्य को सुखी करती है मैं दुखी हूँ यह भावना ही दुःखी करती है फिर चाहे पहले वाला झोंपड़ी में रहकर रूखी सूखी

सुखानुभूतिवाञ्छायां जातायाम्मानसे जनः ।
स्वावस्थायास्तदा कुर्या त्तुलनामल्पकैः सह ॥ १६ ॥

मन में सुखानुभूति की इच्छा पैदा होने पर मनुष्य अपने से अल्प स्तर वाले लोगों से अपनी अवस्था की तुलना करे ।

न भवेद्यो नरो व्यग्रः लब्ध्वापि विविधापदः ।
स एव शक्तिमाँल्लोके शक्तश्च नैव क्रुध्यति ॥ १७ ॥

जो मनुष्य भाँति २ की विपत्तियाँ पाकर भी व्यग्र नहीं होता है वही दुनियाँ में सच्चा शक्तिशाली है । शक्तिशाली को क्रोध नहीं आता है * ।

प्रतीक्षया विना कोऽपि नाप्नोति कर्मणां फलम् ।
उप्त्वैवः कृषको बीजं फलं चिरात् प्रतीक्षते ॥ १८ ॥

रोटी ही खाता हो और दूसरा सभी सुख सामग्री से पूर्ण भवनों में विविध व्यञ्जन भी पाता हो । अपने स्तर के लोगों में रहने से मनुष्य में कामनाओं का प्रसार तथा हेय मनोवृत्ति या अभिमान का जन्म नहीं होगा अतः निर्द्वन्द्वावस्था में वह आनन्द से रह सकेगा किन्तु अपने से ऊचों के सम्पर्क में आने पर लालसा-तत्पूर्ति के अभाव में क्रोध, बढ़ेगाओर उसकी ओर आत्मस्थिति से दीनता की भावना द्वारा दुःख मिलेगा ।

* प्रायः उत्साही मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों से भी प्रेरणा प्राप्त करता है तथा उनका सामना करने में उसे आनन्दानुभूति होती है जो उनकी आत्मव्यजना वृत्ति (अहम् पद) की पोषक होती है अतः ऐसे व्यक्ति के पास चिड़चिड़ेपन या क्रोध का काम ही क्या ? जो निर्बलों में पाये जाते हैं । इसलिए केवल सहिष्णुता का अभ्यास क्रोधविजय एवं उससे द्वारा सच्ची शान्ति की प्राप्ति में कारण है ।

कोई भी व्यक्ति परीक्षा विना अपने कर्मों में का फल नहीं पाता है, कृषक बीज बोकर चिरकाल तक फल की प्रतीक्षा करता है।

मार्गः कर्मगतेस्त्वत्र दृश्यतेऽवसरागतिः।
कृतं वा कथितन्नीतं ददात्यवसरे गतिम् ॥ १६॥

कर्म गति का मार्ग अवसर प्राप्ति ही है, किया हुआ, कहा हुआ और व्यवहार में आया हुआ अवसर पर ही फलदायक होता है।

महतीर्विपदो लोके न्यक्करोति शरीरिणाम्।
शक्तिरीश्वरप्रदत्ताया तितिक्षासौ निगद्यते ॥ २० ॥

ईश्वर प्रदत्त जो शक्ति देहधारियों की बड़ी २ विपत्तियों को भी तुच्छ बना देती है उसी का नाम 'तितिक्षा' है।

सोढ्वापि विविधापत्तीः सन्तोषं न त्यजेन्नरः।
सन्तोषाज्जयमाप्नोति क्लिष्टावस्था सु मानवः ॥ २१ ॥

विवध आपत्तियां सह कर भी पुरुष सन्तोष नहीं छोड़े। मनुष्य दुःखी अवस्था में भी सन्तोष के बल पार पा लेता है।

गुरवो बहवः सन्ति देहिनोऽदेहिनस्तथा।
प्रथमे दृश्यवस्तूनि द्वितीया विपदो मताः ॥ २२॥

द्वाभ्यामुपकृतोऽहन्तु यथास्थित्युपदेशतः।
सर्वसिद्धि प्रदायिभ्यो गुरुभ्यो मे नमस्तातिः ॥ २३ ॥

मेरे शरीरी और अशरीरी अनेक गुरु हैं, प्रथम कोटि में सभी दृश्य वस्तुएं तथा द्वितीय कोटि में विपत्तियां समाविष्ट हैं। स्थिति के अनुसार उपदेश दे दे कर दोनों से ही मेरा

उपकार हुआ है अतः सभी प्रकार की सिद्धि देने वाले गुरुओं केलिये प्रणाम करता हूँ * ।

कर्त्तव्यं स्वस्य धर्मं वा धत्तेऽआपद्गतोऽपि यः ।
नियतं कर्मवीरः स दिग्विजेता भविष्यति ॥ २४॥

जो आपद्ग्रस्त होते हुए भी अपने कर्त्तव्य या धर्म को धारण किये रहता है वह निश्चय ही कर्मवीर है, वही दिग्वि-जेता भी होगा ।

सर्वत्र दृश्यते सौख्यं यावन्नायान्ति चापदः ।
आपदा गति काले तु दुःखं सर्वत्र दृश्यते ॥ २५ ॥

जब तक मनुष्य पर विपत्तियां नहीं पड़ती हैं तब तक चारों ओर उसे सुख ही सुख दिखाई पड़ता है किन्तु आपत्तियां आने पर उसे दुःख ही दुःख दीखता है † ।

---

* विज्ञ व्यक्ति के लिये प्रकृति का प्रत्येक उपादान खुली पुस्तक के पृष्ठ की तरह है जिससे वह सार शिक्षा ग्रहण करता है इस प्रकार उसका Theory का अङ्ग तो पूरा हो ही जाता है, जब वह उस शिक्षा का उपयोग करने लगता है तो विपत्तियाँ उसके Practical रूप को पूरा करने वाले गुरु का कार्य करती हैं, प्रतिकूल अवस्था में संघर्ष में विजय प्राप्ति की अदम्य लालसा उसके लिये उत्साह एवं उसके कार्य क्षमता व सहिष्णुता तथा अन्त में विजय श्री व नवीन अनुभव और स्फूर्ति उसे मिलते हैं जो उसके उत्तरोत्तर विकसित कर्मठ जीवन के लिये नींव के पत्थर बनते जाते हैं. कुन्ती ने भी एक बार "विपदः सन्तु नः शाश्वत तत्र तत्र जगद् गुरो !" कह कर भगवान् से विपत्तियों की ही प्रार्थना की थी ।

† दार्शनिक मानते हैं कि विश्व के किसी भी पदार्थ में सुख या दुःख नहीं है जब जगत् का अस्तित्व मिथ्या है तो गुण दोष की कल्पना ही क्यों ?

सहने निश्चिता शक्तिः त्याज्यो धर्मः कदापि न ।
कर्त्तव्याच्चलितो यस्तु सुस्थिरो न भवेत्क्वचित् ॥ २६ ॥

निश्चय ही तितिक्षा में शक्ति है अतः मनुष्य को स्वधर्म कदापि नहीं छोड़ना चाहिये जो कर्त्तव्य धर्मों से विचलित हो जाता है वह कहीं भी सुस्थिर नहीं हो सकता है।

सुस्थितिं कुस्थितिं वाप्याऽनुभवो वृद्धि मेति हि ।
मुह्यति बुद्धिमान्नातो भुक्त्वाप्यापत्तिमागताम् ॥ २७ ॥

चाहे अनुकूल स्थिति हो या प्रतिकूल हो इन से मनुष्य के अनुभव में वृद्धि होती है। अतः बुद्धिमान् आई हुई आपत्तियों को भोग कर भी विमोहित (किं कर्त्तव्य विमूढ=हक्कावक्का) नहीं होता है।

संसाराज्ज्ञानिनो ज्ञानं गृह्णन्ति न च दुर्मदाः ।
त्यजन्ति ज्ञानिनो दोषान् गृह्णन्त्यज्ञानिनस्तु तान् ॥ २८ ॥

पदार्थगत हमारी रुचि ही तन्निष्ट सुख का हेतु होती है और अरुचि तटस्थता का तथा ग्लानि दुःख का। दुग्ध मधुरतम पेय पदार्थ है किसी के लिये किन्तु यदि व्यक्ति अस्वस्थ है तो वह दूध को पास भी नहीं फटकने देगा, दूर देशस्थ पुत्र की रुग्णता का समाचार मुंह तक गये दुग्ध पात्र को भूमि पर रखवा देगा यदि पदार्थ में स्वय में यह शक्ति होती तो उसे सदा एक रस रहना चाहिये। कुत्ता निरंतर शुष्क हड्डी के चूसने में ही रस पाता है, कामिनी कामी के लिये जहां उल्लास और आकर्षण का कारण है वही विरक्ति के लिये जुगुप्सा व अरुचि का कारण है। यही हेतु है कि प्रकृति की स्वस्थता में चारों और सुख ही सुख है तथा मनोविकृति में दुःख ही दुःख है।

ज्ञानी लोग ज्ञान संसार से ग्रहण करते हैं (दुर्मदा अभिमान से वावले) नहीं। ज्ञानी अपने दोषों को छोड़ देते हैं और अज्ञानी उन्हीं को ग्रहण करते हैं।

क्रोधस्य दमनोपाया श्चत्वारः सन्ति भूतले।
घटनां प्रतिकूलां स्वां जानीयान्मङ्गलं विधिम् ॥ २६ ॥

योग्यभोगेषु वैराग्यं सतितिक्षा सहिष्णुता।
तथा चामर्षकालेऽपि मौनं सर्वोत्तमो विधिः ॥ ३० ॥

प्रतिकूल घटना को भी मङ्गलमय विधान समझे, भोग्य भोग्यों से वैराग्य रखे, तितिक्षा व सहिष्णुता रखे तथा क्रोध के अवसर पर पूर्ण मौन रखे, ये ही क्रोध को दमन करने के चार उपाय हैं।

सर्वं जयति लोके यो न जेतान्यस्कृतो हि सः।
न जेता बाह्यजेता स्यात् सर्वजेता मनोजयी ॥ ३१ ॥

जो सभी को जीत लेता है, विश्व विजेता बन जाता है, तो भी वह वस्तुतः जेता नहीं है बल्कि निरादर पात्र ही है। बाह्य जगत् का जेता जेता नहीं है सच्चा 'सर्वजेता' जो मन को जीतने वाला ही है।

बाह्य शत्रु विनाशाय सर्वथा यतते नरः।
परमाभ्यन्तरान् शत्रून् क्रोधादीन् हृदि रक्षति ॥ ३२ ॥

मनुष्य बाह्य शत्रुओं के विनाश के लिये तो पूरी कोशिश करता है किन्तु अपने आन्तरिक शत्रु क्रोध काम आदि को हृदय में सहारा दिये रहता है।

दिवसे कृतकर्माणि चिन्तनीयानि चेतसा ।
निशायां शयनात् पूर्वं कानि हेयानि तेषु च ॥ ३३ ॥

रात्रि में शयन से पूर्व मनुष्य दिन में किये हुये कर्मों का मन ही मन में चिन्तन करे और विचारे कि उन में कितने त्याज्य (छोड़ने योग्य) कर्म हैं ।

कर्त्तव्यं कर्मकुर्वन्सन् यादृशं फलमश्नुते ।
कश्चित्तेनैव सन्तुष्टो भूयादेतत् सुखोविधिः ॥ ३४ ॥

मनुष्य कर्त्तव्य कर्मों को करते हुये उनसे जैसा भी फल पाता है और उसी से वह सन्तुष्ट भी होता है तो यही उत्तम सुखकर विधि है ।

अन्यानुपदिशत्येव न करोति तथा स्वयम् ।
श्रोतव्या तस्य शिक्षा न सा भवेत्तु निरर्थिका ॥ ३५ ॥

जो दूसरों को उपदेश ही देता है स्वयं वैसा नहीं करता है तो उसकी शिक्षा नहीं सुननी चाहिये क्योंकि ऐसी शिक्षा निरर्थक होती है ।

स्वोपदेशानुसारेण करोति यः स्वयं सदा ।
वस्तुतः सद्विवेकी स ह्यन्योऽज्ञो वञ्चकोऽथवा ॥ ३६ ॥

अपने दिये हुये उपदेश के अनुसार जो स्वयं भी सदा आचरण करता है वस्तुतः वही सद्विवेकी है । इससे अन्य या तो मूर्ख होगा या वञ्चक (धोखेबाज) ।

अपेक्षां भेदभावस्य त्यक्त्वा या हि स्फुटा भवेत् ।
आत्मन ऐक्यभावत्वात् सा दया परिकीर्तिता ॥ ३७ ॥

भेद भाव की अपेक्षा के विना आत्मा के एकरूप होने से दूसरे की मदद की जो चितवृत्ति उभरती है वही दया है।

दयालवो हि कुर्वन्ति निर्धनानां सहायताम्।
सधनानां सहायास्तु लोभिनश्च यशोऽर्थिनः ॥ ३८ ॥

निर्धनों की सहायता दयालु लोग ही करते हैं। धनवानों के सहायक तो लोभी और यश चाहने वाले कई होते हैं।

दयैवैषा मनुष्याणां विशिष्टो हृदये गुणः।
यत्र कुत्रापि या लोके विना स्वार्थं प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

विश्व में यह दया ही मनुष्यों का एक ऐसा विशिष्ट गुण है जो जहां कहीं भी विना स्वार्थ ही प्रवर्तित होता है।

दृश्यते न दयावत्वं कदाप्यात्मीयतां विना।
गुणाः सर्वेहि शारीराः दयैव चात्मनो गुणः ॥ ४० ॥

विना आत्मीयता (अपनेपन) के भाव आये कभी भी दयालुपन प्रकट नहीं होता है, इस प्रकार अन्य सभी गुण शारीरिक हैं अतः बाह्य हैं केवल दया ही आत्मिक है अतः आभ्यन्तर गुण है।

स्वभावतुल्यभावे हि कृपाभाव सुरक्षति।
लोकरीत्या जनः कोपि नोत्तमेप्यसमानके ॥ ४१ ॥

अपने स्वभाव से मेल खाने वाले व्यक्ति पर ही कृपा के भाव रखे जाते हैं यही लोक रीति है. कोई भी इसके विपरीत अपने से ऊँचे पर या असमान पर कृपा नहीं करता है।

कश्चित्कृत्वा शुभं सत्यं स्वश्लाघां श्रोतुमिच्छति ।
करोति चेत्स्वयं श्लाघां दम्भजालं तनोति सः ॥ ४२ ॥

(कोई भी) व्यक्ति शुभ और सत्य कार्य कर के अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा रखता है। यदि वह स्वयं ही अपनी प्रशंसा करता है तो वह पाखण्ड का जाल फैला रहा है * ।

तूर्णं पूर्णमसम्बद्धं स्वाभिप्रायं विवक्षति ।
शपथी भयभीतश्च स स्यात्कपटभाववान् ॥ ४३ ॥

जो अपने अस्तव्यस्त सम्पूर्ण अभिप्राय को एक बार में ही कह लेना चाहता हो शपथ ले रहा हो तथा डरा हुआ हो वह निश्चित ही कपटी है।

शृण्वन् कस्यापि वार्तां हि विस्मयं दर्शयन् मुहुः ।
पृच्छति मननायेव तच्चित्तेऽन्यद्धि चिन्तयन् ॥ ४४ ॥

दर्शयन्नार्जवं स्वस्य दोषाणां श्रवणोत्सुकः ।
स्वपूजां काङ्क्षते पूर्णां छिद्रान्वेषणतत्परः ॥ ४५ ॥

---

* भद्र व्यक्ति केवल प्रशंसा पाने के लिये ही कोई कार्य नहीं करते हैं किन्तु लोकैषणा की वृत्ति इतनी प्रबल होती है कि उनके हृदय में भी कार्य करने के अनन्तर प्रशंसा पाने की अभिलाषा यत् किञ्चित् हो ही जाती है। यदि व्यक्ति कार्य यथावत् पूरा करके स्वयं ही प्रशंसा के ढोल पीटने लगता है तो समझ लो उसकी लोकैषणा वृत्ति अत्यन्त प्रबल है तथा उसी की प्राप्ति के साधन रूप में उसने यह पाखण्ड का जाल फैलाया है।

परापत्तौ प्रसन्नः स्यात् स्वसुखायातुरः सदा ।
गूढेर्ष्यः स्वाधिपत्येच्छुः सदैव कपटी नरः ॥ ४६ ॥

कपटी मनुष्य सदैव किसी की वात सुनते हुए वार २ आश्चर्य दिखाते हुए, मन में कुछ ओर ही सोचता हुआ, मनन करने का दिखावा करता हुआ बीच २ में कुछ पूछता भी रहता है। अपनी सरलता का प्रदर्शन सा करता हुआ दूसरों की बुराइयों को सुनने का इच्छुक रहता है, दूसरों के छिद्र खोजने में लगा रहता है दूसरों की विपत्ति में प्रसन्न होता है तथा अपनी पूजा चाहता है।

विद्यायां वा सदाचारे श्रमे वा शुभकर्मणाम् ।
उत्साहं कुरुते नैव निन्दति केवलं परान् ॥ ४७ ॥

यह विद्या, सदाचार व शुभ कार्यों के परिश्रम में उत्साह नहीं रखता है केवल दूसरों की निन्दा ही करता है।

करोति वैरमेकेन स्वाधिपत्याय लोलुपः ।
अन्येभ्यो दर्शयेत्प्रीतिं सेवते चाधिकारिणः ॥ ४८ ॥

अधिकार का लालची व्यक्ति किसी एक से वैर करता है तो दूसरों से प्रीति का दिखावा करता है तथा अधिकारियों की गुलामी करता है।

अनात्म बलिनो लोका आश्रयन्ते छलं सदा ।
निश्छला आत्मवन्तस्तु स्पष्टं सत्यं वदन्ति च ॥ ४९ ॥

आत्म बल से शून्य मनुष्य ही सदा छल कपट का सहारा लिया करते हैं। आत्मवली तो निश्छल होते हैं तथा स्पष्ट और सत्य कहते हैं।

अल्पविद्योऽल्पप्रज्ञोऽपि विद्वम्मन्योऽति कोपनः ।
सत्यासत्यानभिज्ञश्च मूर्खो मोहहतो हठी ॥ ५० ॥

मूर्ख व्यक्ति अल्प विद्वान् एवं अल्पबुद्धि होते हुये भी स्वयं को पूर्ण विद्वान् मानता है खूब क्रोध दिखाता है, वह सत्यासत्य से अनभिज्ञ होता है तथा मोह का मारा हुआ व हठी होता है।

पूजनार्थ समित्पाणिः टीकामालादि भूषितः ।
गतिपाण्डित्यदम्भश्च स्वल्पज्ञो धूर्तवागसौ ॥ ५१ ॥

स्वल्पज्ञ व्यक्ति दिखावे के लिये पूजा की समिधायें हाथों में रखता है टीका माला आदि से सजा रहता है। उसकी चाल में भी पाण्डित्य का पाखण्ड रहता है तथा उसकी बातें धूर्ततापूर्ण होती हैं।

भवेदज्ञोऽपितज्ज्ञानां सभायां भाषणोत्सुकः ।
विज्ञप्तिं स स्वमौर्ख्यस्य कर्तुमिच्छति मूर्खराट् ॥ ५२ ॥

वह स्वयं अज्ञ होते हुए भी विशेषज्ञों की सभा में बोलने के लिये उत्सुक रहता है इस प्रकार वह मूर्खराज स्वयं ही अपनी मूर्खता का विज्ञापन करना चाहता है।

चमत्कृतिं कृतां व्याजात् छलेन निर्मितां कथाम् ।
मनुते योग मूलां यः स्वल्पबुद्धिर्नरो हि सः ॥ ५३ ॥

जो किसी प्रकार के हस्तलाघव या कपट से दिखाये गये चमत्कार को अथवा छल से बनाई गई बात को योग द्वारा उत्पादित मानता है वह मनुष्य निश्चय ही स्वल्प-बुद्धि (कम अक्ल) है।

शक्नोति गदितुन्नैव वस्तु किमपि नूतनम् ।
प्रसिद्ध्यर्थं करोत्येव केवल पिष्टपेषणम् ॥ ५४ ॥

वह कोई नवीन मौलिक बात तो कह नहीं सकता है केवल अपनी प्रसिद्धि के लिए पिष्टपेषण करता रहता है (जानी बुझी बातों को बेमतलब दोहराता रहता है) ।

ज्ञानाब्धिनर संकाशादादत्ते स्वल्पमल्पधीः ।
प्राप्नुयात् सागरात् कोऽपि स्वपात्रानुसृत जलम् ॥ ५५ ॥

अल्पबुद्धि मनुष्य ज्ञानसागर पुरुष के पास से भी अत्यन्त अल्प ही ग्रहण करता है। ठीक हीं तो है सागर से लोग अपने पात्र के परिमाण से ही तो जल ग्रहण करते हैं ।

न प्रमाणं वचो यस्य व्यर्थन्तस्य तु भाषणम् ।
स्वयं दोषाकरो भूत्वा परेषां वञ्चको भवेत् ॥ ५६ ॥

जिस की बात प्रामाणिक नहीं है उसका बोलना ही व्यर्थ है अप्रामाणिक बात दूसरों के सामने रखते हुए स्वय दोषी तो होता ही है विचारे दूसरों को धोखा और देता है ।

व्याज युक्तस्य वाक्यस्य प्रत्ययोऽपि भवेन्नहि ।
स एव कथयत्येवं यो भवेन्निर्बलात्मवान् ॥ ५७ ॥

छल कपट पूर्ण बात का विश्वास ही नहीं होता है जो निर्बल आत्मा वाला होता है वही इस प्रकार छल कपट पूर्ण बात कहता है ।

प्रयुक्तान् कुरुते वाक्ये परन्त्वगरलेकिनान् ।
पण, चेत् तो च यद्यादीन् जानीयाद् व्याजिन हि तम् ॥ ५८ ॥

स्पष्टं वस्तुं हि नेच्छेद् यः कर्तुन्नेच्छेच्च तत्तदा।
तदैव लेकिनादीनां प्रयोगं कुरुते जनः ॥ ५६ ॥

जो व्यक्ति अपने कथन में परन्तु अगर लेकिन पण चेत् तो यदि आदि पदों का प्रयोग करता है तो उसे कपटी समझना चाहिये।

जो स्पष्ट बात नहीं करना चाहता है और न कुछ करना ही चाहता है वही व्यक्ति लेकिन आदि इन सन्दिग्धार्थ पदों का प्रयोग करता है।

सुवाचा व्यवहारेण सेवयापि न विश्वसेत्।
गूढ-भाव-द्विषं मित्रं कृतानिष्टञ्च दुर्हृदम् ॥ ६० ॥

सुन्दर वाणी व्यवहार व सेवा से भी गुप्तद्वेषी मित्र का या अपने से हानि पहुंचाये हुये व्यक्ति तथा दुष्ट का विश्वास न करे।

करोति पिशुनः प्रायो वार्तां श्लिष्टां दुराशयः ॥
हितोपदेशामेकार्थे द्वितीयार्थेऽहितकारिणाम् ॥ ६१ ॥

प्रायः दुष्टहृदय नीच दो-अर्थी बात किया करते हैं जो एक ओर तो हितभरी प्रतीत होती है किन्तु दूसरी ओर अनिष्टकारी होती है।

भाषणे हसने वापि वृत्तच्छिद्रे कपोलयोः।
स्यातां यस्य लोकस्य नैवासौ शुद्धभाववान् ॥६२॥

जिस व्यक्ति के गालों पर बोलते समय गोल २ खड्डे से पड़ते हों वह कभी शुद्ध भावों वाला नहीं होता है।

भेदान् संरच्य यः क्लिष्टान् शब्दाँश्च विपर्यांस्तथा ।
अन्यान् पृच्छति यत्तस्या दात्मख्यातिर्विकत्थनम् ॥६३॥

जो क्लिष्ट २ भेदों शब्दों तथा विषयों को चुन २ कर रखते हुए दूसरों से पूछा करता है उसका यह काम या तो आत्मख्याति से या आत्मश्लाघा से पूर्ण होता है ।

सत्यमुक्त्वा शुभं कृत्वा दर्शयित्वा स्वसत्यताम् ।
धूर्ततां दाम्भिकश्चाग्रे व्याजैरेभिः करिष्यति ॥ ६४॥

पाखण्डी-आदमी सच बोलकर अच्छा काम कर अपनी सचाई दिखाकर भविष्य में इन्हीं बहानों से मक्कारी करेगा ।

महागर्वो नरः स्वीयान् श्रोतुं श्रोतृमुखात् गुणान् ।
आचष्टे पटुवाक्यानि नम्रीभूतानि प्रायशः ॥ ६५ ॥

घमण्डी व्यक्ति प्रायः श्रोताओं के मुख से अपने गुण सुनने के लिए दिखावे की नम्रता से भरे हुए तरह २ के चतुर वाक्य बोला करता है ।

स्वस्वभावातिरिक्ताञ्चेत् क्रियां चेष्टां करोति वा ।
येन केन समं कुर्यात् वञ्चनार्थं हि तद्भवेत् ॥ ६६ ॥

जब मनुष्य अपने स्वभाव से भिन्न क्रिया व चेष्टाओं को करता है तब चाहे वे किसी के भी साथ की जावें धोखे के लिये ही की जाती है * ।

---

* यह अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि का विषय है इस में Interview के समय नाखून से धरती कुचरने से लेकर बड़े २ अपराधियों तक की अवहित्था (आकार गुप्ति) का समावेश हो जाता है जो आत्मगोपन वृत्ति

स्वज्ञानं बहु जानाति नैव ज्ञाता स वस्तुतः ।
ज्ञानाभासाच्च गर्विष्ठः तदाचारे विपर्ययः ॥ ७॥

जो अपने ज्ञान को ही बहुत समझता है वास्तव में वह सच्चा ज्ञानी नहीं है, वह अपने उस तथा कथित (नाममात्र के) ज्ञान से अत्यन्त गर्वीला हो जाता है और उसके आचरण में भी वैपरीत्य आजाता है।

दुर्विधो ज्ञानलेशाद्यः परवाचं न मन्यते ।
स्वबुद्धिम्मन्यते श्रेष्ठां मूर्खोऽसौ गर्वितोऽथवा ॥ ६८॥

ज्ञान के लेश मात्र से भी सूना जो व्यक्ति दूसरे की बात नहीं मानता है केवल अपनी बुद्धि को ही श्रेष्ठ समझता है वह या तो मूर्ख है या अत्यन्त घमण्डी।

यस्यास्ति विपुलाबुद्धि र्न्यूनवन्मन्यते बहुम् ।
जानाति बह्वन्न्यूनं स्वल्पबुद्धिस्तु मानवः ॥ ६९ ॥

जिसकी बुद्धि विशाल है वह बहुत को भी न्यूनसा समझता है किन्तु जो स्वल्प बुद्धि होता वह तो थोड़े को भी बहुत समझता है।

सारादानं न जानाति गुणागारस्य स्वल्पधीः ।
कर्षणं ज्ञायते नैव यथा मेघस्य वर्षणम् ॥ ७० ॥

का कार्य है आत्मगोपन अपने किसी अभाव को छिपाने के लिये होता है जिसका लक्ष्य सम्मुखस्थ व्यक्ति के सामने अपनी वास्तविकता प्रकट न होने देना, जो एक प्रकार की प्रतारणा ही है भले उस से होने वाली हानि का परिणाम न्यूनाधिक रूप में होवे।

गुणवान् व्यक्ति के सार-ग्रहण के ढङ्ग को अल्पबुद्धि मनुष्य नहीं समझ सकता है। जैसे मेघ का बरसना तो सभी जानते हैं किन्तु उसका जल ग्रहण करना नहीं जाना जाता है।

पठित्वा यत्र कुत्रापि पुस्तके दूषितां कथाम् ।
दूषयन्ति पराँल्लोकाः पश्यन्ति न स्वदूषणम् ॥ ७१ ॥

प्रायः मन्दबुद्धि मनुष्य इधर उधर पुस्तकों में बुरी बातें पढ़कर दूसरों को दोष लगाते फिरते हैं किन्तु अपने दूषण नहीं देखते हैं।

काकचेष्टेत्युपमितः किं काकोऽस्मीति मूढधीः ।
दृष्टान्तार्थमविज्ञाय औपम्ये कलहायते । ७२ ॥

मूढ़ पुरुष "काक की सी चेष्टा वाला" इस प्रकार उपमा दिये जाने पर साधर्म्य को (दृष्टान्त के अर्थ को) न समझ कर झगड़ने लगता है कि मैं कौवा हूं क्या ? मुझे कौवा कैसे बनाया ?

सामान्येनैव भावेन सर्वान् यो वै प्रशंसति ।
वैशिष्ट्येन न कश्चित् अज्ञोऽसौ वञ्चकोऽथवा ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य सभी की प्रशंसा समान रूप से करता है (अथवा जो सभी की साधारण प्रशंशा करता है। किसी को भी विशेषता से नहीं देखता है वह या मूर्ख है (जिसे तुलना का विवेक नहीं है। या फिर धूर्त है (जो किसी को पूरा सम्मान नहीं देना चाहता है) ।

अहम्मन्योऽभिको भीरुरलसः शिथिलाङ्गकः ।
बालिशः स्वल्पविद्यश्च प्रसरन्ति समादृताः ॥ ७४ ॥

घमण्डी, कामी, डरपोक, आलसी, ढीला ढाला, मूर्ख और कम पढ़ा हुआ, ये लोग आदर किये जाने पर फैलते हैं (सिर चढ़ते हैं)।

नात्मश्लाघी शृणोत्येव हितञ्चाप्यन्यवाग्भवम् ।
वाञ्छति निजवाक्पुष्टिं नोचेदावेशमाप्नुयात् ॥ ७५ ॥

आत्मश्लाघी व्यक्ति दूसरों के मुख से अपने हित की बात भी नहीं सुनता है। वह केवल अपने कथन की पुष्टि ही चाहता है, ऐसा न होने पर उसे आवेश भी शीघ्र आ जाता है।

यस्य न स्यात् स्वयं प्रज्ञा पेक्षते च परेङ्गितम् ।
विशेषं तत्र जानीयात् काष्ठनिर्मितपूरुषात् ॥ ७६ ॥

जिस में स्वयं की बुद्धि तो है नहीं और दूसरों के इशारे को चाहता नहीं, ऐसे उस पुरुष को काठ के आदमी से अधिक कुछ भी न समझें।

बहिः क्षिप्यति हृद्भावं किञ्चिन्न हृदि रक्षति ।
नीतिशून्यो नयज्ञस्तु कथयन्नपि निह्नुते ॥ ७७ ॥

नीति शून्य पुरुष अपने हृदय के भावों को शीघ्र ही बाहर उगल देता है कुछ भी हृदय में नहीं बचा पाता है किन्तु नीतिज्ञ व्यक्ति कहते हुए भी छिपा लेता है।

मूर्खाणां समितौ विद्वान् सत्यज्ञानान्न पूज्यते ।
तेभ्य आदरप्राप्त्यर्थम् भजेत्तदनुकूलताम् ॥ ७८ ॥

मूर्खों की समिति में विद्वान् अपने यथार्थ ज्ञान द्वारा आदर नहीं पाता है उनसे आदर पाने के लिए तो उसे उन्हीं के अनुकूल होना पड़ेगा।

स्वायुर्वृद्ध्यैव जानाति वृद्धत्वमज्ञमानुषः ।
ज्ञानवृद्धेरभावे तु मूर्खाणां साम्यमेति सः ॥ ७९ ॥

वृद्धिस्त्वनुभवानां हि वृद्धस्य केवलाधिका ।
तदभावेन पूज्यः स्यात् वृद्ध आयुषि केवलम् ॥ ८० ॥

मूर्ख व्यक्ति आयु की अधिकता में ही 'वृद्धता' समझता है किन्तु ज्ञान में वृद्धि न होने पर वह भी मूर्ख ही है। वयोवृद्ध व्यक्ति में दूसरों से पाई जाने वाली विशेषता-अनुभवों की वृद्धि होना है, इस वृद्धि के अभाव में केवल आयुवृद्ध मनुष्य गौरव नहीं पाता है।

भ्रामितश्चाटुवाक्यैर्हि वाग्भिराकर्षकैश्चितः ।
स्वल्पज्ञानी यथा बालो ह्यसत्यं मन्यते सतम् ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार तरह २ के चापलूसी के वाक्यों से भरमाया हुआ तथा आकर्षक (सुनने में मनोहर) बातों से लुभाया हुआ अल्प ज्ञानी बालक झूंठ को भी सच समझ लेता है।

सुयोग्यो यो भवेद्यस्मिन् तं तस्मिन् विनियोजयेत् ।
अयोग्ये निहितं कार्यं नश्यतीत्यनुभूयते ॥ ८२ ॥

जो व्यक्ति जिस कार्य में सुयोग्य हो उसे उसी कार्य में लगावे अयोग्य को दिया गया कार्य तो नष्ट होता ही है यह अनुभव में आता रहता है।

नियुक्तोऽभ्यस्तकार्ये तु स्वल्पधीरपि पण्डितः ।
पण्डितश्चाप्यनभ्यस्ते नियुक्तो मूर्खवद्भवेत् ॥ ८३ ॥

अपने अभ्यास किये गये कार्य में नियुक्त साधारण बुद्धि

मनुष्य भी पूर्ण परिडत है। अनभ्यस्त विषय में नियुक्त होने पर परिडत भी मूढ़ सा हो जाता है।

प्रग्रहेण यथैकेन घोटकः प्रेरितो भवेत्।
सुमार्गे वा कुमार्गे वा सङ्केत परिवर्त्तनात् ॥ ८४ ॥

जैसे अभ्यस्त अश्व एक लगाम मात्र से ज़रा सा सङ्केत पाकर अच्छे या बुरे मार्ग पर चल पड़ता है।

माननीयो भवेल्लोके गुणेनैकेन मानवः।
चिराभ्यासी भवेद्यस्मिन् नानेकैः संशयान्वितैः ॥ ८५ ॥

अपने चिरकाल से अभ्यास किये हुए एक गुण से ही मनुष्य संसार में मान्य हो सकता है, संशयग्रस्त अनेक गुणों से भी नहीं होता है।

यत्र येन यथा यस्य यावद्यस्माद्धि यद् भवेत्।
तत्सर्वं कर्मणां भोगं मर्पयेच्छान्तवृत्तितः ॥ ८६ ॥

जहाँ जिस के द्वारा जिस प्रकार से, जिसका, जब तक, जिस कारण से जो कुछ भी हो, वह अपने कर्मों के उस भोग को शान्तवृत्ति से सहे।

ईश्वरं मानवञ्चापि कञ्चिदन्यन्न दूषयेत्।
स्वार्जितं स्वेन भोक्तव्य मवश्यं कर्मणां फलम् ॥ ८७ ॥

मनुष्य ईश्वर को या मनुष्य को किसी भी दूसरे को दोष न दे, अपने कर्मों के अर्जित फल को तो अवश्य भोगना पड़ेगा।

न कस्यापि स्थितः कोऽपि निर्माणे शक्तिमान् भवेत्।
दैवमेवास्ति निर्मातृ वर्तमान सहायवत् ॥ ८८ ॥

किसी की भी स्थिति के निर्माण में कोई भी समर्थ नहीं है, वर्तमान की सहायता पाया हुआ भाग्य ही मनुष्य का निर्माता है।

स्वस्वभावार्जितं दुःखं यो जानाति परैः कृतम् ।
तस्य ज्ञानविहीनस्य व्यर्थं हि परिदेवनम् ॥ ८९ ॥

जो अपने ही स्वभाव से अर्जित दुःख को जो दूसरों से किया हुआ जानता है उस ज्ञानविहीन व्यक्ति का रोना धोना व्यर्थ ही है।

अनाहूता समायाति कुटुम्बं क्लेशभावना ।
कृतेऽपि रोधनोपाये विशत्यन्तर्विशेषतः ॥ ९० ॥

क्लेश की भावनाएं विना बुलाये ही कुटुम्ब पर आ जाती हैं और रोकने का उपाय करने पर भी विशेष अन्दर घुसती ही जाती हैं।

पुण्यपापानि सर्वाणि ह्युत्पद्यन्ते निजान्तरात् ।
परारोपणमज्ञाना न्नदोषो बाह्यवर्तिनाम् ॥ ९१ ॥

पुण्य और पाप सभी अपने ही अन्तर से उत्पन्न होते हैं दूसरों पर इसका आरोप अज्ञान से किया जाता है, इस में बाह्यवर्ती लोगों का कोई दोष नहीं है।

खादने छादने वापि सर्वत्र सर्वकर्मसु ।
वर्तनं नियमेनैव लोक उन्नति कारकम् ॥ ९२ ॥

सभी जगह खाने पहिरने आदि सभी कार्यों में नियम से रहना उन्नति कराने वाला होता है।

दिवारात्र्यादि सर्वेषु मुख्यो नियम एव हि ।
जगतोऽस्य नियन्तापि नियमेनानुमीयते ॥ ६३ ॥

दिन रात आदि सभी में नियम ही मुख्य है इस संसार का नियन्ता भी नियमों के द्वारा ही अनुमान का विषय किया जाता है ।

सदैव दिनचर्यायां व्यवहारेषु सर्वथा ।
नियमेनैव सर्वत्र वर्तनीय सुखाशया ॥ ६४ ॥

सुख की आशा करने वाला मनुष्य सदा दिनचर्या में और सभी व्यवहारों में पूर्णतया नियम से ही रहे ।

नैरन्तर्ये तदावृत्तौ संकल्पस्य दृढस्थितौ ।
शनैः प्राप्यते लाभः स्वतन्त्रव्यवसायिभिः ॥ ६५ ॥

किसी एक ही कार्य की निरन्तर वार वार आवृत्ति करने पर संकल्प की स्थिति दृढ़ होने पर स्वतन्त्र व्यवसायी लोग शनैः २ लाभ पाते हैं ।

धनदा मानदा सैव स्वातन्त्र्यसुखदापि च ।
यस्य स्याद् दैवसंयोगात् प्रकृतिर्लोकसम्मता ॥ ६६ ॥

सौभाग्य से जिस मनुष्य की प्रकृति लोकप्रिय हो वही प्रकृति धन मान और स्वतन्त्रता के सुख को देने वाली है ।

स्वतन्त्र उद्यमः श्रेष्ठः प्रीत्योत्साहेन यः कृतः ।
स्वातन्त्र्याद् भाग्यवृद्धिः स्याद् तत्कुण्ठत्वन्तु सेवया ॥ ६७ ॥

प्रेम और उत्साह से किया हुआ स्वतन्त्र उद्यम ही अच्छा है, स्वतन्त्रता से भाग्य की वृद्धि होती है और नौकरी (सेवा) से भाग्य कुण्ठित होता है ।

बुद्धिर्विकसति स्फूर्तिः शरीरैप्यनुभूयते ।
पारवश्यम्परित्यज्य यदा ना स्ववशो भवेत् ॥ ९८ ॥

मनुष्य जब पराधीनता छोड़कर स्वतन्त्र हो जाता है तब उसकी बुद्धि विकसित होती है और शरीर में भी फुर्ती का सञ्चार होता है ।

कश्चिन्नैवयततेतार्त्तः संसारसुखसम्पदे ।
कर्त्तव्यकर्मसंसक्तं स्वयं धावति सा नरम् ॥ ९९ ॥

कोई भी दुःखी मनुष्य सांसारिक सुख सम्पत्ति के लिए प्रयासन करे । कर्त्तव्य कर्म में लगे हुए मनुष्य के पीछे तो सम्पदा स्वयं दौड़ती है ।

ज्ञानम्मानो धनं विद्या प्रभुत्वमायुरेव च ।
प्रेमभावस्तथैतेषा माधिक्यं गौरवाय वै ॥ १०० ॥

ज्ञान मान धन विद्या अधिकार वायु और प्रेम भाव इनकी अधिकता मनुष्य को गौरव प्रदान कराती है ।

माहात्म्यश्रवणं व्यर्थं चारित्रग्रहणं विना ।
कस्याप्युत्कृष्टजीवस्य कथामात्रन्न सिद्धिदम् ॥ १०१ ॥

जब तक चरित्र के गुण ग्रहण न किये जावें तब तक माहात्म्य (महिमा) सुनना व्यर्थ है । किसी भी उत्कृष्ट प्राणी की केवल कथा सिद्धिदायक नहीं हो सकती ।

चिन्तायामवसादे च शोकरोगविपत्तिषु ।
चिन्तयन्ति निमग्ना नो किमर्थजीवनं भुवि ॥ १०२ ॥

चिन्ता विषाद शोक रोग व विपत्ति में ग्रस्त होते हुए भी सत्पुरुष जीवन को निस्सार समझ कर दुःखी नहीं होते हैं।

दक्षोऽभिज्ञो मनोभावान् वाचात्वल्पं वदेद्धिया ।
विजानाति स वार्तायाः कृतेर्भावांस्तु चेष्टया ॥ १०३ ॥

चतुर ज्ञानी अपने मनों भावों को वाणी से तो कम किन्तु बुद्धि से अधिक कहता है। वह किसी बात या कृति के भावों को चेष्टा से जानता है।

भक्तो मातुः पितुर्नित्य मुत्साही विज्ञ आस्तिकः ।
प्रेमालुश्च विनीतश्चो लोको वै नरपुङ्गवः ॥ १०४ ॥

जो माता पिता का भक्त हो, सदा उत्साही हो, विज्ञ और आस्तिक हो, प्रेमी विनीत (नम्र) हो, ऐसा ही मनुष्य नर श्रेष्ठ है।

स्वधनं समयञ्चापि शरीरस्य परिश्रमम् ।
परार्थे यो ददाति स पूजनीयोऽनिश नरः ॥ १०५ ॥

जो अपना धन समय और शारीरिक श्रम दूसरों के लिए लगाता है वह सदा पूजनीय है।

गौरवस्यार्जने कुर्यात् सदा यत्नं सुबुद्धिमान् ।
गौरवान्न्यक्कृता विघ्नाः शाम्यन्ति स्वयमेव हि ॥१०६॥

बुद्धिमान् मनुष्य सदैव गौरव प्राप्ति का प्रयास करे, गौरव से नीचे किये गये विघ्न स्वयं ही शान्त हो जाते हैं।

कियान्विनगुणैरेव पूज्यतां याति मानवः ।
पूजनादपि पूज्यस्य पुण्यं भवति देहिनः ॥ १०७ ॥

मनुष्य क्रियाशील (Practical व्यावहारिक) गुणों से ही पूज्य होता है पूज्य व्यक्ति का सन्मान करने से मनुष्य को पुण्य होता है।

स्वभावान्मानवीजाति नवत्व नित्यमिच्छति ।
वाञ्छति दर्शितुञ्चापि नानाविध कुतूहलम् ॥१०८॥

स्वभाव से ही मानवजाति नित्य नवीनता चाहती है और भाँति २ के कुतूहल दिखाना चाहती है।

सर्वेषां प्राणिनां लोके नूतनत्त्वं प्रियं भवेत् ।
प्रायशो न पुराणेषु जनानां रमते मनः ॥१०९॥

विश्व में सभी प्राणियों को नवीनता प्यारी लगती है प्रायः पुरानी वस्तुओं में लोगों का मन नहीं रमता है।

नूतनत्त्वं हि सर्वत्र चितस्याकर्षणं भवेत् ।
प्रवृत्तिर्दृश्यत एषा ससारे सर्वप्राणिनाम् ॥११०॥

किसी भी विषय और वार्त्ता में नूतनत्व (नयापन) हो तब ही वह चित्ताकर्षक होता है संसार में मनुष्यमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति नयेपन में ही देखी जाती है।

कुविदः कोविदः केचित् केचिन्मिश्रस्वभावकाः ।
मस्तिष्कशक्तिसंयोगात् लोके नैकविधा जनाः ॥ १११ ॥

कुछ लोग तो स्वल्प ज्ञानी होते हैं और कुछ कोविद (पूर्ण पण्डित) होते हैं और कुछ लोग मिश्र स्वभाव के होते हैं, इस प्रकार मस्तिष्क शक्ति के संयोग से लोग कई प्रकार के होते हैं।

संसार उपदेशार्थं चतुर्धात्वं नृणां मतम् ।
तत्स्वभावानुकूलातः वाचोयुक्तिश्चतुर्विधा ॥११२॥

सर्वसाधारणास्त्वाद्याः मध्यमाश्च ततोऽपराः ।
तृतीय उत्तमाः प्रोक्ताः सर्वोत्कृष्टास्तुरीयकाः ॥११३॥

संसार में उपदेश ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार मनुष्य चार प्रकार के होते हैं अतः उनके स्वभाव के अनुकूल वाचोयुक्ति (वाग्व्यवहार) भी चार प्रकार के ही होते हैं। सब से प्रथम श्रेणी के साधारण व्यक्ति होते हैं उनसे ऊंचे स्तर के मध्यम उन से ऊपर उत्तम तथा चौथी प्रकार के सर्वोत्कृष्ट लोग होते हैं।

यादृशो यो भवेल्लोको वाचोयुक्तिर्हि तादृशी ।
अङ्गीकार्या बुधैर्नित्यं शिक्षासौकर्यकाङ्क्षिभिः ॥११४॥

शिक्षा की सुगमता के लिए बुद्धिमानों को चाहिए कि जो जैसा मनुष्य हो उसके लिए वैसी ही भाषणभङ्गी अपनावे।

प्रागेव परिणामं यः ध्यायति नरपुङ्गवः ।
शास्त्रज्ञानविहीनोऽपि भविष्यज्ज्ञोऽनुमीयते ॥११५॥

जो नर श्रेष्ठ पहले से ही परिणाम का ध्यान रखता है वह शास्त्रज्ञान शून्य होने पर भी भविष्यवेत्ता माना जाता है।

आगामि हानिलाभौ च देशकालौ च चिन्तयन् ।
स्वानुभूत्यनुसारेण करोति दूरदर्शकः ॥११६॥

दूरदर्शी मनुष्य आगामी हानि लाभ और देशकाल विचारता हुआ अपनी अनुभूति के अनुसार कार्य करता है।

योजनारम्भकाले हि प्रत्यवायान् विचारयेत् ।
तेषाञ्च परिहाराय चिन्ता प्राथमिकी क्रिया ॥ ११७ ॥

किसी भी योजना के प्रारम्भ करते समय उसके सम्भावित विघ्नों को तथा उनके परिहारों को (दूर करने के उपायों को) पहले से ही विचार ले, यही मनुष्य के लिये प्रथम करणीय है ।

दूरदर्शित्वमाप्तो हि भविष्यज्ज्ञो भवेज्जनः ।
व्यष्टिरूपत्रिकालज्ञः सर्वत्र जयमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

दूरदर्शिता वाला मनुष्य भविष्य को जानने वाला होता है अखण्ड महाकाल के व्यवहारोपयोगी खण्डीभूत भूत वर्तमान और भविष्य रूप तीनों व्यष्टियों को जानने वाला होता है. इस प्रकार तीनों कालों का ज्ञान रखने वाला दूरदर्शी ही सब जगह विजय पाता है ।

विच्छेदाय भवत्येव प्रेमाधिक्यमिति ध्रुवम् ।
सामान्यप्रेमभावस्तु प्रायशः स्थिरतामियात् ॥ ११९ ॥

प्रेम की अधिकता निश्चित रूप से वियोगकारी होती है सामान्य रूप से स्थित प्रेमभाव प्रायः स्थिर रहता है ।

न भक्त्या नैव दानाच्च नानुकूल्याच्च सेवया ।
स्वार्थस्य साधनान्नैव भवति प्रेम कर्हिचित् ॥ १२० ॥

भक्ति दान अनुकूलता सेवा और स्वार्थसाधनादि किसी भी विधि से प्रेम कभी नहीं होता है* ।

---

* प्रेम सर्वथा निरुपाधि होता है तथा उसकी उत्पत्ति भी स्वतः होती है उस में कोई अन्य कारण नहीं होता है । भक्ति से हुए प्रेम में पूज्य बुद्धि

यस्मिन् स्याद्यस्य सत्प्रीति स्तस्मिन् दोषो न दृश्यते ।
नावशिष्टस्तयोर्भेदः सायुज्यन्तत्र वर्तते ॥ १२१ ॥

जिसमें जिस व्यक्ति की प्रीति होती है उसमें उसे दोष नहीं दीखते हैं. उन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता है अपितु वहां सायुज्य हो जाता है ।

सर्वेषां लोकपाशनां प्रेमपाशोऽति दुस्सहः ।
हृदयं रुग्णतामेति नोपचारश्च जायते ॥ १२२ ॥

सभी प्रकार के लौकिक बन्धनों में प्रेमबन्धन बहुत दुस्सह है इससे हृदय बीमारी पकड़ लेता है और उसका कोई उपचार भी नहीं होता है अर्थात् इश्क लाइलाज बीमारी है ।

अहङ्कारस्य प्राधान्यं पृथग्भावेऽसुधारिणाम् ।
अहम्भावस्य नाशाद्धि सर्वत्र मेलनं भवेत् ॥ १२३ ॥

प्राणियों को एक दूसरे से अलग करने में अहंकार ही प्रधान है अहंभाव के नष्ट हो जाने से सब जगह मेल हो जाता है ।

सत्प्रीति दुर्लभा लोके दिव्यशक्तौ च सा स्थिरा ।
लौकिकी स्वार्थप्रीतिस्तु स्वार्थनाशाद् विनश्यति ॥ १२४ ॥

'एकत्व' में बाधक होती है उस में भक्ति का लक्ष्य कोई गुण विशिष्ट व्यक्ति होता है अतः हमारी उस व्यक्ति के प्रति भक्ति न होकर उसके उस गुण के प्रति है कालान्तर में उस गुण के अभाव में हमारी भक्ति उसमें हट जावे या उससे श्रेष्ठ किसी अन्य में हो जावे। इसी प्रकार दानादि तो प्रत्यक्षतः भौतिक तत्त्व हैं जो प्रेम में कारण नहीं होते हैं। प्रेम में तो क्यों कैसे का प्रश्न है ही नहीं, जब वहां क्यों कैसा है ही नहीं है तो टूटने का भय ही क्या ? निरधिकरण पदार्थ के गिरने का भय ही क्या ?

सत्प्रीति लोक में दुर्लभ है, यह दिव्य शक्ति में ही स्थिर है। स्वार्थमय लौकिक प्रीति तो स्वार्थनाश से नष्ट हो जाती है।

शास्त्रसम्मत सत्प्रीति न्न रून्ध्यात् कोऽपि कस्यचित् ।
सत्प्रीति रोधनादेव शापो लगति नान्यथा ॥ १२५॥

लोकेस्वार्थस्य सिद्ध्यर्थं मानहानि भयात्तथा ।
परेषां कोऽपि सत्प्रीतिं रुद्ध्वा प्राप्नोति किल्विषम् ॥१२६॥

कोई किसी की शास्त्र सम्मत सत्प्रीति को नहीं रोके. सत्प्रीति के रोकने से ही शाप लगता है अन्यथा नहीं।

संसार में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये या मानहानि के भय से कोई दूसरों की सत्प्रीति को रोक कर पाप का भागी होता है।

अवस्थासाम्यभावेन कुर्वन्ति प्रेम मानवाः ।
नावस्थासु समाना ये नान्योन्यन्ते मिलन्ति हि ॥१२७॥

अवस्था की समानता में ही मनुष्य परस्पर प्यार करता है। जो अवस्था में समान नहीं हैं वे परस्पर नहीं मिलते हैं।

कपोले नीलिमाभा तु नार्याश्च पुरुषस्य वा ।
सूचयेत् प्रेमचिंता वा चिन्तां गार्हस्थ्यमूलिकाम् ॥ १२८ ॥

स्त्री या पुरुष के गाल पर नीली झांई उनकी प्रेम सम्बन्धी चिन्ता या गृह की चिन्ता को सूचित करती है।

भवन्ति प्रीतयो लोके षड्धा विषययोगतः ।
मूर्तौ गुणेऽप्यवस्थायां व्यसने भयलोभयोः ॥१२९॥

शारीरिक रूप रङ्ग, गुण, अवस्था, लत, भय और लोभ इन ६ विषयों के योग से प्रेम होता है।

दुर्भावनाशनोपाये न क्षमः सौहृदं विना ।
सुहृदां मन्ततोपायैः कुभावो नश्यति ध्रुवम् ॥१३०॥

सद्भावों के विना कोई भी दुर्भावों के नाश करने में समर्थ नहीं, सुहृद्गण के निरन्तर उपायों से कुभाव निश्चय ही नष्ट होजाता है।

सहसैवाऽकृष्यते चित्त माकृष्टं ज्ञायते च तत् ।
अवर्णनीयमेवादः प्रेमाकर्षणमद्भुतम् ॥ १३१ ॥

चित्त अचानक खिंच जाता है और खिंच जाने पर ही इस बात का पता चलता है यह प्रेम का आकर्षण बड़ा अद्भुत और अवर्णनीय है।

परप्रीतिः प्रशस्ता न स्वीयप्रीतिः सदा शुभा ।
सहस्रेणापि यत्नानां परप्रीतिर्न तिष्ठति ॥ १३२ ॥

परप्रीति कभी अच्छी नहीं जानी गई है और स्वप्रीति सदा शुभ मानी गई है, हजारों कोशिशों से भी परप्रीति नहीं ठहरती है।

अर्थात् जो अपने हैं वह सदा अपने रहें तो उनके साथ किया गया मेलजोल ही सुखदाई होता है, जो पराये होते हैं वे पराये ही हैं कभी अपने नहीं होंगे। इसी भांति परकीया (पराई स्त्री) से प्रीति लगाना ठीक नहीं है स्वकीया से ही होना चाहिए।

प्रीतिस्तु तीक्ष्णा सूचीव चित्तं विध्यति वीक्षणात् ।
दुश्शब्दाश्महता प्रायः सद्यो भवति कुण्ठिता ॥ १३३ ॥

प्रीति तीखी सुई की तरह है जो देखते ही चित्त को बींध देती है और कठोर शब्दरूपी पत्थर से चोट पहुँचाई हुई शीघ्र ही कुण्ठित हो जाती है ।

विश्वासात्क्रियते पूजा विश्वासाद्दीयते धनम् ।
सम्बध्यते च विश्वासात् विश्वासो लोकवाहकः ॥१३४॥

विश्वास से ही पूजा की जाती है, विश्वास से ही धन दिया जाता है, विश्वास से ही पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं, अतः विश्वास ही संसार को चलाने वाला है ।

दृष्ट्वा पृष्ट्वा हि जानीयात् पुरावृत्तानि कस्यचित् ।
पश्चाद्धि विश्वसेत्पात्रं तत्कालन्तु न विश्वसेत् ॥ १३५ ॥

किसी भी व्यक्ति को देख कर पूछताछ कर उसका पूरा वृत्तान्त जाने पश्चात् योग्य पात्र के रुप में विश्वास करे तत्काल विश्वास न करले ।

अविश्वासस्यैव यत्र स्यात् पुंसां चेद्भावना हृदि ।
विग्रहस्तत्र नूनं स्यात् देशे ग्रामे गृहेऽथवा ॥ १३६ ॥

जहां पुरुषों के मन में अविश्वास की ही भावना होजाती है, वह देश हो गांव हो या घर हो वहां निश्चय ही कलह होगा ।

सत्यवादित्वसम्पन्न भयलोभादिवर्जितम् ।
प्रकृति शुद्धचारित्र्यं पुरावृत्तेन विश्वसेत् ॥ १३७॥

सत्यवादी हो भय लोभादि से वर्जित हो स्वभाव से ही शुद्ध चरित्र का हो ऐसे पुरुष का पुराने हाल चाल जान कर विश्वास करें।

स्वपुञ्जिकुञ्चिकोपाया दीयन्तेऽशङ्कमानसात् ।
ऋते परीक्षणं यत्तत् विश्वास इति कीर्त्यते ॥ १३८ ॥

धन राशि की कुञ्जी के उपाय विना परीक्षा के ही निश्शङ्क मन से सौंप देना विश्वास कहलाता है।

परमात्मनि वान्यत्र विश्वासश्चेद्दृढो भवेत् ।
तदाऽवाप्स्यति ससिद्धिं विश्वासो मूलसाधनम् ॥१३९॥

परमात्मा में या अन्यत्र यदि विश्वास दृढ़ हो जाता है तो उत्तम सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, विश्वास मूल साधन है।

अन्य सद्गुण प्राप्त्यर्थं आत्मानुभववृद्धये ।
वैद्यगुर्वादिप्रीत्यै च श्रद्धैवादावभीप्सिता ॥ १४० ॥

अन्य सद्गुणों की प्राप्ति के लिए अपने अनुभवों की वृद्धि के लिए वैद्य गुरु आदि की प्रसन्नता के लिए श्रद्धा की ही आवश्यकता है।

रोगो नश्यति विश्वासान्निर्धनोऽपि धनी भवेत् ।
विश्वासाद् वर्धते मानः विश्वासे सर्वसम्पदा ॥ १४१ ॥

विश्वास से रोग दूर हो जाते हैं निर्धन भी धनवान् हो जाता है विश्वास से ही मान बढ़ता है विश्वास में सभी सम्पत्तियां हैं।

सर्वेषां व्यवहाराणां मूलं विश्वास एव हि ।
प्रीतिश्च मनसस्तुष्टि र्विश्वासेनैव जायते ॥ १४२ ॥

विश्वासाद्वर्धते शक्ति रैक्यभावश्च जायते ।
आत्मीयत्वेन लोकैश्च परस्मै दीयते मनः ॥ १४३ ॥

सभी व्यवहारों का मूल विश्वास ही है, विश्वास से ही मन को सन्तोष मिलता है विश्वास से ही शक्ति बढ़ती है इसी से एकता के भाव जन्म लेते हैं। विश्वास से ही परायों को अपना मानते हुए मन दे दिया जाता है।

जगतो व्यवहाराणां मूलं विश्वास एव हि ।
सेचनीयं हि तन्मूलं सत्यवाक्कर्मवारिणा ॥ १४४ ॥

संसार के व्यवहारों का मूल विश्वास ही है, अतः विश्वास की जड़ को सच्चे वाणी और कर्म रूपी जल से सींचे।

न विश्वसेद् गिराटोपात् दृष्ट्वा वा कृत्रिमाकृतिम् ।
शपथेन सुवाचा वा सेवाधिक्येन नैव च ॥ १४५ ॥

किसी का लम्बी चोड़ी बनावटी बातों से या उसकी बनावटी आकृति देखने से, सौगन्ध खाने से, मीठा बोलने से और खूब सेवा से भी विश्वास न करे।

वञ्चको वञ्चयत्यन्यान् मृषार्थक प्रलोभनैः ।
प्रलोभनं विना कोऽपि पराधीनो भवेन्न हि ॥ १४६ ॥

धोखे बाज दूसरों को झूठे प्रलोभनों से ठगा करता है प्रलोभन विना कोई भी किसी का पराधीन नहीं होता है।

रूपं धरति दम्भी ना भक्तभावानुकर्षकम् ।
स्वान्तरं कुरुते गुप्तं करोति वृत्तिमन्यथा ॥ १४७ ॥

पाखण्डी व्यक्ति भक्तों के भावों को खीचने वाला रूप बनाता है और अपना हृदय छिपा लेता है तथा व्यवहार बदल डालता है ।

प्रतिज्ञां स्वीकृतां कश्चि दपृष्टोऽपि वदेद्यदि ।
मृषा विश्वासदानन्तत् कदापि करणाय न ॥ १४८ ॥

कोई अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा को पूछे बिना ही यदि बताता है तो यह उसका झूंठा विश्वास दिलाना है करना कराना कुछ नहीं है ।

स्वभावे नैत्यिकेऽकस्माद् वैशिष्ट्यं दृश्यते यदि ।
भाषणे वर्तने यस्य सावधानो भवेत्ततः ॥ १४९ ॥

यदि किसी व्यक्ति के दैनिक स्वभाव में या बोल चाल में अकस्मात् ही कोई विशेषता दीख पड़े तो उस व्यक्ति से सावधान रहे । उससे व्यवहार न करे ।

प्रागेव पूरितो यः स्यात् कथं स भरितो भवेत् ।
योऽनुभवति रिक्तं स्व मवश्यं स भरिष्यति ॥ १५० ॥

जो पहिले से ही भरा है वह फिर कैसे भर जायेगा । जो अपने आपको रिक्त (खाली) अनुभव करता है वही अवश्य भरेगा ।

मानीकृत्य निजं ज्ञानं परकीयं परीक्षते ।
सर्वे साधारणो लोके जानीयादधिकं कथम् ॥ १५१ ॥

प्रायः जन साधारण अपने ज्ञान की तराजू पर ही तो दूसरे के ज्ञान को तोलते हैं वे अधिक कैसे जान सकते हैं।

विद्वत्तरः परीक्ष्यात्तु वाञ्छितस्तत्परीक्षकः।
अतो दुष्टपरीक्षाया यतिदुष्टो ह्यपेक्षितः ॥ १५२ ॥

सुशीलः सरलो यस्तु न स दुष्टपरीक्षकः।
विशिष्टस्तादृशेष्वेव क्षमो दुष्टपरीक्षणे ॥ १५३ ॥

जैसे किसी विद्वान् की परीक्षा के लिए उससे अधिक ज्यादा विद्वान् की अपेक्षा होती है वैसे दुष्ट की परीक्षा के लिए उससे अधिक दुष्ट अपेक्षित है। जो सदाचारी और सीधा सादा है वह दुष्ट का परीक्षक नहीं हो सकता है। दुष्टों में ही कोई विशेष अगुआ दुष्टों को पहचानने में समर्थ है* ।

स्वकीयेनैव भावेन निर्मितं निखिलं जगत्।
स्वभावो यादृशो यस्य विचारस्तस्यतादृशः ॥१५४॥

अपने ही भावों से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है। जिसका जैसा स्वभाव है उसके वैसे ही विचार होते हैं और विचारों की छाया ही यह जगत् है।

---

* जैसे व्यञ्जक शब्द के प्रसंगानुसार नाना प्रकार के अर्थ लिये जाते हैं वैसे ही चेष्टाओं मुद्राओं और क्रियाकलापों के भी प्रसंगानुसार नाना प्रयोजन व अर्थ हो सकते हैं अतः दुष्टों की चेष्टाओं [illegible] ऐसा व्यक्ति जो कभी उन में नहीं रहा हो कैसे समझ सकेगा। जो [illegible] दुष्टों के मन में जिस रूप से उद्भूत होंगे उनके मन में वे वैसे [illegible]। बिना बाट के पदार्थ के माप का क्या पता? विभिन्न तोलों के लिए विभिन्न बाटों की आवश्यकता सदा रही है।

सौख्यदः पूर्णिमाचन्द्रः सर्वेषां हि प्रसादकः ।
सुन्दरं कोमलं पद्म स्वभावात्तन्न वाञ्छति ॥ १५५ ॥

पूर्णिमा का चन्द्रमा सुख देने वाला तथा सभी के मन को प्रसन्न करने वाला होता है किन्तु सुन्दर व कोमल पद्म स्वभावतः उसे नहीं चाहता है † ।

स्वप्रकृत्यनुसारेण सर्वत्र वर्तते नरः ।
सभायां सङ्गतौ कार्ये मतिदाने च शिक्षणे ॥ १५६ ॥

सभा सङ्गती कार्य मतदान आदि सभी अवसरों पर तथा शिक्षण में मनुष्य अपने ही स्वभाव के अनुसार व्यवहार करता है।

चतुरेङ्गित सारन्तु चतुरेणानुमीयते ।
चतुरस्येक्षणं वाक्य मन्यदेव च कौशलम् ॥ १५७ ॥

चतुर व्यक्तियों के संकेत के सार को चतुर ही समझता है। चतुर व्यक्ति का देखना बोलना तथा चातुर्य और ही होते हैं।

मतिं स्वीयामनुसृत्य, ज्ञातुं शक्नोति मानवः ।
स्वमतिमेवजानाति परमाश्चाति निश्चिताम् ॥१५८॥

मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार ही ज्ञानार्जन कर सकता है क्योंकि वह अपनी मति को ही उत्कृष्ट और अत्यन्त निश्चित समझता है।

---

† यहाँ पद्म का सुन्दर व कोमल विशेषण युग्म इस ओर संकेत कर रहा है कि इन दो गुणों के नाते भी इसका चन्द्रमा से तो सम्बन्ध और खरतर किरणमाली सूर्य से प्रकृति वैषम्य द्वारा औदास्य होना चाहिए किन्तु स्वभाव इन्हें दया देता है और कमल विपरीत आचरण करता है।

स्वीयामयोग्यतां ज्ञात्वा नैराश्यं हृदि नानयेत् ।
यतेत गुणवृद्धौ हि नश्यत्यगुणता स्वयम् ॥१५६॥

मनुष्य अपनी अयोग्यता जानकर हृदय में निराशा न लावे अपितु गुणवृद्धि के लिये यत्न करे इससे गुणों का अभाव स्वतः दूर हो जायगा।

योग्योऽपि चेदनुत्साही त्रासश्चेद् हृदि प्राप्नुयात् ।
कार्येऽक्षमा स्थिता वाचि योग्यता सा न योग्यता ॥१६०॥

योग्य होते हुए भी यदि उत्साहहीन है और हृदय में त्रास है। कार्य करने में असमर्थ केवल कहने भर की योग्यता योग्यता नहीं है।

प्रतिकूलाञ्जनान् दृष्ट्वा शूरोत्साहो विवर्द्धते ।
निकषः प्रातिकूल्यन्तु वृद्धिपथमुपेयुपाम् ॥ १६१ ॥

प्रतिकूल (विरोधी) लोगों को देख कर शूर का उत्साह बढ़ जाता है। उन्नति पथ के अभिलाषियों के लिए प्रतिकूलता एक कसौटी है।

अस्माच्चिन्तनकर्मभ्यां लाभश्चेत्प्राप्नुयात् परः ।
प्राप्नुयामो वयश्चापि लाभन्तद्वत् परैः कृतात् ॥१६२॥

यदि हमारे सोचे हुए या किये हुए से दूसरा मनुष्य लाभ पा सकता है तो हम भी दूसरों के सोचे और किये हुए का लाभ पा सकते हैं। मनुष्य अपने सोचे व किये का फल पाता है दूसरे का नहीं। इससे विपरीत सोचना या करना अपने को या दूसरों को धोखा देना है।

मानसोद्वेग शान्त्यर्थं विश्वासः सफलाश्रयः ।
प्राणिनां व्यवहारे तु विश्वासो मूलमुच्यते ॥१६३॥

मनके उद्वेग-घबराहट-की शान्ति के लिये विश्वास ही सफल सहारा है । प्राणियों के व्यवहार में विश्वास ही मूल कारण है ।

चेतसो भ्रमनाशाय चात्मनो बलवृद्धये ।
आधिव्याधि विनाशाय विश्वासोत्पादनं वरम् ॥१६४॥

चित्त की भ्रान्ति नष्ट करने के लिये तथा आत्मबल बढ़ाने के लिए आधिव्याधि नष्ट करने के लिए विश्वास उत्पन्न करना अच्छा है ।

विश्वासादर्प्यते प्राणः विश्वासान्मानसीस्थितिः ।
विश्वासात्प्राप्यते धैर्यं विश्वासः शान्तिदायकः ॥१६५॥

विश्वास से ही प्राण सौंप जाते हैं विश्वास से ही मानसिक स्थिति ठीक रहती है । विश्वास से ही धीरज मिलती है विश्वास ही शान्ति देता है ।

अविश्वस्तस्य विश्वासात् दुःखञ्चाप्युपजायते ।
तस्मात्तर्क वितर्काभ्यां विश्वासं चिनुयाद हृदि ॥१६६॥

अविश्वस्त व्यक्ति का विश्वास करने से दुःख ही होता है । अतः तर्क वितर्क द्वारा प्रथम हृदय में विश्वास ही चुनें ।

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः ।
शोकादि नाशकोपायो विश्वासो बुधसम्मतः ॥ १६७ ॥

विद्वानों की सम्मति में विश्वास ही जिस किसी प्रकार से भी हर एक प्राणी का शोक आदि का नाशक होता है ।

अत्रागच्छ गृहाणेदं न वदेत् पेशलो जनः ।
क्रयितुं कौशलादेव भवेयुर्विवशाः जनाः ॥१६८॥

चतुर दुकानदार कभी भी यहाँ आओ यह लो 'नहीं' कहता है, उसकी चतुराई से ही लोग खरीदने के लिये विवश होजाते हैं।

स्वश्लाघां तु समाकर्ण्य तुष्टा सर्वे भवन्ति हि ।
स्वकीयं विक्रमं श्रुत्वा को न व्यग्रः सुखी भवेत् ॥१६९॥

अपनी प्रशंसा सुनकर सभी लोग सन्तुष्ट होते हैं। अपना विक्रम सुनकर कौन व्यग्र व्यक्ति सुखी नहीं हो जाता है।

शक्तिशालिजनस्याग्रे विनीतत्वं प्रदर्शितम् ।
शक्तिह्रासं करोत्येव तस्येदं मन्त्रमद्भुतम् ॥१७०॥

ताकतवर व्यक्ति के सामने नम्रता दिखाने पर यह नम्रता उसकी शक्ति का ह्रास करती ही है यह एक अद्भुत मन्त्र है।

मृत्वा स्वर्गसुखं भुङ्क्ते न भुङ्क्ते पर पृच्छया ।
तथैवाग्रे स्वयं भूत्वा प्राप्नोति हि सहायताम् ॥१७१॥

मनुष्य मर कर ही स्वर्ग सुख भोग सकता है। केवल दूसरों को पूछ २ कर नहीं। वैसे ही मनुष्य स्वयं आगे बढ़कर ही सहायता पा सकता है। हाथों पर हाथ देकर बैठे हुए सहायतार्थी को कोई पूछता भी नहीं।

उड्डीनाय द्विजानां वै सहायो मारुतो भवेत् ।
स्वपक्षाभ्यां यदा स्फूर्तिं करोति स्वयमेव हि ॥१७२॥

पक्षियों के उड़ने में हवा भी तभी सहायक होती है जब वे स्वयं अपने पंखों से स्फूर्ति करते हैं पर फड़फड़ा कर उड़ने की हरकत करने पर ही पक्षी उड़ते हैं।

अनुत्साहस्सदा त्याज्यो जीवनार्थविनाशकः।
उत्साहो मन्यते पुण्यमनुत्साहश्च दुष्कृतम् ॥१७३॥

मनुष्य जीवन के प्रयोजन का सत्यानाश कर डालने वाला अनुत्साह सदैव त्याज्य है। उत्साह सदैव पुण्य है और अनुत्साह पाप है और पाप पतन में कारण है।

स्वशक्तेर्दृढविश्वास उत्साहाद्यः प्रजायते।
विज्ञेय ईश्वरः सैव तत्तुल्यो वा सहायकः ॥१७४॥

उत्साह के कारण होने वाला अपनी शक्ति का दृढ़ विश्वास ही ईश्वर या ईश्वर तुल्य सहायक है।

प्रयास एव सोत्साह उद्योग इति कथ्यते।
उद्योगाद् वर्धते शोभा लाभश्चाप्युपजायते ॥१७५॥

उत्साहयुक्त प्रयास ही उद्योग है। उद्योग से मनुष्य की शोभा बढ़ती है तथा उसे लाभ होता है।

येन केन प्रकारेण यत्र कुत्र यथा स्थिति।
भाग्यस्यान्वेषणं कार्यं नरा स्वातन्त्र्यमिच्छता ॥१७६॥

स्वतन्त्र जीवन बिताने का इच्छुक मनुष्य जिस किसी प्रकार से जहां कहीं भी जिस किसी स्थिति में भी निरन्तर भाग्य आजमाता रहे, ठोस परिश्रम करता हुआ भाग्य की अनुकूलता का प्रयास करे।

आस्थां विहाय वर्ज्येषु शिष्टेषु कर्मसूद्यतः ।
दैवगत्यां सुविश्वस्तो नभवेन्ना निरुद्यमः ॥१७७॥

लोक एवं शास्त्रवर्जित कर्मों में प्रवृत्ति न रखते हुए शिष्ट सम्मत अविष्ट कर्मों में निरत हो भाग्य पर भरोसा रखते हुए मनुष्य सदैव उद्यम करता रहे कभी भी निरुद्योग हो न बैठे।

सावधानेन कर्तव्य साध्यस्य साधनं सदा ।
कृतन्त्वनवधानेन कार्यं न स्याद्यथायथम् ॥१७८॥

मनुष्य सावधानी से लक्ष्य की सिद्धि करे। अनवधानता से किया गया कार्य सही तरीके से नहीं होता है।

स्वेच्छाया क्रियते यत्तु तदेवानन्ददायकम् ।
भयाल्लोभात् पराज्ञायाः प्रभावाद् दुःखदं कृतम् ॥१७९॥

जो कुछ स्वेच्छा से किया जाता है वही आनन्ददायक होता है, भय लोभ अथवा पराज्ञा से किया हुआ दुःखदायी होता है।

गुणास्त एव संग्राह्याः स्तूयन्ते ये परैरपि ।
भवेयुरन्य आकृष्टा न चाकृष्टः स्वयम्भवेत् ॥१८०॥

संग्रह करने योग्य गुण वे ही हैं जिन से मनुष्य अपने विरोधियों का भी प्रशंसापात्र हो. ऐसे गुणों से अन्य लोग तो अपने प्रति आकृष्ट होंगे स्वयं को किसी के प्रति आकर्षित नहीं होना होगा।

अतिशिक्षाखिलालोके प्रसृता लोकभाषया ।
इत्थं सर्वेऽपि वेदज्ञाः परन्त्वाचरणेऽक्षमाः ॥ १८१ ॥

वेद की समस्त शिक्षा लोक भाषा में सर्वत्र प्रसिद्ध है, इस प्रकार उनके द्वारा वेदज्ञ तो सभी हैं किन्तु आचरण में लोग असमर्थ हैं जो "ज्ञानं भारः क्रियां विना" क्रिया विना केवल भार ढोना है।

चित्तस्याकर्षकं कर्म चातुर्ययुक्तमद्भुतम् ।
उन्नेष्यति हि कर्तारं नवीनाध्वप्रदर्शकम् ॥ १८२ ॥

नवीन मार्ग दिखाने वाला, चित्त को आकर्षित करने वाला चतुराई से पूर्ण अद्भुत कर्म अपने कर्त्ता को निश्चय ही उन्नत करेगा। ऐसे कर्म का फल अवश्य मिलेगा।

लोकानुभवशून्योऽज्ञः कूपमण्डूकवद् भवेत् ।
प्रयत्नैरपि कूपस्थो वेत्ति नैवाब्धिगौरवम् ॥ १८३ ॥

लोकानुभव से सूना मनुष्य कूपमण्डक ही होता है। कुए का मेण्डक अनेक कोशिशों के बावजूद भी समुद्र के गौरव को नहीं जान पाता है।

अखर्वं गर्वमाधत्ते प्राप्याप्यल्पमकिञ्चन ।
स्वाधिक्यन्नैव जानाति पूर्णो यो हि स्वभावतः ॥ १८४ ॥

दरिद्र मनुष्य जरा सी वस्तु पाकर भी खूब घमण्ड करने लगता है। किन्तु स्वभाव से ही पूर्ण मनुष्य तो अपनी अधिकता को जान भी नहीं पाता है घमण्ड तो दूर किनार।

सत्यं प्रियतमं यस्य कस्माच्चिन्न बिभेति सः ।
लोभं लज्जां परित्यज्य सत्यं वदति सर्वथा ॥ १८५ ॥

जिसे सत्य ही एक मात्र प्रिय है वह किसी से भी नहीं डरता है। वह लोभ और लज्जा छोड़ कर सर्वथा सत्य ही बोलता है।

बहु भावान्विता लोका दृश्यन्ते जगतीतले।
कर्तव्यं मधुरया वाण्या भाषणं भावकर्षकम् ॥ १८६ ॥

विविध २ भावों के लोग इस दुनियां में हैं, अतः अपनी जबान से सुन्दर भावाकर्षक बात ही बोले। जिस से किसी का दिल न टूटे और न किसी से झगड़ा मोल लेना पड़े।

न वदेत् स्वान्तभावश्चेत् कस्मिश्चिद् विषये नरः।
स्पष्टभावेन जानीयात् तस्मिंस्तद् विपरीतताम् ॥ १८७॥

यदि किसी विषय पर मनुष्य अपने स्पष्ट मानसिक भाव व्यक्त नहीं करता है तो पूर्णरूप से उस विषय में उसकी असम्मति (विरोधी राय) जान लो।

यत्किञ्चिदपि यो ब्रूते विज्ञाता तन्मतिर्भवेत्।
विज्ञायते मतिर्नैव मौनिनः स्वल्पभाषिणः ॥ १८८ ॥

मनुष्य जो कुछ भी थोड़ा बहुत बोलता है उसी से उसकी राय का पता चल जाता है किन्तु जो मौन रहता है या सर्वथा मितभाषी होता है उसकी मति का पता नहीं चलता है।

मानवानां गुणा दोषाः प्राकाश्यं यान्ति भाषया।
वाण्या संस्कृतयैवातः भाषणीयं विचारतः ॥ १८९ ॥

बोलने से ही मनुष्य के गुण दोष प्रकट होते हैं अतः सदा विचारपूर्वक संस्कारित वाणी ही बोले।

दोषस्य स्वीकृतेरेव दोषार्धन्तु प्रणश्यति ।
प्रायश्चित्तात्तु सर्वो हि लेशतोऽपि विनश्यति ॥ १९० ॥

दोष स्वीकार कर लेने मात्र से आधा तो मिट ही जाता है और प्रायश्चित्त से सम्पूर्ण दोष राई रत्ती दूर हो जाता है।

न्यायदैर्मानवैर्यस्तु क्रियते दण्डनिर्णयः ।
स स्याल्लोकप्रबन्धार्थं कृतं पापन्न नश्यति ॥ १९१ ॥

न्याय व्यवस्था करने वाले मनुष्यों द्वारा किया गया दण्ड का निर्णय लोकप्रबन्ध में सहायक होता है (इससे अन्य अपराधी भविष्य के लिये सावधान हो जाते हैं) किया हुआ पाप तो नष्ट होता नहीं है।

पुरुषेण तु प्रागल्भ्यं प्राप्तव्यं सुखकाङ्क्षिणा ।
प्रगल्भतां विना कश्चि न्न भवेदादृतः क्वचित् ॥ १९२ ॥

सुखार्थी मनुष्य को गौरव प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, बिना प्रभावशीलता (गौरव) के मनुष्य कहीं भी आदर नहीं पाता है।

नानाचिन्ताभिभूतं हि जीवनं प्राणिनामिह ।
इच्छयानिच्छया वापि कर्तव्या दुःखविस्मृतिः ॥ १९३ ॥

संसार में प्राणियों का जीवन नाना प्रकार की चिन्ताओं से अभिभूत (ग्रस्त) रहता है। अतः मनुष्य चाहते हुए न चाहते हुए कैसे भी दुःख भूलने का उपाय करें।

स्मृतिर्दुःखस्य हेतुः स्याद् विस्मृतिः सुखकारणम् ।
दुर्ह् दां दुष्टवाक्यानां विस्मृतिः सौख्यदा भवेत् ॥ १९४ ॥

याद्दाश्ती (जिसमें अन्तः प्रक्रियाओं द्वारा अतीत घटना का पुनरावर्तन होता है) दुःख पैदा करती है और भूल सुख देती है। दुर्भाव रखने वाले लोगों के दूषित वचनों को भूल जाना ही सुखदायक होता है।

परेण विहितां निन्दां स्वस्मै स्वीकुरुतान्न वै ।
कर्तुः स्वभाव केलिः सा क्रियतेऽनुदिनन्तथा ॥ १६५ ॥

मनुष्य अन्य पुरुष द्वारा की गई निन्दा को (अपनी प्रति क्रियात्मक भावनाओं को जन्म न देते हुए) स्वीकार ही न करे, निन्दा तो करने वाले की स्वाभाविक क्रीड़ा है जिसे (मनस्तुष्टि के लिये वह बेचारा) रोज करता है।

वैर निर्यातनन्नेच्छे न्न स्मरेदन्यथा कृतम् ।
विस्मरेत् प्राक्कृतं सर्वं भावशुद्धिर्भविष्यति ॥ १६६ ॥

मनुष्य वैर शोधन (बदला) न चाहे न किसी के किये हुए अपकार को ही याद करे, पहले किये हुए को भूल जावे, इससे भाव शुद्ध हो जावेंगे।

सर्वत्र निखिलावस्था स्वाधिक्यं हि विशिष्यते।
शुक्रस्य तत्सुत सूते रजसश्च सुतां यथा ॥ १६७ ॥

सभी जगह सभी अवस्थाओं में 'अधिकता' की ही विशेषता रहती है। जैसे शुक्र की अधिकता पुत्र को पैदा करती है और रज की अधिकता कन्या को।

भाग्यस्यैव प्रभावेण स्वल्पादेवाधिकं फलम् ।
प्राप्नोति मानवो यत्नात् वैपरीत्ये असव्ययम् ॥ १६८ ॥

भाग्य के प्रभाव से ही मनुष्य थोड़े यत्न के द्वारा भी अधिक फल पा लेता है किन्तु इससे विपरीत अवस्था में तो परिश्रम करके केवल श्रम व्यय ही पाता है।

श्लाघाप्रयुक्तशब्दास्तु रक्षणीयाः सदा स्मृतौ ।
यथार्थास्ते भवन्त्विति नोचेद् भूयात् प्रतारणाः ॥ १६६ ॥

प्रशंसा में प्रयुक्त शब्दों को मनुष्य सदा स्मृति कोष में सुरक्षित रक्खे जिससे वे यथार्थ हों अन्यथा केवल प्रतारणा (ठगाई) होगी।

प्राप्नोति मानवः शक्तिं स्वशक्तेरेव बोधनात् ।
सुप्तां शक्तिं शरीरेऽस्मिन् विधिनोद्बोधयेद्बुधः ॥२००॥

मनुष्य अपनी शक्ति के उद्बोधन से ही शक्ति पासकता है, अतः शरीर में प्रसुप्त (सोई हुई) निष्क्रिय शक्ति को उपायो द्वारा जगाने का प्रयास करे।

स्वशक्तिमविचार्यैव परश्लाघाभिमानतः ।
कार्यभारं समुत्थाप्य पराक्रान्त्या पतेदधः ॥ २०१ ॥

अपनी सामर्थ्य विचारे बिना ही केवल दूसरों से की गई प्रशंसा के अभिमान से कार्य का बीड़ा उठा कर मनुष्य भयङ्कर भार से नीचे गिर पड़ता है।

पुनः कारयितुं कार्यं कृतस्य सौष्ठवाय च ।
साहसस्य च वृद्धयर्थं प्रशंसा महती कला ॥ २०२ ॥

पुनः कार्य कराने के लिये, किये जाने वाले कार्य की सुदृढ़ता के लिये तथा साहस की वृद्धि के लिये प्रशंसा उत्तम कला है।

मिलेन्न क्रयिको यस्य महार्घस्यापि वस्तुनः ।
देयन्तदल्पमूल्येन क्रयिकैर्हि महार्घता ॥ २०३ ॥

यदि किसी बहुमूल्य वस्तु का भी खरीददार न मिले तो उसे कम कीमत पर ही बेच डाले क्योंकि वस्तु की बहुमूल्यता उसके खरीददारों पर निर्भर है।

विक्रेत्रा कर्षकोशोभा कर्तव्या बुद्धिकौशलात् ।
तथा कुर्याद् वदेचापि ग्राहको येन तुष्यतु ॥ २०४ ॥

विक्रेता अपने बुद्धिचातुर्य से इस प्रकार आकर्षणपूर्ण शोभा बढ़ावे जिससे कि ग्राहक प्रसन्न हो जावे तथा लेने को बाध्य हो।

कार्यसिद्धौ तु सर्वत्र प्रच्छन्नं बुद्धि कौशलम् ।
ज्ञातुं शक्नोति नाज्ञस्त ज्जानाति हि विचक्षणः ॥ २०५ ॥

कार्यसिद्धि में सभी जगह बुद्धिकौशल छिपा रहता है जिसे अज्ञ (कम अक़्ल) पुरुष नहीं जान सकता है केवल चतुर मनुष्य ही जान पाता है।

विज्ञाय ग्राहकेच्छां हि विक्रेत्रा वस्तुसंग्रहः ।
कर्तव्यः स्वस्य लाभाय हानिस्त्वितरथा भवेत् ॥ २०६ ॥

ग्राहकों की इच्छा को जानकर ही दुकानदार वस्तुओं का संग्रह अपने लाभ के लिये करे. ऐसा न करने पर हानि होगी।

आपणीयाः सद्बुद्धिं दृष्ट्वान्यान्भुक्तभोगिनः ।
यशोदा स्वास्थ्यदा या स्याद् यौवने मार्गदर्शिका ॥ २०७ ॥

दूसरे भुक्तभोगियों को देख कर मनुष्य यशदायक स्वास्थ्य-प्रद तथा यौवन में पथप्रदर्शन करने वाली सुबुद्धि पाने का यत्न करे।

प्रसिद्धो न भवेत् कोऽपि न शक्तः स्याद् धनार्जने।
न चापि लभते मानं बुद्धेः प्रखरतां विना ॥ २०८॥

तीक्ष्ण बुद्धि बिना न तो कोई प्रसिद्ध होता है न धन ही कमा सकता है और न मान ही पाता है।

यस्य स्याद् विकृता बुद्धि सज्ज्ञानोऽप्यनृतं वदेत्।
कुमतिदृढविश्वासः उन्मत्त इव जायते ॥ २०९॥

जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है वह अच्छा ज्ञानवान् होते हुए भी अनृत (असत्य) बोलता है, कुमति में उसका विश्वास जम जाता है तथा उन्मत्त (पागल) सा हो जाता है।

ध्यायति सवितुर्भर्गं बुद्धेः सत्प्रेरणाय वै।
गायत्र्यां ब्राह्मणो नित्यं भुक्तिदा बुद्धिरेव नः ॥ २१०॥

हमारी बुद्धि ही भोगों की देने वाली है इसीलिये ब्राह्मण सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए गायत्री मन्त्र में भगवान् सविता (सूर्य देव) के तेज का नित्य ध्यान करता है।

सुकर्मणां प्रभावेण सुबुद्धिः प्रेरिता भवेत्।
दुष्कर्मणां प्रभावेण दुर्बुद्धिरुत्पद्यते ॥ २११ ॥

बुद्धिरेव मनुष्याणां हेतुः कर्मफले मता।
कदापि दूषणीयोऽन्यो नैवातः सुखदुःखयोः ॥ २१२ ॥

अच्छे कर्मों के प्रभाव से सुबुद्धि प्रेरित होती है और बुरे कर्मों के प्रभाव से कुबुद्धि उपजती है। बुद्धि ही मनुष्य के कर्मफल में हेतु है अतः मनुष्य कभी भी अपने सुख दुःख में दूसरों को माध्यम नहीं माने।

बुद्ध्यैव मानवो लोके कर्मणां फलमश्नुते।
सत्पथे कुपथि नेतुं बुद्धिरेव तु नायिका ॥२१३॥

बुद्धि से ही मनुष्य संसार में कर्मों का फल पाता है मनुष्य को सुपथ या कुपथ पर ले जाने वाली बुद्धि ही है।

कार्यसम्पादने कार्यस्यानुकूल्यं सदा स्मरेत्।
आनुकूल्यं विना कार्यं कदापि सिद्धिमेति न ॥ २१४ ॥

कार्यपूर्ति के लिये मनुष्य कार्य की अनुकूलता का ध्यान रक्खें अनुकूलता बिना कोई भी कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होता है।

लोकरुच्यनुसारेण वर्तते हि विचक्षणः।
यथैवं मानमाप्नोति न तथा भयदर्शनात् ॥ २१५ ॥

चतुर आदमी जनसमुदाय की रुचि के अनुसार व्यवहार करता है इस प्रकार चल कर वह जितना सम्मान पाता है उतना जनता को भय दिखा कर नहीं।

अपि स्वस्योचितारम्भे नानुकूल्यं भवेद्यदि।
विद्यात्तदीश्वरेच्छां हि स्वस्य वा कर्मणः फलम् ॥२१६॥

नाऽप्रसन्नो भवेत्तेन गर्हणं चापि नोचितम्।
शान्तवृत्त्या सहन्नेव कुर्यात्तत्कालयापनम् ॥२१७॥

तस्माद् विज्ञः प्रतीक्षेत तत्कालस्य शुभागमम् ।
क्रोधेन निन्दया वापि नात्मानमवसादयेत् ॥२१८॥

उचित पद्धति से कार्यारम्भ कर देने पर भी यदि अनुकूलता नहीं होवे । इसे ईश्वर की इच्छा या अपने कर्म का फल समझे तथा इससे न तो दुःखी होवे और न निन्दा ही करे । शान्तवृत्ति से सब कुछ सहते हुए उस समय को गुजारे । इस कालयापन से बुद्धिमान् पुरुष कार्यसिद्धि के लिए उपयुक्त उत्तम समय के शुभागमन की प्रतीक्षा करे । क्रोध या निन्दा से अपने आप को अवसाद (अप्रसन्नता और चिड़चिड़ेपन की दशा) में न डाले ।

कथावाचकवर्गस्तु कथां श्रोतृमनोरमाम् ।
जनान् श्रावयति प्रायो यथा लाभोऽधिको भवेत् ॥२१९॥

प्रायः कथावाचक लोग जनता के कानों को प्रिय लगने वाली कथा सुनाया करते हैं जिससे कि अधिक लाभ होवे ।

श्रोतृबुद्ध्यनुसारेण कथां वार्तां करोति यः ।
असावेव भवेन्मान्यः सभायां चतुरः सुधीः ॥२२०॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य श्रोताओं की बुद्धि के अनुसार कथा-वार्ता करता है वही चतुर मनुष्य सभाओं में मान्य होता है ।

नादितः परलोकाप्ति र्लोकसिद्धिं विना भवेत् ॥
पूर्णसौख्याप्तये तस्माद् यतेत लोकसिद्धये ॥२२१॥

लोक सिद्धि हुए बिना प्रारम्भ में ही परलोक की प्राप्ति नहीं हो जाती है अतः पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिए लोकसिद्धि प्राप्त करे ।

देवार्चने समारोहे कथायामुत्सवे तथा ।
ध्याने ज्ञाने स्तुतौ पाठे लोकसिद्धिर्हि याच्यते ॥२२२॥

देव पूजन, उत्सव, कथा, समारोह, ध्यान, ज्ञान, स्तुति और पाठ आदि में लोकसिद्धि (सांसारिक सफलता) प्रथम लक्ष्य है।

जीविकायाः शरीरस्य हानि र्मानस्य मा भवेत् ।
एतदेव मनुष्यस्य परस्माद् भयकारणम् ॥२२३॥

मेरी जीविका शरीर और सम्मान में क्षति न पहुंचे इसी कारण से मनुष्य दूसरों से डरता है।

सर्वान् प्राणभृतो लोके युनक्त्याशैव कर्मसु ।
निर्धना धनिनो वापि कुर्वन्त्याशावलम्बितः ॥२२४॥

सभी प्राणियों को आशा ही विविध कर्मों में लगाती है। निर्धन हो या धनवान् सब आशा के सहारे ही धन्धे करते हैं।

आवश्यकतयैवात्र नरोऽन्यस्यवशे भवेत् ।
यो भवेद् वशगो यस्य स याति तस्य सान्निधौ ॥२२५॥

आवश्यकता से ही मनुष्य दूसरों के वश में होजाता है, जो जिसके वश में होता है वही उसके पास जाता है।

कदापि कुत्रचित् कश्चित् न स्वार्थांशं विना भुवि ।
प्राणिनि वस्तुमात्रे च मनोवृत्तिं युनक्ति ना ॥ २२६ ॥

कोई भी व्यक्ति कभी भी कहीं भी किसी अन्य प्राणी में या वस्तु में विना स्वार्थ के मन नहीं लगाता है अर्थात् प्राणियों के सभी सम्पर्क सदैव स्वार्थमूलक होते हैं।

स्वार्थलेशं विना यस्तु भवेद्धि हृष्टमानसः ।
वन्देऽहं साञ्जलिर्लोके वक्तारं प्रेमभावतः ॥ २२७ ॥

जो विना स्वार्थ ही प्रसन्न मन है सभी से प्रेम भाव से बोलने वाले मनुष्य को मैं साञ्जलि प्रणाम करता हूं ।

हितं यस्य भवेद्येन प्रियस्तस्यैव स भवेत् ।
गुणाढ्यः सम्पदाढ्योऽपि हितो नोचेन्निरर्थक ॥ २२८ ॥

जिससे जिसका हित होता है वही उसका प्रिय होता है मनुष्य गुण और सम्पत्ति से भरा पूरा होते हुए भी यदि किसी का हित नहीं करता है तो दूसरों की दृष्टि में वह निर्थक (नालायक) है ।

सर्वे कुर्वन्ति स्वार्थं हि परमार्थस्य नामतः ।
स्वार्थं विनागतिर्नास्ति सर्वेषामपि प्राणिनाम् ॥ २२९ ॥

सभी लोग परमार्थ के नाम पर अपना ही मतलब बनाते हैं । सभी प्राणियों का स्वार्थ साधन विना कोई लक्ष्य ही नहीं है।

पुत्रपुत्री कलत्राणि स्नुषा भ्राता च बान्धवाः ।
आशापूर्तेरभावेन भवन्ति वैरिणो ध्रुवम् ॥ २३० ॥

पुत्र पुत्री पत्नी पुत्रवधू भाई और बान्धव सभी आशापूर्ति के अभाव से निश्चय ही वैरी हो जाते हैं ।

सन्तुष्टो भक्ष्यवस्त्राद्यैः सेवाकार्यं करोति चेत् ।
सद्भावो गण्यत एतन् लोभ एव ततोऽन्यथा ॥२३१॥

जो खाने पहरने आदि से ही पूर्ण सन्तुष्ट होकर सेवा कार्य किया जाता है वही सद्भावपूर्ण माना जाता है इस से अन्यथा लोभ ही है । सेवा नहीं ।

अन्नाभावादुपोपेच्चे न्नोपवासो निगद्यते ।
स्वार्थभावात् कृता सेवा विज्ञैः सेवा न मन्यते ॥ २३२॥

जैसे अन्न की कमी से फांके निकालना उपवास नहीं कहलाता है वैसे स्वार्थपूर्ण भावनाओं से की गई सेवा. सेवा नहीं मानी जाती है वह तो चाकरी है।

प्रधाना सर्वदोपेषु भावनाहङ्कृतेर्मता ।
दुर्गुणस्यास्य नाशाय प्रार्थनैकौपधिर्वरा ॥ २३३ ॥

सभी दोषों में अहङ्कार की भावना ही प्रधान दोष है. इस दुर्गुण के विनाश के लिए प्रार्थना ही एक उत्तम औषधि है।

गुणा हि लाघवे प्रोक्ता दोपास्तु गौरवे पुनः ।
लाघवेनोद्गतिर्भूयात् गौरवेण निमज्जनम् ॥ २३४ ॥

नम्रता में अनेक गुण बताये गये हैं और गौरव में अनेक दोष। लाघव (हल्केपन व नम्रता) से मनुष्य ऊपर उठता है और गौरव (भारीपन तथा अहंकार) से डूबता है।

विचाराः परिवर्तन्ते कालस्य परिवर्तनात् ।
पुरातनोऽपि धन्य सः प्राप्तकालं करोति यः ॥ २३५ ॥

समय के परिवर्तन से विचार भी बदलते रहते हैं. पर पुराना मनुष्य भी धन्य है जो समयानुसार चलता है।

नवन्न जायते किञ्चि दत्रत्र सर्वमादितः ।
रूपान्तरपदार्थानां नवीनमभिधीयते ॥ २३६ ॥

यहां नवीन कोई वस्तु पैदा नहीं होती है. सभी कुछ प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं। केवल पदार्थों का स्वरूप परिवर्तन ही नवीन नाम से पुकारा जाता है।

न वदेद् हृद्गतं भावं लोकेषु व्यवहारवित् ।
नियतीश्वरविश्वासी सुस्पष्टं भाषते नरः ॥ २३७ ॥

व्यवहारनिपुण मनुष्य अपने हृदय के भाव जनसाधारण में प्रकट न करे, केवल नियति (दैव) और ईश्वरविश्वासी पुरुष ही स्पष्ट कहता है।

वक्तिनो हृद्गतं भावं लोकेषु व्यवहारवित् ।
नियतीश्वरविश्वासी सुस्पष्टं भाषते नरः ॥ २३८ ॥

व्यवहारनिपुण व्यक्ति अपने मनोभाव जनसाधारण में प्रकट नहीं करता है। केवल ईश्वर और भाग्य पर भरोसा रखने वाला ही हृदय के भाव स्पष्टरूप से कह देता है।

वाण्या पटुतया यस्तु विश्वसनीयं वदेद्वचः ।
तस्याल्पेनैव कार्येण परीक्षेत प्रमाणताम् ॥२३९॥

जो चतुरवाणी से विश्वास करने लायक वचन कहता है, उसकी वास्तविकता उसके कार्य द्वारा ही ज्ञात की जा सकती है।

हृदयान्निःसृतो भावः प्रभावं कुरुते हृदि ।
मस्तिष्कान्निसृतो भावः मस्तिष्के प्रभवत्यपि ॥२४०॥

हृदय से निकला हुआ भाव सीधा हृदय पर प्रभाव डालता है और मस्तिष्क (बुद्धि कौशल) से कहा गया भाव केवल मस्तिष्क पर ही प्रभाव डालता है, हृदय को छूता भी नहीं।

प्रार्थना स्वकृता श्रेष्ठा वृथा स्यादन्यकारिता ।
स्वकृता हृदयं याति कारिता केवलं श्रुतिम् ॥ २४१ ॥

प्रार्थना स्वयं की हुई ही अच्छी रहती है दूसरे से कराई हुई व्यर्थ होती है। स्वयं द्वारा की गई प्रार्थना हृदय में जाती है कराई हुई केवल कानों तक पहुँचती है।

सांकुरां धरणीं सिञ्चेत् वृक्षो भूयादितीच्छया।
भूमेर्निरङ्कुरायास्तु सेचनं व्यर्थमेव हि ॥२४२॥

वृक्ष उत्पादन की इच्छा से अंकुरयुक्त धरती को ही सींचना चाहिए। बिना अंकुर वाली जमीन को सींचना व्यर्थ है * ।

दण्डनीति प्रयोगेण सुमार्गं उद्धतन्नयेत्।
सूनृतया जनो दण्ड्यो नैव गृह्णाति सन्मतिम् ॥२४३॥

उद्दण्ड पुरुष को दण्डप्रयोग द्वारा मनुष्य सुमार्ग पर लावे। दण्ड पाने योग्य मनुष्य कभी भी मधुर वाणी से सुमति ग्रहण नहीं करेगा। लातों के देव बातों से नहीं मानते हैं।

प्राणान्दातुं युवा नैव शङ्कते योवने परम्।
वार्धक्ये शक्तिहानौ तु किञ्चिद् दातुन्न वाञ्छति ॥ २४४ ॥

युवा व्यक्ति अपने यौवन में प्राण भी अर्पित करने में नहीं झिझकता है किन्तु बुढ़ापे में शक्ति क्षय हो जाने पर वह कुछ भी नहीं देना चाहता है।

---

* जहां फल प्राप्ति में कारणभूत उदार गुणों का सहारा हो वहां तो प्रार्थना करना ठीक है अन्यथा कोमल गुणों के अभाव में ऊसर हृदय के प्रति प्रार्थना करने से क्या लाभ? इसी प्रकार शिक्षा देने या किसी से सम्पर्क बढ़ाने के लिये भूमि की योग्यता देखना सर्वत्र आवश्यक है जिससे प्रयास उचित दिशा में होकर फलप्रद हो।

दूरस्थः पूज्यते यो वै प्रत्यक्षे सोऽवमन्यते ।
निर्द्वन्द्व पूज्यभावाय परोक्षत्वं प्रशस्यते ॥ २४५ ॥

दूर देशस्थित जो लोगों से आदर पाता है वही निकट आने पर कम निगाह (साधारण दृष्टि) से देखा जाता है, इसी लिए निर्द्वन्द्व आदर प्राप्त करने के लिए परोक्षता सदा अच्छी मानी गई है ।

भुक्त्वाप्यनुचितं कष्टं दुराशिषो ददाति न ।
तथा च सहते तूष्णीं दुराशीः सा विनाशिनी ॥ २४६ ॥

अनुचित कष्ट सहकर भी जो दुराशीष नहीं देता है तथा चुपचाप सब कुछ सह लेता है, उसका यह सहना ही सर्वनाश करने वाली दुराशीष है ।

विपन्नाद्धनिकात् श्रेष्ठः स्वस्थचित्तो ह्यकिंचन ।
धनिनो व्यग्रचित्तस्य किन्धनेन किमायुषा ॥ २४७ ॥

दुःखी धनिक से तो स्वस्थचित्त दरिद्र अच्छा है, सदैव व्यग्र चित्त वाले धनिक के धन से और आयु से क्या लाभ ?

सुखसम्भोगवृद्ध्यर्थं धनं सञ्चीयते जनैः ।
यदि चेद् भुज्यते तन्न दुःखायैवार्जनं भवेत् ॥ २४८ ॥

सुखभोग की वृद्धि के लिये ही तो लोग धन इकट्ठा करते हैं यदि उस धन का भोग न किया जावे तो वह अर्जन (कमाना) केवल दुःखदायक ही होता है ।

जीवनार्थं मयाज्ञातं वित्तमेव विलक्षणम् ।
अर्थस्यैवार्जनं दानं दृश्यते जीवनार्थदम् ॥ २४९ ॥

जीवन के लिये मैंने धन को ही विलक्षण माना है धन का कमाना और व्यय में देना मिल कर ही जीवन के प्रयोजन की पूर्ति करने वाले हैं।

सेचनं द्रव्यवृक्षस्य तद् द्रव्यस्य व्ययो भवेत् ।
व्ययपानीयसिक्तोऽसौ वृक्षो भवति पुष्पितः ॥ २५० ॥

व्यय करना ही धन रूपी वृक्ष का सींचना है, व्यय रूपी जल से सींचा हुआ वह वृक्ष पुष्पित होता है।

भवेयुः सर्वकर्म्माणि स्वकीयानि यथेप्सितम् ।
आनुकूल्यं स्वकीयाना मेतद्धि लक्षणं मुदः ॥ २५१ ॥

अपने सभी कार्य मनचाहे रूप से हों तथा अपने लोगों का अनुकूल रहना यही प्रसन्नता का प्रमुख लक्षण है।

यत्र मूल्यमनादेयं ग्राह्यन्तु तत्र प्रार्थनम् ।
प्रार्थनया विना दत्त ञादरं लभते क्वचित् ॥ २५२ ॥

जहाँ किसी पदार्थ का मूल्य न लेना हो वहाँ कम से कम प्रार्थना तो करवावे ही। प्रार्थना के विना दी हुई वस्तु कहीं भी आदर नहीं पाती है।

सुविद्यस्तर्कयुक्तस्तु शङ्कतेऽगण्यवस्तुषु ।
कृपकोऽपठितो वापि ब्रूते हि निश्चित धिया ॥ २५३ ॥

अच्छा पढ़ा लिखा तार्किक व्यक्ति साधारण २ बातों में भी शङ्का करता है परन्तु किसान अपढ़ भी निश्चित बुद्धि से बात कह देता है।

ऐक्यभावो नृभिः पोष्यो जयदस्सौख्यदस्तथा ।
गृहे जातौ मते देशे बलदः स्याद् विशेषतः ॥ २५४ ॥

जय एवं सुख देने वाले एकता के भावों को मनुष्य सदा पुष्ट करें । एकता के भाव जाति मत (सम्प्रदाय) और देश में होने पर विशेष बलपूर्ण होते हैं ।

प्रकृतयो मनुष्याणां विविधा सन्ति भूतले ।
मिथो युञ्जन्ति नो चेत्ता न विषण्णो भवेज्जनः ॥२५५॥

पृथ्वी पर मनुष्यों की प्रकृति भिन्न २ होती है यदि वह परस्पर न मिलते हों तो मनुष्य को दुःखी नहीं होना चाहिये ।

अविश्वासः कुभावश्चा विनीतत्वस्य भावना ।
समुत्पन्ना करोत्येव पृथक्त्वं स्वजने गृहे ॥२५६॥

अविश्वास दुर्भाव और उद्दण्डता की भावना पैदा होने पर स्वजनों में और घर में फूट (विभाजन) करती ही है ।

भोगत उन्नतिर्या स्यात् सैवास्त्यनुभवोन्नतिः ।
आकस्मिकोन्नतिर्या स्यात् सा भवेद् भाग्यतोऽञ्जसा ।२५७॥

कर्म फल भोगते २ मनुष्य की जो उन्नति होती है वही अनुभव से होने वाली उन्नति होती है और जो अचानक उन्नति होती है वह भाग्य से शीघ्र ही होती है ।

दृष्ट्वा वृद्धत्वमन्त्येव शिरांसि गुण भारतः ।
नृणां गुणवतान्नित्यं कदाप्य गुणिनान्नहि ॥२५८॥

गुणवान् व्यक्तियों का मस्तक वृद्ध पुरुषों को देखकर गुणों के भार से स्वतः झुकते हैं किन्तु गुणहीन व्यक्तियों का सिर कभी नहीं झुकता है।

तितिक्षा सारगुप्तिश्च कूटनीतिज्ञ लक्षणम् ।
शक्तिमतोऽपि वीरस्य तदेव लक्षण वरम् ॥ २५९ ॥

स्वस्य च कूटनीतिज्ञो दृढया स्वप्रतिज्ञया ।
सारगुप्त्या करोत्येव क्लिष्टं कार्यमपीप्सितम् ॥ २६० ॥

तितिक्षा और सारगुप्ति कूटनीतिज्ञ का लक्षण है। शक्तिशाली वीर का भी यही उत्तम लक्षण है। कूटनीतिज्ञ पुरुष अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से और सारगुप्ति (हृदय के वास्तविक गूढ़ भावों को छिपाये रखने) से अपने इच्छित कठिन कार्य को भी पूरा कर लेता है।

हिता सत्या प्रिया वाणी प्रशस्ता भाषणे मता ।
सत्कृतिः सम्भ्रमोपेता नायिका चाभिसारिका ॥ २६१ ॥

भलाई करने वाली प्यारी और सच्ची वाणी बोलचाल में अच्छी मानी गई है। हड़बड़ाहट (तेजी-त्वरा) से किया हुआ सत्कार तथा अभिसारिका (स्वयं प्रिय तक पहुंचने वाली अथवा आगे होकर प्रिय को बुलाने वाली) नायिका अच्छी मानी गई है।

प्रसङ्गाद् गीयते गाथा प्रसंगादेव शोभते ।
प्रसङ्गे न विना किञ्चित् कस्मै चिद्रोचते न हि ॥२६२॥

प्रसंग से ही गाई जाने वाली गाथा प्रसंग पर ही अच्छी लगती है, प्रसंग के विना कुछ भी किसी को अच्छा नहीं लगता है।

रक्षितस्य च गुप्तस्य गुणस्य वस्तुनोऽथवा ।
भवत्येवाधिकं मूल्यं प्राकट्यान्मूल्यहीनता ॥२६३॥

सुरक्षित अथवा गुप्त वस्तु और गुण का मूल्य अधिक हो जाता है प्रकट होने से मूल्य में कमी आ जाती है।

लोके किञ्चित् प्रचारार्थं वाक्कथा श्रेयसी मता ।
स्वकीयाय च लाभाय गुप्तं सर्वं समाचरेत् ॥२६४॥

संसार में अपना कुछ प्रचार करने के लिए थोड़ी वहुत चर्चा करना अच्छा माना गया है, किन्तु अपने लाभ के लिये सभी कुछ गुप्त रूप से करता रहे।

स्वयन्तु दुर्लभो भूयात् प्रचार्य वहुशो गुणान् ।
मान्यता दुर्लभत्वे हि सुलभत्वेऽल्पमूल्यता ॥२६५॥

अपने अनेक गुणों का प्रचार करके स्वयं दुर्लभ होजावे, दुर्लभ होने पर मान्यता बढ़ जाती है और सुलभ होने पर मूल्य में कमी आजाती है।

गुप्तित्रयप्रभावेण मनुजो जयमाप्नुयात् ।
हृद्वचः कायभेदेन त्रिविधा गुप्तयो मताः ॥२६६॥

मनोवाक्काय व्यूहस्य वशित्व गुप्तिसाधनम् ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्ति कायगुप्तिश्च मोक्षदा ॥ २६७ ॥

तीनों गुप्तियों के प्रभाव से मनुष्य सव जगत् विजय प्राप्त करता है गुप्तियाँ-मनोगुप्ति वचोगुप्ति और कायगुप्ति के भेद से

तीन प्रकार की होती हैं। अपने मन वाणी और शरीर को वश में रखना ही गुप्ति है। मनोगुप्ति वचोगुप्ति और कायगुप्ति मोक्ष देने वाली है।

स्वपक्षया बहवो यस्य स्वल्पा एव विपक्षिणः।
तज्जनेर्भुवि सार्थक्यं स एव सम्मतः सुधीः ॥२६८॥

जिसके अपने पक्ष वाले लोग बहुत हैं तथा विपक्षी थोड़े हैं उसी के जन्म की सफलता है। पृथ्वी पर वही मान्य और बुद्धिमान् है।

कोऽप्यन्य निर्बलं दृष्ट्वा बल्यहमिति मन्यते।
अनुभूय बलं स्वास्मि न्नन्य धर्षयति ध्रुवम् ॥२६९॥

कोई मनुष्य दूसरे को दुर्बल समझ कर अपने आपको बली समझता है और उसी वीरता की झोंक में दूसरे आदमियों पर रौब गालिब किया करता है।

प्राप्तयेऽप्राप्तवस्तूनां यतते प्रायशो जनः।
प्राप्ताय यतते नैव कुरुतेऽनवधानताम् ॥ २७० ॥

मनुष्य अप्राप्त वस्तुओं के लिये प्रायः यत्न किया करता है और प्राप्त पदार्थ के लिए श्रम भी नहीं करते हैं बल्कि अनवधानता दिखाते हैं उस ओर ध्यान भी नहीं देते हैं।

प्रायो योग्यविशिष्टानां सन्ततिस्तादृशी नहि।
मन्मतौ कारणन्तस्य प्रमादो मदमूलकः ॥ २७१ ॥

प्रायः योग्य और विशिष्ट (उत्तम श्रेणी के बड़े) लोगों की सन्तति वैसी नहीं होती है. मेरी बुद्धि में इसका कारण उन

लोगों का प्रमाद है जो अपनी स्थिति के मद (घमण्ड) से पैदा हुआ है।

मिथ्या प्रशंसिनो लोके प्रायशो बहवो जनाः ।
विरलाः शुद्धभावास्तु सुहृदो दोषसूचकाः ॥२७२॥

प्रायः दुनियाँ में मिथ्या प्रशंसा करने वाले लोग बहुत हैं, शुद्ध भाव से दोष दिखाने वाले सुहृद् विरले ही होते हैं।

नरो यः प्रतिदानार्थं न वदेन्निश्चितं वचः ।
किञ्चित्तस्मै न दातव्यं दाने च कलहोद्भवः ॥ २७३ ॥

जो मनुष्य लौटाने के विषय में निश्चित बात नहीं करता है उसे कोई वस्तु न दी जावे, यदि दे दी गई तो प्राप्त करने के लिए कलह पैदा होगा।

द्रुतगत्या नैव गन्तव्यं मन्दगत्यापि नैव च ।
मध्यगत्यैव गंतव्यं लक्ष्यप्राप्तिधियानरैः ॥ २७४ ॥

लक्ष्य प्राप्ति की बुद्धि वाला मनुष्य न तो द्रुतगति (तेजचाल) से और न बिल्कुल मन्द गति से ही चले अपितु उसे मध्य गति से चलना चाहिए।

यथायोग्यं विनीतत्वं पारुष्यं मिष्टभाषणम् ।
दयाभावश्च प्रीतिश्च व्यवहार्यं सदा नृभिः ॥ २७५ ॥

मनुष्य योग्यतानुसार नम्रता, कठोरता, मिष्ट भाषण (मधुर बोली) दया व प्रीति का सदा प्रयोग करे।

मच्छिक्षामुपदेशञ्च मन्यते यो हिताय वै ।
प्रयुनक्ति यदोभाने तत्सार्थक्यन्तदैव हि ॥ २७६ ॥

उत्तम शिक्षा और उपदेश को जो हितकारी मानता है उन्हें व्यवहार में लेता है, तभी उनकी सार्थकता है वरना नहीं।

शक्नोत्यवसरज्ञानी सर्वकर्माणि साधितुम् ।
न स्यादवसरज्ञो यो विज्ञोऽपि क्लेशमाप्नुयात् ॥२७७॥

अवसर का महत्त्व समझने वाला व्यक्ति सभी कर्मों को सिद्ध कर सकता है। जो अवसर वेत्ता न हो वह पढ़ा लिखा जाना बूझा भी क्लेश भोगता है।

यः स्यादवसरज्ञाता सैव ज्ञाता निगद्यते ।
केवलात्पठनान्नैव ज्ञाता भवितुमर्हति ॥ २७८ ॥

वस्तुतः सच्चा ज्ञाता वही है जो अवसरज्ञाता है. केवल पढ़ लेने मात्र से कोई ज्ञाता नहीं हो सकता है।

लोके कश्चिद् गुणः स्याच्चेत् प्रयोगे दर्शयेद् बहिः ।
तीक्ष्णोऽप्यसिः प्रयोगेन विना छेत्तुं प्रभुर्न हि ॥२७९॥

मनुष्य में यदि कोई गुण हैं तो उसे प्रयोग में बाहर दिखावे तीखी तलवार भी बिना प्रयोग किये काटने में समर्थ नहीं है।

विद्या गुणः स्वभावश्च ज्ञायन्ते व्यवहारतः ।
व्यवहारं विना त्वेते शङ्कापूर्णैः परैः सदा ॥ २८० ॥

विद्या गुण और स्वभाव का पता व्यवहार से ही चलता है बिना व्यवहार के ये लोगों से शङ्का की निगाह से देखे जाते हैं कि वस्तुतः यह ऐसा है भी या नहीं।

स्व प्रकोष्ठे घटीं बद्ध्वा साभिमानस्तु दृश्यते ।
कालमूल्यञ्च नो वेत्ति व्यर्थन्तत्तस्य बन्धनम् ॥ २८१ ॥

अपनी कलाई पर घड़ी बांध कर जो व्यक्ति इठलाता फिरता है और समय के मूल्य को जानता ही नहीं है ऐसे उस व्यक्ति का घड़ी बांधना ही व्यर्थ है।

स्वस्य गुणानुसारेण ग्राहकः सम्भवेन्न चेत् ।
तदा तु स्वगुणख्यात्यै यथा प्राप्तं श्रयेद् बुधः ॥२८२॥

गुणाः स्वयं प्रकाशन्ते कथनं नह्यपेक्ष्यते ।
यथा कस्तूरिका मोदो वाति गुणस्तुतिं विना ॥२८३॥

यदि अपने गुण के अनुसार ग्राहक न मिले तो मनुष्य गुण की ख्याति के लिये जो मिले उसी का सहारा ले।

वैसे तो गुण स्वयं ही फैलते हैं कथन की अपेक्षा नहीं रखते हैं जैसे कस्तूरी की सुगन्ध अपने यशोगान की अपेक्षा के बिना ही फैल जाती है।

विश्वस्तं शङ्कते यो वै तस्य बुद्धिभ्रमो भवेत् ।
बुद्धिभ्रमाद् धृतेर्नाशः स्थितिर्नैव धृतिं विना ॥२८४॥

विश्वस्त पुरुष को जो शङ्का दृष्टि से देखता है उसकी बुद्धि भ्रान्त हो जाती है, बुद्धि के भ्रान्त होने से धैर्य नहीं रहता और अधीर होने पर स्थिति नहीं रह सकती।

परेषामपकर्ता यः स्वापकर्तापि सैव हि ।
तत्प्रभावः परार्थस्तु शङ्का स्वस्मै पदे पदे ॥२८५॥

दूसरों का जो अपकार करता है वह स्वयं का ही अपकार करता है यों तो उसके कार्य का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है परन्तु अपने लिये पद २ पर शङ्कित होना पड़ता है।

शङ्कया वर्द्धते व्याधिर्हृच्छक्तिश्च विहन्यते ।
समन्ताद् विपदो नित्यं पतन्ति शङ्किते जने ॥ २८६ ॥

शङ्का से रोग बढ़ता है और हृदय निर्बल हो जाता है. शङ्कित पुरुष पर चारों ओर से आपत्तियां निरन्तर आती ही रहती हैं ।

रहस्यं कथयामीदं स्वर्गदं सर्वसौख्यदम् ।
सर्वशास्त्रगतं सार श्रोतव्यं भावुकैर्जनैः ॥२८७॥

न कार्यो दुष्टभावः प्राक् प्राणिनां दुःख हेतवे ।
प्राग्दुर्भावो भवेत्पापः पश्चात्कार्यं यथोचितम् ॥२८८॥

मैं स्वर्ग तथा सर्वविध सुख सम्पत्ति देने वाला रहस्य कहता हूं । भावुक जन निखिल शास्त्रों के सारभूत इस रहस्य को सुनें ।

प्राणियों को दुःख देने के लिये मनुष्य को आगे होकर दुष्टता के भाव नहीं धारने चाहिये । पहले अपने भाव बिगाड़ने वाला पापी होता है. हाँ यदि हम से कोई शठता करता है तो फिर बचाव के रूप में उचित हो सो करना चाहिये ।

रक्षा पापाय नो भूयात् पापीयान्मारको भवेत ।
यस्य प्राग्दुष्टभावः स्यात् सैव पापी न चेतरः ॥२८९॥

आत्मरक्षा करना पाप नहीं है पापी तो मारने वाला ही होता है. वास्तव में जिसकी भावना पहिले बुरी हो वही पापी होता है ।

परापकारकर्तॄणां दुर्भावः प्राग्हृदि स्थितः ।
दुर्भावलेशमात्रेण दुःखमाप्नोति मानवः ॥ २९० ॥

दूसरे का बुरा करने वाले के हृदय में पहले से ही दुर्भाव की स्थिति रहती है। दुर्भाव की थोड़ी सी स्थिति से भी मनुष्य दुःख पाता है।

बालाऽबलानाथान्यो दुर्भावास्त्रेण पीडयेत् ।
अत्यर्थं सैव पापात्मा विपद्ग्रस्तो भविष्यति ॥ २६१ ॥

जो मनुष्य बुरी भावनाओं के अस्त्र से बालक अबला और अनाथों को पीड़ित करता है वह अत्यन्त पापी है और निश्चित ही विपत्ति उठावेगा।

मत्तश्चेद् हार्दिकीमिच्छां बलात् कस्यापि रोधयेत् ।
प्रतिफलं यथाकालं सबलः सोऽपि दास्यति ॥ २६२ ॥

मनुष्य गर्वोन्मत्त होकर यदि किसी की हार्दिक इच्छाओं को बलपूर्वक रोक देता है तो वह निर्बल व्यक्ति भी कभी सबल होकर समय पर उसका प्रतिफल अवश्य देगा।

स्वल्पेनापि कृतज्ञः स्याद् यस्य स्वान्ते कृतज्ञता ।
कृतघ्नो बहुदत्तोऽपि त्यजति न कृतघ्नताम् ॥ २६३ ॥

जिस मनुष्य के मन में कृतज्ञता (अहसानमन्दी) की भावना हो वह तनिक से उपकारादि से संतुष्ट हो जाता है किन्तु कृतघ्न (एहसानफरामोश) बहुत कुछ देने पर भी कृतघ्नता की आदत नहीं छोड़ता है।

कस्माच्चिदपि किञ्चिद्धि साहाय्यं प्राप्य मानवः ।
कृतज्ञोऽस्मीति वाक्येन मानयेत् तत्सहायताम् ॥ २६४ ॥

कृतज्ञोऽस्मीति वाक्येन वर्धते मानवो ध्रुवम् ।
कृतघ्नः सर्वदोषाढ्यो निन्दितो नरपुङ्गवैः ॥ २९५ ॥

मनुष्य किसी से कुछ भी सहायता पाकर "मैं आपका कृतज्ञ हूं" इस प्रकार के वचन से उसकी सहायता का सम्मान करे। 'कृतज्ञ हूं' कहने से मनुष्य निश्चित ही बढ़ता है उन्नत व यशस्वी होता है किन्तु सभी दोषों से भरा कृतघ्न सत्पुरुषों द्वारा निन्दित माना गया है।

उग्रं प्रत्युग्रतां त्यक्त्वा नम्रवाचा सदा वदेत् ।
अक्रुद्धः स्वेप्सितं वाच्यं क्रुद्धो येन वशे भवेत् ॥ २९६ ॥

उग्र मनुष्य के प्रति उग्रता छोड़कर मनुष्य नम्र वाणी से अपना इच्छित विषय प्रकट करे जिससे क्रोधी व्यक्ति भी वश में हो जावे।

आत्मा नेच्छति यत्कर्म कर्तुं श्रोतुञ्च भाषितुम् ।
परेभ्योऽपि न कर्तव्यं कर्मतद्भूतिमिच्छता ॥२९७॥

हम स्वयं जिस कर्म का करना सुनना या कहना पसन्द नहीं करते हैं तो हमें चाहिए कि अपना कल्याण चाहते हुए हम दूसरों के लिए भी वह कर्म न करें* ।

---

* 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' क्योंकि जो हमारे लिये बुरा है निश्चित दूसरे के लिये भी होगा या मनन कर दूसरों के साथ सद् व्यवहार करना तो उच्च स्थिति का परिचायक है। यह दैवी गुण है किन्तु हमें लाभ के दृष्टिकोण से भी उपर्युक्त नियम का पालन करना चाहिए जैसा हमारा व्यवहार होगा वैसी ही प्रतिक्रिया दूसरों की ओर से होगी इस प्रकार हमारा असद् व्यवहार स्वतः हमारा पतनकारक बन

वाञ्छेदन्यैर्यथा यो वै कुर्यादादौ तथा स्वयम् ।
मानवो दुष्टभावोऽपि ऋजुतां धारयिष्यति ॥ २९८ ॥

मनुष्य जैसा व्यवहार दूसरों से चाहता है वैसा ही वह स्वयं पहले उनसे करे. इससे दुष्ट भावों वाला व्यक्ति भी सरल (सीधा) हो जावेगा ।

मान्यश्चेद् भवितुं वाञ्छेत् कोऽप्यत्र मानवः परैः ।
आद्रियात्सोऽपि तान्पूर्वं मनसा कर्मणा गिरा ॥ २९९ ॥

मनुष्य यदि संसार में दूसरों से प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है तो पहले वह स्वयं मन वचन कर्म से दूसरों की प्रतिष्ठा करे । रख पत तो रखा पत ।

वाञ्छति स्वहिते कोऽपि अन्यैर्यत् कारितुं यथा ।
स्वाभिमानं परित्यज्य तथा कुर्यात् स्वयं स तत् ॥ ३०० ॥

मनुष्य दूसरों से अपने हित में जो कुछ कराना चाहता है वैसा ही वह स्वयं अपना अभिमान छोड़ कर पहले दूसरों से करे ।

करके हमें ही दुःखी करेगा अतः स्वार्थ की दृष्टि से भी हम दूसरों के साथ सद्व्यवहार ही रक्खें । यही भारतीय अथवा मानवीय संविधान का पहलू है कि जो हमारे लिये अधिकार है वही हमारा दूसरों के प्रति कर्तव्य है जीवित रहना हमारा अधिकार है अपने लिए, किन्तु दूसरों के प्रति यह कर्तव्य का रूप लेकर आता है जीवित रहने दो यदि आज सभी इस पावन कर्तव्य को भूल कर केवल इसकी पृष्ठभूमि पर स्थित अधिकार का ही स्वप्न देखें तो कितनी भयंकर स्थिति हो, इसकी कल्पना ही सिहरा देती है । (सम्पादक)

सुखेच्छा यदि लोकेऽस्मिन् कर्हिचिन्न मृषा वदेत् ।
विश्वसनीय वाचैव कुर्यात् परहितं सदा ॥ ३०१ ॥

यदि सुख प्राप्ति की इच्छा है तो संसार में किसी से भी झूँठ न बोले तथा विश्वास करने योग्य वाणी से सदा परहित करे ।

सेवा सदुपदेशश्च विधातव्यौ सदा जनैः ।
समतास्तिक्यभावौ च रक्षणीयौ सुखेच्छुभिः ॥ ३०२ ॥

मनुष्य सदैव सेवा करने और सदुपदेश देने के लिये तत्पर रहे और ऐसा करे भी । सुखेच्छु लोग सदैव समता और आस्तिक भावों की रक्षा करें इन्हें हृदय से तुरन्त उनके बाहर न निकाल फेंकें ।

सेवोपकृतिभावेन नम्रो भवति मानवः ।
विकत्थिता पर सा तु कुर्याल्लोकं समुद्धतम् ॥३०४॥

सेवा या उपकार करने से (किये जाने वाला) मनुष्य नम्र हो जाता है किन्तु वही सेवा अपने ही मुंह से आत्मप्रशंसात्मक रूप से बखानी जाने पर मनुष्य को नम्र बनाने की अपेक्षा ढीठ बना देती है तब वह मनुष्य उस सेवा या उपकार की कोई गिनती नहीं करता है । अहसान या उपकार करके जताया करना बुरा है ।

उदारो गण्यते सेव प्रियो यः पार्श्ववर्तिनाम् ॥
स्वगृहादथवा पार्श्वादौदार्यमवबुध्यते ॥ ३०५ ॥

जो पुरुष अपने पड़ौस (सम्पर्क) में स्थित लोगों का प्यारा है वही यहां दुनिया में उदार माना जाता है, मनुष्य की उदारता का पता उसके घर से और पड़ौस से लगता है।

प्रागेव धीमता कार्या वशगाः पार्श्ववर्तिनः।
ततः सम्पर्किनः पश्चात् सर्वेष्वधिकृतो भवेत् ॥२०६॥

बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम अपने पड़ौसियों को (अपने सद्व्यवहार द्वारा) वश में करे बाद में अपने सम्पर्क में रहने वालों को इस प्रकार फिर शनैः २ सब पर अधिकार जमावे।

कर्मतन्न हि कर्त्तव्यं येन लज्जान्वितो भवेत्।
व्यर्थमेवास्तितत्कर्म यन्नास्ति परसौख्यदम् ॥२०७॥

मनुष्य को वह कर्म नहीं करना चाहिए जिस से लजाना पड़े। उस का दूसरों को सुख न देने वाला कर्म व्यर्थ ही है।

स्नेहादुत्पद्यते स्नेहो द्वेषभावाच्च द्वेषता।
यादृशो निजभावः स्यात् प्रभावस्तादृशो भवेत् ॥२०८॥

प्रेम प्रेम को जन्म देता है और वैर वैर को। जैसा अपना भाव होगा वैसा ही प्रभाव भी होगा।

गुणानां कथनादेव मित्रभावः सुरक्ष्यते।
दोषे उक्ते श्रुते वापि वैरवृद्धिर्हि जायते ॥ २०९ ॥

मित्र के गुणों ही गुणों के गिनाने से तो मित्रता ठीक रहती है। दोष बखानने पर या सुनने पर द्वेष भावनाओं की ही वृद्धि होती है।

कृपाभावो भवेत् प्रायः भावानुकूल वर्तनात् ।
प्रातिकूल्यात् वैरभावो दृश्यतेऽनेक योगतः ॥३१०॥

प्रायः भावों के अनुकूल चलने से ही कृपा पूर्ण भाव बने रहते हैं किन्तु जरासा भी प्रति कूल जाने पर अनेक कारणों से वैर भाव हो जाता है ।

लोकवृत्तिन्निरीक्ष्यैव कर्मसु प्रविशेद्बुधः ।
लोकानां प्रातिकूल्यात्तु स्वप्नेऽपि नोन्नतः कथा ॥३११॥

लोगो की मनोवृत्ति जान कर ही मनुष्य कर्म क्षेत्र में उतरे लोगों के प्रतिकूल जाने से स्वप्न में भी उन्नति नहीं हो सकती है।

सुखिभिः प्रेमकर्तव्यं दुःखितेषु दया तथा ।
पापिजनेषु चौदास्यं पुण्यात्मसु प्रसन्नता ॥ ३१२ ॥

पापिजनेषु चौदास्यात् क्रोधभावो निरस्यते ।
घृणाभावस्ततो नश्येत् शान्तिश्चित्ते समाविशेत् ॥ ३१३ ॥

ईर्ष्यादोषश्चापकार दोषोऽसूयामलन्तथा ।
नश्यन्ति करणादेवं क्रमाच्छान्तिश्च लभ्यते ॥३१४॥

सुखी मनुष्यों से प्रेम करे (ईर्ष्या नहीं) दुखियों पर दया करे (घृणा नहीं) पापियों के साथ उदासीनता का व्यवहार करे (वैर का नहीं) पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता पूर्ण व्यवहार करे पापियों के साथ तटस्थता का व्यवहार करने से क्रोध के भाव दूर हो जावेंगे । क्रोध हटने से घृणा के भाव नष्ट हो जावेंगे और चित्त में शान्ति मिलेगी । ईर्ष्या दोष उपकार दोष असूया का

मेल ये सभी इस प्रकार के व्यवहार से नष्ट हो जाते हैं और क्रमशः मनुष्य को शान्ति मिलने लगती है।

स्वसमानं परं पश्येत् स्वञ्चैवपर सन्निभम् ।
अनेन द्वेषभावस्तु सर्वथा नाशमेष्यति ॥२१५॥

अपने तुल्य दूसरों को देखे और अपने को दूसरों के समान देखे इस प्रकार की भावनापूर्ण दृष्टि से द्वेष भाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

सर्वनाशस्य मार्गस्तु स्वार्थस्य साधना भुवि ।
आत्मोन्नति करास्त्वत्र सम्मता प्रेमसाधना ॥ २१६ ॥

स्वार्थ साधना इस पृथ्वी पर सत्यानाश का मार्ग मानी गई है आत्मा को उन्नत करने वाली तो प्रेमसाधना ही सर्वसम्मत साधना है।

अन्यान्यः सेवते लोकः स्वसेवां स करोति हि ।
साहाय्यं कुरुतेऽन्येषां स्वसाहाय्यं करोति च ॥ २१७ ॥

जो दूसरों की सेवा करता है वह अपनी ही सेवा करता है जो दूसरों की सहायता करता है वह अपनी ही सहायता करता है। सेवा और सहायता में कोई न कोई स्वार्थ तो रहता ही है भले ही वह आत्मिक शान्ति जैसा ही हो।

द्वे नीती भुवि वर्त्तेते निश्चया व्यावहारिकी ।
निश्चया निश्चिता सत्या तदन्या तु क्रियान्विता ॥२१८॥

संसार में निश्चया और व्यावहारिकी ये दो नीतियां हैं इन में निश्चया नीति तो निश्चित रूप से सत्य है दूसरी क्रियान्वित । व्यवहार में आने वाली लोक नीति है—

जनैरारभ्यते वृद्धिर्ज्ञानस्य क्षतिरायुषः ।
नाप्यते ज्ञानपारन्तु परन्त्वायुः समाप्यते ॥ ३१९ ॥

मनुष्य ज्ञानवृद्धि और आयुक्षति साथ २ ही प्रारम्भ करता है ज्ञान का पार तो कभी पाया नहीं जाता है पर आयु एक दिन अवश्य समाप्त हो जाती है।

न ब्रूयाच्छृणुयाद्वापि व्यर्थं केनापि कस्य वा ।
भूयात्कार्येऽथवा ध्याने सलग्नश्च समाधिमान् ॥ ३२० ॥

मनुष्य न तो किसी से व्यर्थ बात करे और न किसी की व्यर्थ चर्चा सुने ही। चित्तवृत्तियों को वश में रखते हुए अपने कार्य में अथवा ध्यान में लगा रहे।

वर्णनं स्वस्य भावानां प्रशस्तं मौनधारणात् ।
वक्त्रा तु क्रियते सर्वं मवक्त्रा किं करिष्यते ॥ ३२१ ॥

चुप्पी साध लेने की अपेक्षा अपने भावों का वर्णन करना अच्छा है। वक्ता तो सभी कुछ कर लेता है किन्तु अवक्ता क्या करेगा *।

गुणानां स्वस्य प्राकट्यं कर्तव्य प्रथमं स्वयम् ।
पश्चात्ते प्रसरिष्यन्ति कर्णो कर्णिकया स्वयम् ॥ ३२२ ॥

प्रथम मनुष्य अपने गुणों को स्वयं प्रकट करे बाद में तो वे कानों कान स्वयं ही फैल जावेंगे।

---

* एक कहावत इसी विषय की है बोलने वाले के घुने भी बिक जाते हैं और नहीं बोलने वाले के गेहूं भी नहीं बिकते हैं।

स्वकीयाऽवगुणज्ञानं पर्याप्तन्तस्य मार्जने ।
अतस्तान्मार्जने यत्नो विधेयो गुणिनाऽनिशम् ॥ ३२३ ॥

अपने अवगुण को समझ लेना ही उसको मार्जन (शोधन) करना है अतः गुणी मनुष्य अपने अवगुणों को जानने का निरन्तर प्रयत्न करें ।

विकृत शोधनं क्लिष्टं नूतनोत्पादनं वरम् ।
विकृतशोधितञ्चापि शोभते न यथा नवम् ॥ ३२४ ॥

विकृत को सुधारना कठिन है उसकी अपेक्षा तो नवीन का उत्पादन करना ही ठीक है । ठीक कर दिये जाने पर भी विकृत नवीन की सी शोभा नहीं देता है ।

इति श्री घनश्यामगीतायां तत्वखन्यां सर्वसाधारणधर्माचारे नीतिवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

सर्वसाधारणधर्माचारे

युगधर्मराजनीतिवर्णनम्

दयावांच्छुद्धहृत्स्नेही सुशीलः पारमार्थिकः ।
सहिष्णुः संयमी नम्रः लोकानां प्रियकारकः ॥ १ ॥

दयालु शुद्ध हृदय वाला स्नेही, सुशील, पारमार्थिक, सहन-शील, संयमपूर्ण जीवनवाही, नम्र एवं लोगों का हितैषी व हितकारक—

सत्यवाक्सत्यकृत्सद्हृद् साम्यभावात्सुमेलकः ।
मातुर्पितुर्गुरोराज्ञां यथावत्पालकः शुचिः ॥ २ ॥

सत्यवादी, सत्य व्यवहारी, सत्य हृदय सब के साथ समान भाव से मिलनसार माता पिता गुरुजनों की आज्ञा का पूर्णतया पालन करने वाला—

द्वेषभावाद्विनिर्मुक्तः प्रसन्नवदनः सुधीः ।
सुस्वभावाद्धि सर्वेषां नेता भवितुं क्षमः ॥ ३ ॥

सर्वथा द्वेष वर्जित, प्रसन्न मुख तथा सुबुद्धि पुरुष अपनी उत्तम प्रकृति के कारण सभी का नेता बन सकता है ।

परेषामपकाराणां उन्नतेः मानिनान्तथा ।
दुष्टानां कटुवाक्यानां सहिष्णुः सर्वसम्मतः ॥ ४ ॥

अपने विरोधियों के अपकारों को मनस्वी लोगों की उन्नति को तथा दुष्ट लोगों के कटु वचनों को शान्त भाव से सहने वाला पुरुष सर्वमान्य होता है।

नास्ति यः कस्यचिन्मित्रं न भवेत् कस्यचिद्रिपुः ।
समताभावयुक्तोऽसौ सदा सर्वादृतो भवेत् ॥ ५ ॥

जो न किसी का मित्र है और न किसी का शत्रु ही बने समता के उदार भावों से सम्पन्न ऐसा व्यक्ति सदैव सभी से आदर पाता है।

प्रतिज्ञापालकोऽव्याजी बुद्धिमांश्चाप्यनास्तिकः ।
चिन्तयेज्जनकल्याणं कर्मनिष्ठः स सम्भवेत् ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञापालक, छल कपट वर्जित, बुद्धिमान् प्रभुविश्वासी लोक-कल्याणकर्ता व्यक्ति ही सच्चा कर्मनिष्ठ होता है।

य एष कर्मठोऽतृष्णो निर्लोभो निरहंयुतः ।
स्वदेशस्यूत वस्त्राणां धारकः सौख्यदो हि सः ॥ ७ ॥

सुवेशः सद्गुणग्राही लोकसेवासु तत्परः ।
जानाति प्राणिनां सेवां प्रभुसेवा समां सदा ॥ ८ ॥

कर्मठ व्यक्ति तृष्णा शून्य लोभवर्जित तथा अहंकार रहित होता है वह अपने देश के बने वस्त्रों को पहिनता है और सभी का सुखदायक होता है।

उसका वेष उत्तम होता है, वह सदा सुन्दर गुणों को ग्रहण करता रहता है एवं जन सेवा में तत्पर रहता है वह प्राणियों की सेवा को प्रभु सेवा के समान समझता है।

सादस्यं शोभते नैव कर्मठत्वं हि शोभते ।
केवलेन प्रलापेन प्रभावो नोपजायते ॥ ९ ॥

केवल शुल्कदान द्वारा या विद्यादि वैशिष्ट्य द्वारा सदस्य मात्र हो जाना ही अच्छा नहीं है, मनुष्य को कर्मठ होना शोभा देता है। केवल झूँठा दबदबा दिखाने की इच्छा से बकवाद करने से (लम्बी चौड़ी बात बनाने से) कुछ भी प्रभाव नहीं होता है।

योऽधिको राजनीतिज्ञः सैवराजत्वमर्हति ।
राजनीतिविहीनस्य कुतो राज्ये स्थितिर्भवेत् ॥ १० ॥

जो राजनीति का अधिक ज्ञाता होगा वही राजा (शासक) हो सकता है। राजनीति के ज्ञान से कोरे मनुष्य की राज्य पद पर स्थिति कैसे हो सकती है।

नवावृत्तिमनादृत्य पुरावृत्तं निषेवते ।
पुरावृत्तन्तु वृत्तन्द् रक्षकस्तस्य कोऽधुना ॥ ११ ॥

जो युगानुकूल प्रचलित नवीन विचारधारा व व्यवहार का अनादर कर केवल प्राचीन व्यवहार पर ही डटा रहता है, आज उसका रक्षक कोई नहीं है, प्राचीन वृत्त तो बर्त चुके (उनका युग निकलते समाप्त हो चुके) और नवीन का पल्ला उसने पकड़ा नहीं।

सुसेव्यो वर्तमानोहि गतावस्था निरर्थका ।
पदारुढो यथा शक्तः शक्तिहीन पदच्युतः ॥ १२ ॥

मनुष्य वर्तमान का ही पूरा सहारा ले, बीती हुई अवस्थायें आज निरर्थक हैं, जिस प्रकार पद पर स्थित व्यक्ति सब कुछ कर सकने में समर्थ है और पद से गिरा हुआ शक्तिहीन है।

यादृशो भवितुं वाञ्छेत् यः कोऽपि स भवेत् स्वयम्।
लोके भावयिता नान्यः स्पर्द्धालुं प्रतियोगिनम् ॥१३॥

मनुष्य जैसा बनना चाहे वह स्वयं ही वैसा बन सकता है, जगत् में संघर्षप्रिय तथा मुकाबले पर अड़े हुए को बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है।

अर्थात् मनुष्य में संघर्ष व प्रतियोगिता की भावना होगी तो वह स्वयं ही आगे बढ़ जावेगा दूसरे क्या अवसर देंगे?

सामान्येन गुणेनात्र सामान्यो जायते नरः।
विशिष्टो गुणवैशिष्ट्यात् भवत्येव न संशयः ॥ १४॥

मनुष्य इस संसार में सामान्य गुणों से तो सामान्य होता है, गुणों में वैशिष्ट्य होने से ही महापुरुष बनता है इस में कोई सन्देह नहीं है।

मिथ्या न कर्हिचिद् वक्ति वाणीरूपा सरस्वती।
विरुद्धवचसाकारात् क्षिप्यति हृद्‌गतं बहिः ॥ १५ ॥

सन्त्यनेके शरीरे हि सङ्केता भावदर्शकाः।
स्पन्दनं नेत्रवक्त्रादे रङ्गसञ्चालनं तथा ॥ १६ ॥

सरस्वती का स्वरूप जो वाणी है वह कभी मिथ्या वचन नहीं बोलती है, उसके ही पूर्वापर विरुद्ध वार्तालाप से और शारीरिक चेष्टाओं से छिपे हुए हृदय के भाव को बाहर फेंक देती है अर्थात् प्रकट कर देती है।

क्योंकि शरीर में मानवी भाव को प्रकट करने वाले अनेक संकेत विद्यमान हैं जैसे कोई मनुष्य मुख से न बोलकर अपने भावों को आँखों के इशारों से शरीर के अङ्गों को चलाने से अथवा मुख की आकृति को बदलने से भी दूसरों पर प्रकट कर सकता है, यही सरस्वती रूपा वाणी का सत्य कथन है।

ईश्वराज्ञा विचारे मे विद्यते लोकसम्मतिः ।
स्वभावाच्छुद्धभावाच्च विशिष्टा सा भवेद्यदि ॥ १७॥

बहुमतस्य लोकानां वैरुध्यं यः करोति चेत् ।
सेश्वरादेशभंगाय पापस्य फलमाप्नुयात् ॥ १८॥

मेरी दृष्टि में लोक सम्मति ईश्वर की आज्ञा है यदि वह सम्मति स्वभावतः शुद्ध भावों के कारण विशेषता लिये हुए हो। जो व्यक्ति लोगों के बहुमत का विरोध करता है तो वह ईश्वरादेश के उल्लंघन रूप पाप का फल भोगता है।

डिण्डिभः शंकराज्ञायाः लोकवाणीति मे मतिः ।
स्वान्तरप्रेरिता या तु कथ्यते लोकसंसदि ॥१६॥

अपने हृदय की प्रेरणा से लोक समुदाय में पञ्चों अथवा मुख्य लोगों के मुख से कही गई वाणी भगवान् शंकर की ही डिण्डिम द्वारा घोषणा है मैं तो यही समझता हूं।

जानीयात्कस्यचिद्भावं संगत्या पाठ्यपुस्तकैः ।
गाढमैत्र्याच्च सम्पर्कात् यद्भवेदन्तरात्मना ॥ २० ॥

किसी की संगति (उठ बैठ) में प्रिय पाठ्य (पढ़ी जाने वाली) पुस्तकों से घनिष्ट मित्रों से मेलजोल वालों से जो उस की अन्तरात्मा से सम्बन्धित हैं उसके चरित्र का पता लगावे।

संगतिर्जीवनं नृणां मरणं संगतिं विना ।
सशीलव्यसनैः सङ्गो नराणां स्वर्गसदृशः ॥ २१ ॥

संगति ही मनुष्यों का जीवन है और संगति का अभाव मौत है। अपने समान शील व प्रकृति वाले लोगों का साथ पुरुषों के लिये स्वर्ग के समान (सुखप्रद) है।

विनायोगिजनन्नात्र लभते नैकलः सुखम् ।
भोग्यमतो मिलित्वैव सर्वैर्नागरिकैः सुखम् ॥ २२ ॥

जगत् में केवल योगियों को छोड़ कर अन्य कोई भी व्यक्ति अकेला सुख नहीं पा सकता है, अतः सभी नागरिक मिल कर (सहयोग पूर्वक) सुख भोगें।

न भवेद्यस्य सम्पर्कः कस्मिश्चिदपि मण्डले ।
विशिष्टोऽपिभवेत्कामं स स्यात् कुत्रापि नादृतः ॥ २३ ॥

जिस मनुष्य का किसी भी मण्डल से सम्पर्क नहीं है वह भले ही कितना ही विशिष्ट (विशेषता युक्त) क्यों न हो कहीं भी पूर्ण आदर नहीं पाता है।

मनुज आदराप्त्यर्थं स्थापयेन्मण्डलं पृथक् ।
संहत्यर्थं यतेताथ संघर्षः क्रांतिकारकः ॥ २४ ॥

मनुष्य आदर प्राप्ति के लिये २ पृथक् मण्डल की स्थापना करें तथा मेलजोल बढ़ाने का यत्न करें। यही संघर्ष (क्रांति) समाज में नवीन व्यवस्था का उत्पादक है।

पृथग्भावे हि चानन्दो युगेऽस्मिन् वर्तते भृशम् ।
उत्साहो हृदि नायाति यावन्न स्याद्विरुद्धता ॥ २५ ॥

आज के युग में पृथक् भाव में ही आनन्द है। जब तक विरुद्धता (संघर्ष) न हो तब तक हृदय में उत्साह ही नहीं आता है।

न भवेद्यत्र संघर्षः कम्पीटीशन मुकावला।
अनुत्साहो भवेत्तत्र नोन्नतेश्च कथा मनाक् ॥ २६॥

जहाँ संघर्ष, कम्पीटीशन, मुकावला, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्द्धा न हो वहाँ सदा अनुत्साह रहता है जिन्दगी में जिन्दादिली का जोश नहीं रहता है तो उन्नति तो हो ही कैसे सकती है?

संघर्षपाठकक्षाया मुत्तीर्णो यो भवेन्न हि।
नादरं लभते कश्चिद् योग्योऽप्यन्यकलासु चेत् ॥२७॥

जो संघर्ष पाठ की कक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ है वह अन्य कितनी ही कलाओं में निपुण होते हुए भी कहीं भी आदर नहीं पाता है।

जयित्वा कोऽपि संघर्षे सामान्यादधिको भवेत्।
निकषोपलसंघर्षात् ज्ञायते हेमसौष्ठवम् ॥ २८ ॥

कोई भी व्यक्ति संघर्ष में जीत कर साधारण अवस्था से विशेष अवस्था को प्राप्त कर लेता है जैसे कि कसौटी पर संघर्ष करने से ही सुवर्ण की अच्छाई का पता चलता है।

शक्तोऽपि याति नो ख्याति मप्राप्य प्रतियोगिनम्।
प्रतियोगी प्रसिद्धश्चेत्तदा सा स्याच्चतुर्गुणा ॥ २९ ॥

मनुष्य अपने अनुकूल प्रतिद्वन्द्वी को पाये विना समर्थ होते हुए भी प्रसिद्धि नहीं पा सकता है (जैसे विना शास्त्रार्थ,

पाण्डित्य के विना द्वन्द्व (कुश्ती) वीरता का पता नहीं चलता है) यदि उसका प्रतियोगी प्रसिद्ध हो तो उसकी कीर्ति में चार चांद लग जाते हैं (हारने पर भी लोग उसके मुकाबिले में डटने की प्रशंसा करते हैं जीतने पर तो कहना ही क्या ?)

श्रेयो दुःखं सुखात् पूर्वं शमन्ते जीवनाहवे ।
सतान्तु विधिरेषो हि जानीयादन्यथाऽसताम् ॥ ३० ॥

सुख से पूर्व दुःख पाना कल्याणकारक है जिस से जीवन-संग्राम में अन्त में कल्याण होता है । सज्जनों का तो यही क्रम है इन से विपरीत असज्जनों की रीति है ।

वीक्ष्य स्वकीय सामर्थ्यं कर्तव्या प्रतियोगिता ।
करणादविचारेण कीर्तिः शक्तिश्च नश्यति ॥ ३१ ॥

अपनी शक्ति को तोल कर ही मनुष्य प्रतियोगिता में उतरे । विना विचारे करने से कीर्ति और शक्ति नष्ट हो जाती है ।

शक्तिर्न वस्तुतः शक्ति र्यावन्न प्रतिरोधकः ।
कथमाविष्कृता सा स्यात् ऋते तु प्रतिरोधकात् ॥ ३२ ॥

जब तक कण्ठच्छेदी प्रतियोगिता जान लेवा मुकाबला न हो तब तक शक्ति, शक्ति नहीं है । विना विरोध के शक्ति का प्रदर्शन कैसे होगा ।

शक्तिस्तु शक्तिरेवास्ति निष्कामं सा शुभाशुभा ।
युक्तायुक्त प्रयोगाभ्यां संभवेत् सा शुभाशुभा ॥ ३३ ॥
समूढा शक्तिरेवास्ति लोके सर्वत्र पूजिता ।
सूत्रतन्तुकृतागम्मि बलिनं बाधितुं क्षमा ॥ ३४ ॥

शक्ति, शक्ति ही है चाहे शुभ हो या अशुभ हो वस्तुतः शक्ति स्वयं शुभाशुभ है ही नहीं, वह तो उसके युक्त और अयुक्त प्रयोग से अच्छी और बुरी कहलाती है। एक स्थान पर एकत्रित शक्ति ही सब जगह आदर पाती है। साधारण सूत के कच्चे धागों से बनाई गई रस्सी बलवानों को भी बाधित करने में समर्थ हो जाती है।

'जमाना' इति शब्देन ज्ञायते जनसम्मतिः ।
सैव सामयिको धर्मः संघशक्तिश्च सा मता ।। ३५ ।।

जमाना शब्द का अर्थ ही 'जनमत' है, यह जनमत ही सामयिक धर्म है यही संघशक्ति है।

ईर्ष्यायास्तु महारोगो न भवेत् कस्यचिद्धृदि ।
भुक्त्वापि शक्तिदं भोज्यं शुष्यतीर्ष्या प्रबाधितः ।। ३६ ।।

ईर्ष्ययास्मितया चैव मानवो ज्वलति स्वयम् ।
तयोर्नाशाय सर्वेषां सर्वथा समतावरा ।। ३७ ।।

ईर्ष्या की भयंकर बीमारी किसी के भी हृदय में न हो ईर्ष्या से दबोचा हुआ व्यक्ति शक्तिदायक पुष्टिकर भोजन करते हुए भी सूखता ही जाता है।

ईर्ष्या (डाह) और अस्मिता से मनुष्य स्वयं ही जलता रहता है, इन दोनों को नष्ट करने के लिए समता सभी के लिये उत्तम मानी गई है।

द्विमुखा दाम्भिका लोका भावानुसारवर्तिनः ।
द्विभावाश्च द्विमार्गाश्च बाह्यभक्तिप्रदर्शकाः ।।३८।।

पाखण्डी लोग 'गङ्गा गये गंगादास जमुना गये जमुनादास होते हैं जो लोगों के भावों के अनुसार चलते हैं। ऐसे लोग दुतरफा भाव और दो मार्ग रखने वाले बाहर से ही भक्ति प्रदर्शित करने वाले होते हैं।

मतं ददाति योऽपृष्टः प्रशस्यो न भवेद्धि सः।
कत्थनं मूढता मूलं न च कार्यान्वितं भवेत् ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य विना पूछे अपनी राय देता है वह प्रशंसा (शाबासी) नहीं पाता है और न उसकी राय कार्यान्वित ही होती है। इस प्रकार उसका यह कार्य बेवकूफी से भरी आत्मश्लाघा ही है।

सर्वसम्बद्ध कार्याणि कर्तव्यानि सदा बुधैः।
साहसेन मिलित्वैव देशस्य भक्तिभावतः ॥ ४० ॥

बुद्धिमान् लोग देश के सर्व सम्बन्धित कार्यों को मिल कर साहसपूर्वक भक्तिभाव से करें।

उद्यानाद्बहिरन्यत्र पुष्पं प्राप्नोति मान्यताम्।
यथा रत्नं खनेश्चैव बहिर्गत्वा तथा जनः ॥४१॥

जन्मस्थाने भवेन्नैवं गुणवानादृतो ध्रुवम्।
वहिर्गत्वा हि विद्वान् स्वसम्मानं लभतेऽधिकम् ॥ ४२ ॥

अन्य योगेन प्राप्यन्ते विद्याज्ञानं गुणास्तथा।
फलन्ति चान्य योगेन किमत्र विस्मयन्ततः ॥ ४३ ॥

फूल बगीचे से बाहर जाकर ही मान्यता पाता है, रत्न जिस प्रकार खान से बाहर जाकर मूल्य पाता है वैसे ही पुरुष भी बाहर जाकर सम्मान पाता है। अपने जन्मस्थान में मनुष्य कभी

भी आदर नहीं पाता है। विद्वान् पुरुष वाहर जाकर ही अपना पूर्ण सम्मान पाता है। जब विद्या ज्ञान तथा अन्य गुण दूसरों के साहचर्य से ही मिलते हैं तो दूसरे के साहचर्य से ही फल भी दें तो इसमें विस्मय ही क्या है?

स्वपक्षे यो दृढः सैव विपक्षे विजयी भवेत्।
स्वपरपक्षसामान्यां सेनां प्राप्य नृपः पतेत् ॥ ४४ ॥

जो मनुष्य अपने पक्ष पर दृढ़ है वही विपक्ष पर भी विजयी होता है। राजा अपने और पराये पक्ष में समान भाव रखने वाली सेना को पाकर मात खा जाता है।

प्राधान्य पददात्री या शत्रुषु जयदा तथा।
बुद्धिमत्सु प्रयुक्ता सा भेदनीतिः शुभावहा ॥ ४५ ॥

बुद्धिमानों में प्रयुक्त भेदनीति प्रधानपद देने वाली शत्रुपक्ष पर विजय दिलाने वाली एवं कल्याणकारिणी है।

परेषां पोषको भूयात् यावत्पुष्टः स्वयं भवेत्।
यद्यदौचित्ययुक्तं तत् कुर्यात्पुष्टेरनन्तरम् ॥ ४६ ॥

जब तक मनुष्य स्वयं पुष्ट होवे तब तक दूसरों का पोषक होवे। शक्ति पा लेने पर जो कुछ उचित हो, वही करे।

स्वल्पहानिर्महालाभः स्याच्चेद् विग्रहमाचरेत्
स्वल्पलाभो महाहानि र्न कुर्याद् विग्रहन्तदा ॥ ४७ ॥

यदि हानि कम और लाभ अधिक हो तो विग्रह (लड़ाई) करे, यदि लाभ कम हो और हानि अधिक हो तो विग्रह न करे।

यशोमानकुलानाञ्च ध्यानं त्यक्त्वा जनो यदि ।
मनु तेऽनुचितामाज्ञां लोभाक्रान्ता हि तन्मतिः ॥४८॥

यदि मनुष्य यश, मान और वंश का ध्यान छोड़ कर किसी अनुचित आज्ञा को मानता है तो उसको लोभ से आक्रान्त समझो।

स्वजातेरेव सम्बन्धात् विश्वस्तो वशगो भवेत् ।
जीवः कोऽप्यत्र संसारे सर्वेषां जीवधारिणाम् ॥ ४९ ॥

जाति संहतिमप्राप्य लोके कोऽपि न हृष्यति ।
यथैकाकी जनोऽहृष्टो वाञ्छति जन संहतिम् ॥ ५० ॥

विश्व के समस्त प्राणियों में कोई भी प्राणी अपनी जाति के सम्बन्ध से ही विश्वास और वशवर्ती (अधीन) होता है।

कोई भी व्यक्ति जाति के समुदाय को पाये विना प्रसन्न नहीं होता है जैसा कि अप्रसन्न अकेला व्यक्ति जनसम्पर्क चाहता है।

दधति श्रेष्ठिनां कोषे स्वार्जितं वसु मानवाः ।
विशेषोऽल्पं स्वभावेना कर्षत्येव न संशयः ॥ ५१ ॥

मनुष्य अपना कमाया हुआ धन सेठों के खजाने में रखा करते हैं। स्वभाव से ही विशेष अल्प को अपनी ओर खींचता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सदैव स्वल्प संख्याका बहुनामनुयायिनः ।
विधातव्यं बहुत्वं हि शेषाकर्षणमुत्तमम् ॥ ५२ ॥

अनुयान्ति सदा लोका दृष्ट्वा लोकान्न पृच्छया ।
परमार्थन्न जानन्ति यतन्ते न च बोधितुम् ॥ ५३ ॥

वस्तुसारं न जानन्ति प्रव्रजन्त्यंधवद् भुवि ।
प्रायशो मानवा लोके लोकाननुसरन्ति हि ॥ ५४ ॥

सदैव अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों के अनुयायी होते हैं, अतः मनुष्य में शेष व्यक्तियों को अपनी ओर खींचने के लिये बहुमत कर लेना चाहिये। मनुष्य मनुष्यों को देखकर ही उनके पीछे चल पड़ते हैं न कि पूछताछ करते हैं, वे न तो वास्तविकता को जानते हैं और न जानने के लिये यत्न ही करते हैं। जगत् में लोग वास्तविकता (सचाई) को तो जानते नहीं हैं अन्धों की तरह चल देते हैं प्रायः मनुष्य इसी प्रकार दूसरे मनुष्यों को का अनुसरण करते हैं।

मानं धनं पदञ्चापि ह्यानन्दं पूज्यभावना ।
क्लेशनाशो निर्णयश्च मताधिक्येन सम्भवेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य को बहुमत द्वारा सम्मान धन उत्तम पद आनन्द गौरव दुःख नाश का अवसर तथा अनुकूल निर्णय (न्याय इन्साफ) आदि सभी कुछ मिलता है।

येन केन प्रकारेण प्रवृत्तिं हि विरोधिनः ।
छेदयेत् सान्त्वयेद वादौ पश्चात् कष्टेन शाम्यति ॥ ५६ ॥

प्राप्त्यर्थमुच्चतायाश्च क्लिष्ट कार्यस्य सिद्धये ।
सामदानप्रयत्नाभ्यां प्रसाद्यास्तु विरोधिनः ॥ ५७ ॥

मनुष्य जिस किस भी उपाय से विरोधियों की प्रवृत्तियों को नष्ट करे या शान्त कर दे, विलम्ब होने पर बाद में वे कष्ट से शान्त होती है। उच्चता की प्राप्ति एवं कठिन कर्मों की सिद्धि

: लिये साम (शान्ति के विनय पूर्ण वचन) दान (धनादि देने)
र विरोधियों को प्रसन्न करे ही * ।

भूरिशो द्रव्यदानेन क्लिष्टोऽपि सिद्ध्यति ध्रुवम् ।
अत एवागतं कार्यं लोभं त्यक्त्वा सुसाधयेत् ॥ ५८ ॥

खूब धन देने से कठोर व्यक्ति भी सीधा (अनुकूल)
ो जाता है अतः लोभ छोड़कर आये हुए कार्य को तो
सद्ध करे ही ।

स्वतन्त्रो भवितुं शक्तो यः कुर्यात् स्वावलम्बनम् ।
प्रयत्नानां शतेनापि तद्विना न स्वतन्त्रता ॥ ५९ ॥

जो पुरुष अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है वह निश्चय ही
विघ्न बाधा आदि से) स्वतन्त्र हो सकता है। बिना स्वावलम्बन
: सैकड़ों प्रयत्नों से भी स्वतन्त्रता नहीं मिलती है ।

नानेकै रुध्यते विघ्नैः स्वावलम्बि प्रवर्तनम् ।
पर्णप्रस्तरवृक्षाद्यैः पर्वतीयनदाम्बुवत् ॥ ६० ॥

अनेक विघ्न बाधाओं में भी स्वावलम्वी मनुष्य का निश्चय
ूर्वक किया गया श्री गणेश ठीक उसी प्रकार नहीं रुकता है
जिस प्रकार पहाड़ी नाले का पानी पत्ते पत्थर पेड़ और चट्टान
आदि से नहीं रुकता है ।

ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युक्तो मानवो निर्मितो भुवि ।
सर्वकर्मसु स्वाधीनः स्वकृतोत्तरदायकः ॥ ६१ ॥

---

* प्रसाधयः का द्वितीय अर्थ "विशेष रूप से उन्हें नष्ट करे" भी होता
जो भी यहां उपयुक्त है सामदानादि से अनुकूल कर हमेशा के लिये
न्हें समाप्त कर दे ।

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न यह मनुष्य अपना उत्तरदायित्व समझने की शक्ति के साथ २ सभी कार्यों में स्वतन्त्रता के अधिकार युक्त वनाया गया है।

अर्थात् मनुष्य के ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियां हैं जिसका अर्थ है जानो–समझो और करो। चूंकि मनुष्य ज्ञानशक्ति रखता है इसलिये इसे कर्म करने की स्वतन्त्रता दी गई है कि यह किये गये कर्म का उत्तरदायित्व भी रख सकेगा।

दूरदर्शितया कश्चिद् कश्चिदापत्तिभोगतः ।
जानाति स्वस्थितिं भाव्यां योगी च स्वस्य योगतः॥ ६२ ॥

मनुष्यों में कोई तो दूरदर्शिता से और कोई आपत्तियों के भोग से अपनी भविष्य की स्थिति को जान लेते हैं और योगी अपने योग वल से जान लेते हैं।

सुनिश्चितैकमत्या हि प्रवृत्तिर्गुणदा भवेत् ।
द्विधा च शंकया युक्ता प्रवृत्तिः कार्यनाशिका ॥ ६३ ॥

निश्चय-पूर्वक एक राय से किया गया कार्यारम्भ निश्चय ही गुणदायक होता है। द्विविधा में ग्रस्त या शङ्का से युक्त प्रारम्भ कार्य में सफलतादायक नहीं होता है।

विचाराः शङ्किता यस्य न दृढा न च निश्चिताः ।
करोति न प्रतिज्ञातं तस्य बुद्धिर्न सुस्थिता ॥ ६४ ॥

जिसके विचार शङ्काग्रस्त होते हैं न दृढ होते हैं और न निश्चित होते हैं और जो प्रतिज्ञा किये हुए कार्य को नहीं करता है उसकी बुद्धि स्थिर नहीं मानी जाती है।

विभेति नापदो यस्तु साहसन्न परित्यजेत् ।
रक्षेत् सहिष्णुता चापि ह्युन्नतिं स करिष्यति ॥ ६५ ॥

जो न तो आपत्तियों से डरता है न साहस ही छोड़ता है तथा सदा सहिष्णुता रखता है वह अवश्य उन्नति करेगा।

ऐक्यभावेन यत्सर्वं रक्ष्यते तत्र वासिभिः ।
राष्ट्रन्तेषां तदेवास्ति जातिदेशगभावनम् ॥ ६६ ॥

किसी स्थान के निवासियों द्वारा जाति और देश की भावनाओं की एकता के भाव से जो रक्षा की जाती है वही उनका राष्ट्र है।

राष्ट्रघटकतत्वेषु बाह्यादेशादयो मता ।
राष्ट्रमान्तरिका भावा देशाद्यैर्व्यक्तिमागताः ॥ ६७ ॥

राष्ट्रनिर्माणकारी तत्वों में स्थान-शक्ति-शासन आदि बाह्य माने गये हैं (जिस प्रकार हिन्दुस्थान पर अंग्रेजों का शासन था उन्हीं की शक्ति थी हम परतन्त्र थे किन्तु फिर भी "भारत-राष्ट्र" का अस्तित्व था) देश आदि तत्वों से व्यक्त हुए आन्तरिक भाव ही "राष्ट्र" है। (आपाततः भारत की प्रान्तीय वेषभूषा सभ्यता भाषा प्रथा आदि में बहुत अन्तर होते हुए भी सभी एक 'राष्ट्र' है।

स्वार्थभावं परित्यज्य राष्ट्रसंरक्षणं हितम् ।
स्वराष्ट्रे विकृते जाते सर्वनाशः प्रजायते ॥ ६८ ॥

लोभवैरादिग्रस्तो यो शत्रून् स्वदेश इच्छति ।
लोकद्वयात् प्रभ्रष्टस्य तत्पापस्य न निष्कृतिः ॥ ६९ ॥

अपनी स्वार्थमय तुच्छ भावनाओं का त्याग करके राष्ट्र का हित करना बहुत अच्छा माना गया है। अपने राष्ट्र के दूषित होने पर सर्वनाश हो जाता है।

जो व्यक्ति लोभ या वैर आदि की कलुषित भावनाओं के वशीभूत होकर अपने देश में शत्रुओं को चाहता है। दोनों लोकों से भ्रष्ट उस पापी के पाप का कहीं विस्तार नहीं है *।

एकवृत्ति पराधीनः स्वाधीनोऽनेकवृत्तिकः।
नित्यदुःखी पराधीनः स्वाधीनश्च सदा सुखी ॥ ७० ॥

जिस मनुष्य की जीवनवृत्ति का एक ही अधार है उसके अतिरिक्त अन्य गति नहीं है, वह पराधीन है। जिस मनुष्य की आजीविका के अनेक साधन हैं वह स्वाधीन है। पराधीन सदा दुःखी रहता है और स्वाधीन सदा सुखी।

स्वातन्त्र्यस्य सुखं लोके ब्रह्मानन्दसमं भवेत्।
शक्यते कथितुन्नैव केवलमनुभूयते ॥ ७१ ॥

स्वतन्त्रः परसत्तायाः सहने न क्षमो भवेत्।
स्वाभिमानस्य रक्षार्थं त्येजेज्जीवनलालसम् ॥ ७२ ॥

---

* राष्ट्र नाश से सत्यानाश वस्तुतः १६ आने सत्य है। भारत में राष्ट्रीयता रही। अतः हजार वर्ष की परतन्त्रता भी उसे नष्ट नहीं कर सकी किन्तु अंग्रेजों के अल्पकालिक साहचर्य से इसकी राष्ट्रीय भावनाएं ढीली पड़ गईं। मुस्लिम शासन में भारत सदात्म विकृत शरीर था किन्तु आज बहुत कुछ अंशों में असदात्म सुन्दर शरीर है और जो बुद्धिमानो की चिन्ता का विषय है। विनष्ट देश का निर्माण किया जा सकता है शत्रुओं से छीना जा सकता है किन्तु विनष्ट राष्ट्र की प्राप्ति असम्भव है।

स्वातन्त्र्यार्थी नरो वीरो मुह्यति नो विपत्स्वपि ।
धैर्ययुक्तोऽव्यपाकर्त्तुं यतते ता न कुप्यति ॥ ७३ ॥

स्वतन्त्रता का सुख ब्रह्मानन्द के समान होता है जिस सुख का केवल अनुभव ही किया जा सकता है वर्णन नहीं। स्वतन्त्र पुरुष अपने पर दूसरों का आधिपत्य किसी भी प्रकार नहीं सहता है, वह स्वाभिमान की रक्षा के लिए जीवन की लालसा को भी छोड़ देता है। स्वतन्त्रता का इच्छुकवीर पुरुष विपत्तियों में भी "किं कर्तव्य विमूढ़" नहीं होता है, वह उन विपत्तियों को दूर करने के लिए प्रसन्नता व धैर्य के साथ प्रयास करता है, उसे कभी झुंझलाहट या क्रोध भी नहीं आता है।

प्रीतेर्मूलमधीनत्वं देहेन मनसाऽथवा ।
स्वावलम्बिकुटुम्बेषु प्रीतिः स्याद् व्यावहारिकी ॥ ७४ ॥

देह से मन से अधीन होना प्रीति का मूल है। स्वावलम्बी कुटुम्बों में विद्यमान प्रीति व्यावहारिक (स्वाभाविक) होती है।

कृपणो नरकं याति नोपकारं करोति यः ।
तथैव प्राप्यते नरकः पित्रोराज्ञामकुर्वता ॥ ७५ ॥

जो कंजूस या हीन व्यक्ति परोपकार नहीं करता है वह नरक में जाता है। इसी प्रकार माता पिता की आज्ञा न मानने वालों को भी नरक ही मिलता है।

विपत्तौ न त्यजेच्छान्तिं सम्पत्तौ च विनम्रताम् ।
नश्येन्न चिन्तया कष्टं नामुत्र सम्पदा व्रजेत् ॥ ७६ ॥

मनुष्य विपत्ति में शान्ति तथा वृद्धि (अभ्युदय) में नम्रता न छोड़े। चिन्ता से कष्ट दूर नहीं होते हैं तथा सम्पत्ति से स्वर्ग नहीं मिलता है। अतः चिन्ता और उल्लासजन्य उद्दण्डता दोनों ही व्यर्थ हैं।

न त्यजेत् साहसं कष्टे विपत्तौ नैव चिन्तयेत् ।
गच्छति साहसात् पारं चिन्तनाच्च निमज्जति ॥ ७७ ॥

कष्ट में साहस न छोड़े तथा विपत्ति में चिन्ता न करे। साहस से किनारा पा लेता है और चिन्ता से मझधार में डूबता है।

आपदस्तु मनुष्याणा मुत्तमा उपदेशिका ।
भुक्त्वा दृष्ट्वा च ताः कोऽपि गृह्णाति हितशासनम् ॥७८॥

आपत्तियां मनुष्य की श्रेष्ठ गुरु हैं। कोई भी मनुष्य आपत्तियां भोग कर या देख कर हितभरी शिक्षा ले सकता है।

कार्यारुढो नरः श्रेष्ठ आकर्मण्यो नराधमः ।
उद्यमो भूषणन्नृणा न्निन्दनीयो निरुद्यमः ॥ ७६ ॥

सदा कार्य पर आरूढ़ मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है। अकर्मण्य (निकम्मा) व्यक्ति नीच होता है। उद्यम मनुष्यों का आभूषण है और आलस्य उनकी निन्दा है।

तपस्यायाः फलं सिद्धि र्न सिद्धिर्हि तपो विना ।
श्रमक्लेशविभीतेन किञ्चित् कर्तुन्न शक्यते ॥ ८० ॥

सिद्धि तपस्याओं का फल ही है, तपस्या विना सिद्धि मिलती ही नहीं है। परिश्रम के क्लेश से डरा हुआ मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता है।

निर्वाचितं जनं दृष्ट्वा मानवैरनुमीयते ।
तस्मै सम्मतिदातॄणां योग्यता चाप्ययोग्यता ॥ ८१ ॥

किसी भी निर्वाचित मनुष्य को देख कर उसको मत (वोट) देने वाले मनुष्यों की योग्यता और अयोग्यता का अनुमान किया जाता है ।

वचसा मानदानाभ्यां भक्त्या च सेवया तथा ।
विश्रब्धं मानवं कृत्वा दभ्नोति वञ्चकोऽकृती ॥ ८२ ॥

आयभूमिस्तु धूर्तानां विश्वस्तजनसंहतिः
प्रतारयन्ति वाग्जालैः तानृजूंस्ते दुराशयाः ॥ ८३ ॥

वाणी से, सम्मान से, दान से, भक्ति से तथा सेवा से मनुष्य को विश्वास में लेकर धोखेबाज नीच व्यक्ति धोखा देता है ।

विश्वासी लोगों से मेलजोल ही धूर्तों (मक्कारों) के आय का कारण है । बिचारे सीधे-सादे उन दुष्टों के वाग्जाल के धोखे में पड़ जाते हैं ।

प्रातिकूल्याद् बहूनाञ्चेद् ग्लानिर्धर्मेऽनुभूयते ।
स्थापयेन्नूतनं धर्मं सर्वसम्मत्यनुसृतम् ॥ ८४ ॥

बहुत लोगों के प्रतिकूल होने से यदि लोगों को धर्म में ग्लानि होने लगे तो सब की सम्मति के अनुसार नवीन धर्म की स्थापना करें ।

स्थापयेन्नियमं दृष्ट्वा देशकालपरिस्थितीः ।
ग्रामे तु नियमो ग्राम्यो नगरे नागरो वरः ॥ ८५ ॥

अप्रयोज्यो विधिः कोऽपि स्थापनीयो बलान्नहि।
योऽयुक्तत्वाद् भवेन्नूनं लोकस्वातन्त्र्यबाधकः ॥ ८६ ॥

देश काल परिस्थिति विचार कर ही 'धर्म-संविधान' का निर्माण करे। गाँव के लिए उसके उपयुक्त धर्म हो नगर के लिये उसके उपयुक्त नागर धर्म हो।

ऐसा नियम जो उपयोग में नहीं लाया जा सकता है कभी भी बलात् किसी पर नहीं लादे। क्योंकि इस प्रकार का नियम अनुपयुक्त होने से लोगों की स्वतन्त्रता का बाधक होता है।

बहूनान्तु मनोवृत्ती रनुसृत्यैव निश्चयेत्।
अनघां सुखदां लोके युगधर्मस्य तालिकाम् ॥ ८७ ॥

लोकधर्मस्तदा स्थाप्यो नवीनः सर्वसम्मतः।
अनुद्विग्नकरो नित्यं सर्वसाधारणे हितः ॥ ८८ ॥

अनेक लोगों की मनोवृत्ति का अनुसरण करके ही निष्पाप और सुखदायक 'युग धर्म' की सूची तैयार करे तभी नवीन सर्वसम्मत लोकधर्म की स्थापना करे जो किसी को उद्वेजित (दुःखी) करने वाला न हो तथा सदा जनसाधारण तक का हित करता हो।

स्थापयेदनुकूलान्हि नियमान् कार्यसाधने।
प्रातिकूल्याच्च तेषान्तु प्रायः कार्यं विनश्यति ॥ ८९ ॥

कार्यसिद्धि के अनुकूल नियमों का ही निर्माण करे। प्रायः नियमों की प्रतिकूलता से कार्य नष्ट हो जाता है।

यद्भावानां नृणां यत्र देशे संसदि वा गृहे।
आधिक्यं सैव धर्मोऽस्ति तत्रत्यो नात्र संशयः ॥ ६० ॥

निकष उत्तम एष धर्मसत्त्वपरीक्षकः।
दृढीकार्यमिदं धर्मं निष्पक्षमतदानतः ॥ ६१ ॥

नूतनो नियमो नास्ति ज्ञायत आदितो यथा।
प्रसिद्धो लोकवाण्यां वै बहुत्वे स्याद् फलम्बहुः ॥६२॥

जिस देश सभा या घर में जिस भावना के लोगों की अधिकता हो वहाँ का वही धर्म होता है इस में कोई सन्देह नहीं है 'बहुमत का आधार' धर्म की उत्तमता की परीक्षा में सुन्दर कसौटी है ऐसे धर्म को ही मनुष्य अपनी निष्पक्ष सम्मति से दृढ़ करें।

धर्म परिवर्तन में बहुमत सम्बन्धी यह निर्णय कोई नवीन नियम नहीं है, यह तो जन साधारण में प्रचलित "अधिक वस्तु का अधिक ही फल" रूप प्रसिद्ध उक्ति द्वारा प्रारम्भ से ही ज्ञात है।

सम्यग्ग्राह्यं मताधिक्यं सदा सर्वैश्च सर्वथा।
मताधिक्येन साध्यास्तु भवन्ति दुष्कराः क्रियाः ॥ ६३ ॥

निष्काम कर्मणा वापि सेवया स्वार्थहीनया।
शुद्धभावोपकारेण मताधिक्यमवाप्यते ॥ ६४ ॥

हर प्रकार से सभी लोगों को बहुमत प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि बहुमत से ही सब कठिन कार्य सिद्ध होते हैं।

निष्काम कर्म से, स्वार्थ रहित सेवा से और शुद्ध भाव से किये गये उपकार के द्वारा बहुमत की प्राप्ति होती है।

मताधिक्येन देवत्वं याति प्रस्तरपुत्तली ।
मताधिक्येन लोकोऽपि प्राप्नुयादुच्चतान्न किम् ॥ ६५ ॥

प्रतिष्ठां लभते मूर्ति र्मताधिक्येन वै भुवि ।
मताधिक्यं विना नैव पूज्यते हैमपर्वतः ॥ ६६ ॥

जब कि बहुमत से पत्थर की बनी हुई मूर्ति भी देवता बन जाती है तो मनुष्य बहुमत से क्यों न उच्च पद प्राप्त करे।

इस पृथ्वी पर साधारण मूर्ति भी निश्चय ही प्रतिष्ठा प्राप्त करती है बहुमत के बिना सोने का पर्वत भी नहीं पूजा जाता।

विषयो यत्प्रकारः स्या न्निर्णेतुं लोकसंसदि ।
तज्ज्ञानां मतयस्तस्मिन् माननीयाः सुभावतः ॥ ६७ ॥

लोकसभा में निर्णय के लिये जिस प्रकार का विषय हो उस में दी गई उसी प्रकार के लोगों की सम्मति सद्भाव से माननी चाहिए।

संहतेरेकभावायाः पञ्चानां पृथगात्मनाम् ।
परमेश्वरभावेन माननीयो हि निर्णयः ॥ ६८ ॥

एक भाव से इकट्ठे हुए पृथक् २ स्वभावादि वाले भी पाँच पुरुषों के निर्णय को परमेश्वर के (आदेश के) भाव से माने अर्थात् पञ्च परमेश्वर होते हैं अतः उनका निर्णय भी उतना ही मान्य है।

यस्मिन्ननुसृताः कालं जनानां मतयोऽधिकम्।
निष्पक्षाश्च तत्कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ॥ ६६ ॥

जिस मामले में लोगों की निष्पक्ष रूप से कालानुसार अधिक सम्मति हो वह कार्य निश्शङ्क रूप से कर लेना चाहिए।

परार्थकृतकार्यस्य सत्फलं लभते नरः ।
येन केन प्रकारेण कृतं व्यर्थं भवेन्नहि ॥ १०० ॥

परोपकारार्थ किये गये कार्य का उत्तम फल मनुष्य पाता ही है। जिस किसी तरह से भी किया हुआ कर्म व्यर्थ नहीं होता है।

स्वसाधनं भवत्येव परेषां हितसाधनात् ।
तेनैव लभ्यते कीर्तिः स्वर्गसिद्धिश्च जायते ॥ १०१ ॥

अन्य लोगों का हितसाधन करने से अपने हित की प्राप्ति भी होती है। इस से ही कीर्ति और स्वर्ग प्राप्ति भी होती है।

स्वार्थस्य साधनादेव परार्थो नश्यति ध्रुवम् ।
तद्विनाशाद्धि दुर्भाव स्तद्धृदि जायते किल ॥ १०२ ॥

स्वार्थ सिद्धि से परार्थ नष्ट हो जाता है और परार्थ नष्ट होने से उसके मन में निश्चय ही दुर्भाव पैदा होंगे।

दुर्भावास्तु भवन्त्येव प्रायशः स्वार्थसाधनात् ।
परमार्थेऽप्यतः सद्भि र्बुद्धिः कार्या हितेच्छया ॥ १०३ ॥

(दूसरों के हित की चिन्ता न करते हुए या उसे नष्ट करते हुए) स्वार्थसाधन से ही प्रायः दुर्भाव पैदा होते हैं। अतः सज्जन हित की इच्छा से परमार्थ में भी बुद्धि लगावे।

द्वादशायतने देहे ह्यनित्ये दुःखकारणे ।
लोकसेवां विना लाभो मया कश्चिन्न दृश्यते ॥ १०४ ॥

अनित्य तथा दुःख के कारण इस द्वादशायतन (मन बुद्धि आदि बौद्धमतीय मुख्य स्थान वाले) शरीर में मैंने सिवाय लोक सेवा कर सकने के सौभाग्य के और कोई लाभ नहीं पाया है ।

शरीर धारण का प्रयोजन इसी में है कि जन सेवा करें अन्यथा इस दुःखमूल शरीर में कोई गुण लाभ नहीं है ।

धन्योऽस्मि कृतपुण्योऽस्मि परसेवां करोम्यहम् ।
सेवायै स्वीकृतो येन धन्यवादं स मेऽर्हति ॥ १०५ ॥

मैं धन्य हूं पुण्यवान् हूं जो पर-सेवा कर रहा हूँ । जिस ने मुझे अपनी सेवा के लिये स्वीकार किया है उसे भी धन्यवाद दे रहा हूँ ।

याथातथ्येन सद्वृत्त्या यद्यद्योऽत्र समीहते ।
तत्सर्वमीश्वरस्यैव सेवायै सः करोति हि ॥ १०६ ॥

जो मनुष्य ठीक २ रूप में सद्व्यवहार द्वारा जो २ यहां चेष्टा करता है वह सब कुछ ईश्वर की सेवा के लिए ही करता है ।

स्वदेशं मानवं वान्यं सुयोगात्सेवते हि यत् ।
जानीयात् प्रभुणा दत्तं सेवायै शोभनं दिनम् ॥ १०७ ॥

यदि किसी दिन स्वदेश अथवा अन्य मनुष्य की मनोयोग पूर्वक स्वर्णावसर द्वारा सेवा की जाती है तो समझ लो भगवान् ने ही कृपा करके सेवा करने के लिये उत्तम दिन दिया है ।

कृता या प्राणिनां सेवा स्वस्य सेवाऽपि साऽभवत् ।
सैवास्तीहेश्वरे भक्ति लोकसेवा हि सौख्यदा ॥ १०८॥

प्राणियों की सेवा ही अपनी सेवा है और यही ईश्वर भक्ति भी है। लोक-सेवा ही सब प्रकार के सुखों को देने वाली है।

संग्रहसञ्चयो नैव जीवनार्थप्रदायको ।
जीवनार्थस्य दात्री तु प्रेमसेवा हि केवला ॥ १०९ ॥

पदार्थों का संग्रह और धन का सञ्चय जीवन के प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाली तो प्रेमपूर्वक की गई सेवा ही है।

अन्यान्यो सेवते लोके स्वसेवां स करोति हि ।
साहाय्यं कुरुतेऽन्येषां स्वसाहाय्यं करोति च ॥११०॥

विश्व में जो दूसरों की सेवा करता है वह अपनी ही सेवा करता है जो दूसरों की सहायता करता है वह अपनी ही सहायता करता है।

स्वेच्छया क्रियते यत्तु तद्धि स्वानन्ददायकम् ।
भयाल्लोभात्परगाज्ञायाः प्रभावाद्दुःखदं कृतम् ॥ १११ ॥

अपनी इच्छा से जो कुछ किया जाता है वही आनन्ददायक होता है, भय लोभ या दूसरे की आज्ञा के प्रभाव से जो कुछ किया गया है वही दुःखद होता है।

भेतव्यमीश्वरादेव न भेतव्यं जनान् क्वचित् ।
जनेभ्यो भयसंचार ईश्वराज्ञाऽवहेलनम् ॥ ११२ ॥

मनुष्य ईश्वर से ही डरे मनुष्य से नहीं। मनुष्य से डरने का मतलब ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना है।

उत्साहो जनसेवायां लोकानां चोपकारता।
सर्वेषामेव सौहार्द इदमेवेश्वराद्भयम् ॥ ११३ ॥

जन सेवा में उत्साह, लोगों का उपकार करना, सभी से स्नेह भाव रखना यही ईश्वर से भय है।

कांग्रेसमुख्यवैशिष्ट्यं निर्भीकत्वं स्वभावतः।
विकासत्वं समायान्ति तद् द्वारा निखिला गुणाः ॥११४॥

कांग्रेस का मुख्य वैशिष्ट्य स्वभाव से निडर होना है इसी के द्वारा अन्य गुण विकसित होते हैं।

क्रोधिनं प्रति न क्रुध्येत् न तेन विवदेदपि।
शृणुयाच्छान्तिभावेन तदा शान्तिमवाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

क्रोधी के प्रति न तो गुस्सा करे और न उससे विवाद ही करे। अपितु शान्तभाव से सब कुछ सुन ले तभी शान्ति प्राप्त की जा सकेगी।

शान्तिमिच्छन्ति राष्ट्राणि प्रयतन्ते च तत्कृते।
परमाणवस्त्रनिर्माणं न त्यजन्ति मनागपि ॥ ११६ ॥

यद्यपि आज सभी राष्ट्र शान्ति की कामना करते हैं तथा इसके लिये प्रयास भी कर रहे हैं, किन्तु वे परमाणु-शस्त्र का निर्माण जरा भी नहीं छोड़ रहे हैं।

काम्यं वैज्ञानिकं ज्ञान मानवोन्नतिकारकम् ।
परं संहारको न स्यात् तत्प्रयोगः कदाचन ॥ ११७॥

मनुष्य की उन्नति में हेतु वैज्ञानिक ज्ञान सभी द्वारा प्राप्त करने योग्य है किन्तु इसका प्रयोग 'संहार' करने के लिये नहीं किया जावे।

प्रत्येकमेधतां राष्ट्र मन्यच्चैवं न पातयेत् ।
राष्ट्रविस्तारलोभेन विश्वशान्तिः क्षतिं व्रजेत् ॥ ११८ ॥

प्रत्येक राष्ट्र अपना विकास करे तथा दूसरे राष्ट्र को न गिरावे। राष्ट्र-सीमा विस्तार लोभ से ही "विश्व शान्ति" खतरे में पड़ती है।

स्वार्थभावा दृढं यावत्तावच्छान्तिर्न नामतः ।
नश्यति न कदाप्येवं विश्वयुद्धविभीषिका ॥ ११९ ॥

जब तक जन साधारण में तथा राष्ट्र के कर्णधारों में स्वार्थ-पूर्ण भावना है उनमें सङ्कीर्ण राष्ट्र भावना व्याप्त है, तब तक शान्ति नाममात्र को भी नहीं। इस प्रकार स्वार्थभावनाओं के रहते हुए युद्ध का भय कभी भी दूर नहीं होता है।

"आजीविकां सुखं शान्तिं लब्ध्वा सन्तुष्टमानसः ।
जीवयेज्जीवताच्चापि मानवो जगतीतले" ॥ १२० ॥

संविधानं विधिभिर्या देप सर्वत्र स्यादृतः ।
क्रियान्वितो जनैर्देशैः शाश्वच्छान्तिसुखार्थिभिः ॥१२१॥

निरन्तर शान्ति सुख की कामना करने वाले देश और मानव अपने २ संविधान में निम्न लिखित विधि को आदर दें और उपयोग में लावें कि जगत् में प्रत्येक मानव आजीविका सुख शान्ति पाकर सन्तुष्ट मन से जीवन बितावे व दूसरों को बिताने दे।

कर्तव्यमधिकारश्च द्वे रूपे एकवस्तुनः ।
प्रमादो नैव कर्तव्यो कार्याधिकारलिप्सुभिः ॥ १२२ ॥

कर्तव्य और अधिकार एक ही बात के दो पहलू हैं। अतः केवल अधिकारों के पीछे ही अन्धे होकर कर्तव्यपालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए अर्थात् सुख शान्ति से जीवित रहने के अधिकार की प्राप्ति हमारे उस कर्तव्य पर निर्भर है जिस से दूसरे भी सुख शान्तिपूर्वक जीवित रह सकें।

पृथ्वीमण्डलराज्यानां तन्त्राणां विविधात्मनाम् ।
एकमेव भवेल्लक्ष्यं प्रजासौख्यमवाप्नुयात् ॥ १२३ ॥

भूमण्डल के समस्त राज्यों में प्रचलित राजतन्त्र कुलीन-तन्त्र प्रजातन्त्र आदि समस्त शासनप्रणालियों का एक ही लक्ष्य होना चाहिए कि प्रजा पूर्ण सुख प्राप्त करे।

विज्ञानसाधनं लब्ध्वा वसुधैकगृहायते ।
यथार्थं भ्रातरः किन्तु कथन्नैकगृहा वयम् ॥ १२४ ॥

आज विज्ञान के साधन वायुयान, वायरलैस, टेलिवीजन आदि पाकर देश काल का व्यवधान नष्ट हो जाने से यह पृथ्वी

क घर सा बनती जा रही है किन्तु यथार्थ में भाई २ भी हम
ोग क्यों नहीं "एक घर के" सदस्यों से हो रहे हैं।

नैवान्यं मानवो द्रुह्यात् यतेत दुःखशान्तये ।
सौहार्देन यथार्थेन विश्वबन्धुत्वमाप्नुयात् ॥ १२५ ॥

मनुष्य किसी अन्य मनुष्य से द्रोह न करे अपितु
दुःख को शान्त करने का उपाय करे तथा वास्तविक सौहार्द
से सच्चा विश्वबन्धु (विश्व का बन्धु=जिसे विश्व अपना बन्धु
ाने विश्व है बन्धु जिसका=विश्व को बन्धु मानने वाला) बने।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वग्रन्थ्यां सर्वसाधारणधर्मप्रचारे
युगधर्मराजनीतिवर्णनन्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सर्वसाधारणधर्माचारे

स्वास्थ्यवर्णनम्

लोकद्वयस्य सिद्ध्यर्थं मर्त्यलोको हि सुस्थलम् ।
देहरक्षां तिरस्कृत्य साधनाप्तिः कथं भवेत् ॥ १ ॥

इह लोक और परलोक रूप दोनों लोकों की सिद्धि के लिये मर्त्यलोक ही उत्तम स्थल माना गया है पर शरीर-रक्षा के निमयों की उपेक्षा कर के साधनों की प्राप्ति कैसे की जा सकती है।

कायेन लभ्यते सौख्य मैहिकं पारलौकिकम् ।
अदः सर्वं विना स्वास्थ्यं लोकेऽपार्थं प्रजायते ।। २ ॥

शरीर से ही इहलौकिक और पारलौकिक सुख मिलते हैं। अतः शरीर के स्वस्थ न रहने पर संसार के ये सभी पदार्थ निरर्थक (बेमतलब) हो जाते हैं।

स्वस्थेनैव तु देहेन नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः ।
आदावतः सदा कार्यं प्रयत्नाद् देहरक्षणम् ॥ ३ ॥

स्वस्थ शरीर से ही जो नित्य और नैमित्तिक क्रियायें की जाती है अतः सर्व प्रथम प्रयत्नपूर्वक सदा देह की रक्षा करें। शरीर की हिफाजत रखे।

जलेन भवति श्लिष्टो गतिशीलश्च वायुना ।
आधारौ सर्वसत्त्वानां जलवायू प्रतिष्ठितौ ॥ ४ ॥

जल से देह में संश्लेष (सरेस की तरह चिपकन) होता है तथा वायु से गति (हरकत) मिलती है, इसीलिये सभी प्राणियों के आधार जलवायु अत्यन्त प्रतिष्ठित हैं, सर्वत्र जलवायु की ही अनुकूलता देखी जाती है।

सर्वत्र व्यापको वायुः स्थानाच्च गुणदोषवान् ।
तमाश्रिता वयं तस्मात् भुञ्जमस्तत्तादृशं फलम् ॥ ५ ॥

यद्देशं यद् गृहं स्थानं यादृग्वायुर्हि वेष्टते ।
तद्वायुगुणदोषाभ्यां गृहीतो मानवो भवेत् ॥ ६ ॥

गुण दोष रहित सर्वत्र व्याप्त वायु स्थान विशेष के कारण गुण या दोषयुक्त होती है, वायु के सहारे रहने वाले हम लोग इसीलिए उसके जैसा ही फल भोगते हैं।

जो देश घर या स्थान जिस प्रकार की वायु से ही वेष्टित (घिरा हुआ) होगा, मनुष्य उसी वायु के गुण दोषों से घेर लिया जावेगा।

सद्य एव कृतो यत्नो रोगान्मुक्तिप्रदायकः ।
सांकर्याय चिकित्सायां उपचरेदादितो बुधः ॥ ७ ॥

रोग पैदा होते ही तत्काल किया हुआ उपाय ही मुक्तिदायक होता है अतः चिकित्सा की सुविधा के लिये समझदार व्यक्ति रोग के प्रारम्भ से ही इलाज शुरु करवा दे।

रोगोत्पत्त्या समं लोकश्चिन्तयेत्तद्विनाशनम् ।
वृद्ध उपेक्षितो रोगो दुश्चिकित्स्यश्च जायते ॥ ८ ॥

मनुष्य रोग उत्पन्न होते ही उसकी शांति के उपाय विचारे। बढ़ा हुआ उपेक्षित रोग बाद में कष्टसाध्य हो जाता है।

रोगोपेक्षा न कर्तव्या न च स्वास्थ्याय शीघ्रता ।
धैर्येण तु कृतोपायो रोगं मूलाद् विनाशयेत् ॥ ९ ॥

न तो रोग की उपेक्षा ही करनी चाहिए और न चिकित्सा कराते समय स्वस्थ होने के लिए आतुरता या व्यग्रतापूर्वक शीघ्रता ही करनी चाहिए। धीरज के साथ किया हुआ उपाय रोग को जड़ से उखाड़ देगा।

रोगिणो जनयेल्लाभं स्वदेश जलवायुवत् ।
स्वौषधं प्रकृतेः पथ्यं गृह्णीयात्तद् बुधस्ततः ॥ १० ॥

स्वदेश की जलवायु से सम्पन्न स्वभावतः हितकारी उत्तम दवा ही रोगी को लाभ पहुंचाती है, अतः बुद्धिमान् उसी औषध को ग्रहण करे।

औषधानां सहस्रेण तुल्य पथ्य हि लाभदम् ।
पथ्येन रहितं व्यर्थ मौषधं शक्तिशाल्यपि ॥ ११ ॥

हजार औषधियों के समान अकेला पथ्य ही लाभकारी है। पथ्य विना ली हुई शक्ति शाली दवा भी बिल्कुल व्यर्थ होती है।

लोकानां केवलं भ्रान्तिश्चिकित्सौषधसेवनम् ।
प्राकृतैर्नियमै रोगी स्वस्थो भूयादनौषधम् ॥ १२ ॥

लोगों का यह केवल भ्रम ही है कि दवा का सेवन करना ही चिकित्सा (इलाज) है । रोगी प्रकृति के नियमों पर चल कर बिना दवा के स्वस्थ हो जाता है ।

देहो यन्मूलमाश्रित्य तिष्ठति च विवर्धते ।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलास्ते तु लभ्याः सर्वत्र सर्वदा ॥ १३ ॥

प्राकृतै नियमैस्तेषां प्रयोगेन प्रयोगवित् ।
हन्ति रोगाननायास मसाध्यान् हानिवर्जितम् ॥ १४ ॥

जिस मूल के आधार पर हमारी देह बनी रहती है तथा बढ़ती है वे मूलतत्व पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु सदा सभी जगह मिल जाते हैं ।

प्राकृतिक नियमों के आधार पर प्रयोगनिपुण विद्वान् इनका प्रयोग कर असाध्य रोगों को भी अनायास (सरलता से) ही बिना किसी हानि के दूर कर देता है * ।

अयुक्ताचरणाल्लोका अभक्ष्य भक्षणात्तथा ।
रुग्णा देहे विजातीय द्रव्यस्य योगतो ननु ॥ १५ ॥

असंयम पूर्ण अनियमित आचरण से तथा अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण से शरीर में विजातीय द्रव्य (शरीर विरोधी तत्वों) के एकत्रित हो जाने पर मनुष्य रोगी हो जाते हैं ।

---

* प्राकृतिक चिकित्सक दवा को भी रोग में एक हेतु मान कर इस में रोग के शांत होने पर भी इस विधि को पूर्ण अहानिकर नहीं मानती है दवा इसे दबा कर दूसरे नये रोग पैदा कर देती है ।

उपवासाद् वस्तिशुद्धेश्च मृद्योगाद्वाष्पस्नानतः ।
सूर्यांशुरिक्तनीराच्च लोकउल्लाघतां व्रजेत् ॥ १६ ॥

उपवास, वस्तिशोधन, मिट्टी के लेप, वाष्प, स्नान तथा सूर्य की किरणों द्वारा रंगीन बोतलों में तैयार किये गये जल से मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

विहाय प्रकृतिं लोको जीवनेऽपि कुतः प्रभुः ।
साहाय्यं प्रकृतेर्वष्टि वैद्योऽप्यगदशक्तिमान् ॥ १७ ॥

प्रकृति को छोड़कर मनुष्य जीवित भी कैसे रह सकता है। यही कारण है कि दवाओं द्वारा शक्तिशाली वैद्य भी प्रकृति की सहायता चाहता है * ।

प्राग्विधानं सदा ज्यायो रोगोत्पत्तेरनन्तरात् ।
यत्नात् स्वास्थ्यप्रदोपायान् पालयेन्नियमतस्सदा ॥ १८ ॥

रोगों के उत्पन्न होने के अनन्तर किये जाने वाले यत्न से रोग न होने देने के लिए पूर्व संरक्षण अधिक अच्छा माना गया है इसलिये सदा नियमपूर्वक स्वास्थ्यप्रद उपायों का पालन करें।

द्वे चक्रे व्यवहारस्य संयमो नियमस्तथा ।
शून्यमेकतरेणापि चलति जीवनं नहि ॥ १६ ॥

व्यवहार रूपी रथ के संयम और नियम दो चक्र (पहिये) हैं इन में किसी एक से रहित होने पर भी जीवनक्रम नहीं चल पाता है।

---

* वैद्य चिकित्सक रोगी की आन्तरिक प्रकृति जान कर उसका बाह्य प्रकृति से सामन्जस्य बिठाते हैं फिर रोगी को हवा पानी धूप आदि के सेवन की हिदायत देते हैं, यही बरबस प्रकृति का पल्ला पकड़ना है।

ब्राह्मवेलां समुत्थाय शौचार्थं पुरुषो व्रजेत् ।
विना कालातिपातेन पुरुषायुषकाम्यया ॥ २० ॥

पुरुष पूर्ण आयु की कामना से प्रातःकाल ब्राह्मवेला (ब्राह्म मुहूर्त) में उठ कर बिना विलम्ब किये शौच के लिए चला जावे ।

उषःपानेन नश्यन्ति बद्धकोष्ठादि व्याधयः ।
शौचत्यागादतः पूर्व मुषःपानं सुधोपमम् ॥ २१ ॥

प्रातः (उषा) काल में जल पीना कब्ज आदि कई व्याधियों को दूर करता है अतः शौच जाने से पूर्व उषापान अमृत तुल्य है ।

स्वेदैर्मृत्तिकया नित्यं मलावृत्तानि देहिभिः ।
जातानि लोमकूपानि शोधनीयानि स्नानतः ॥ २२ ॥

पसीने एवं मिट्टी से ढंके हुए रोमों के छिद्रों को पुरुष स्नान द्वारा साफ कर उन्हें मल रहित करें ।

धर्मलोभेन न लोकः स्नानपूर्ति समाचरेत् ।
महत्त्वं स्वास्थ्यदं जानन् यथावत् स्नानमाचरेत् ॥ २३ ॥

मनुष्य केवल धर्म लाभ के लिये जैसे तैसे भी स्नान कर्म की पूर्ति मात्र ही न कर ले । स्नान के स्वास्थ्यदायक महत्त्व को समझ कर अच्छी प्रकार से (पूर्णतया) स्नान करें ।

स्नानार्थं शीतलं स्वच्छं पानीयमुत्तमं मतम् ।
अशक्तौ शीतवृद्धौ च ईषदुष्णं वारि तद्धितम् ॥ २४ ॥

स्नान के लिए ठंडा एवं स्वच्छ जल ही अच्छा होता है। रोग या अवस्थादि की कमज़ोरी में या शीत की अधिकता में शरीर के तापमान तुल्य गर्म किया गया या देह को सुहाता हुआ पानी ठीक होता है।

स्नात्वा देवार्चनं कुर्यादादित्य सम्मुखे स्थितः।
तस्याममृतवेलायां सूर्याज्जीवनमाप्नुयात् ॥ २५ ॥

स्नान करके पुरुष सूर्यदेव के सम्मुख स्थित होकर देवपूजा करें इस प्रकार उस अमृत वेला में सूर्य से जीवनीशक्ति प्राप्त करें।

आधिव्याधि विनाशाय प्रार्थना श्रेष्ठमौषधम्।
जीवा तु भानुसम्पर्कात् तत्काले पूर्णलाभदा ॥ २६ ॥
प्रार्थना विधियोगेन मानसं वलमाप्यते।
युगपदेव जनस्यैव द्विरूपो लाभ एधते ॥ २७ ॥

आधि (चिन्तादि मानसरोग) तथा व्याधि (शारीरिक पीड़ा) के विनाश के लिये प्रार्थना श्रेष्ठ दवा है। सूर्यदेव की जीवनप्रद किरणों के सम्पर्क से उस समय तो वह (प्रार्थना) पूर्ण लाभदायक होती है।

प्रार्थना की विधि से मनुष्य को मानसिक वल की प्राप्ति होती है इस प्रकार एक साथ ही मनुष्य का दोहरा लाभ वढ़ता है।

प्राणिश्वासेषु सञ्चारी रोगकीटाणु नाशकः।
प्राणदो यज्ञवायुस्तु सेवनीयो नृभिः सदा ॥ २८ ॥

पौष्टिकान् स्नेहदांश्चैव ज्वरघ्नान् वायुशोधकान् ।
रोगाणुनाशकांश्चापि सुगन्धजनकांस्तथा ॥ २९ ॥

पदार्थानौषधीरन्नं घृताक्तान् शर्करायुतान् ।
होमाग्नौ जुहुयादेतत् सर्वेषां स्वास्थ्यरक्षकम् ॥ ३० ॥

प्राणियों के श्वास प्रश्वास में सञ्चारित होने वाला, रोगोत्पादककीटाणुओं का नाशक एवं प्राणप्रद यज्ञवायु का मनुष्य सदा सेवन करें ।

मनुष्य होमाग्नि में पौष्टिक स्नेहप्रद ज्वरनाशक वातावरण को पवित्र करने वाले रोगकीटाणु नाशक तथा सुगन्धकारी पदार्थों औषधि व अन्न को, घृत सिञ्चित व शर्करा मिश्रित कर हवन करें हवन की यह प्रक्रिया सभी के स्वास्थ्य की रक्षक है ।

अवयवेषु बलन्नित्यमभ्यासाद्वर्धते ध्रुवम् ।
भवेन्नियमितोऽभ्यासो नो चेद्धानिर्भविष्यति ॥ ३१ ॥

नित्य नियम से व्यायाम (अभ्यास Exercise) करने से शरीर के अवयवों का बल बढ़ता है किन्तु यह अभ्यास नियमित हो (अर्थात् कभी हो कभी नहीं, यह स्वभाव नहीं होना चाहिए नित्य होना चाहिए उस में भी मात्रा व समय की आवश्यकता है यह नहीं कि एक दिन तो शरीर को थका मारने जैसा व्यायाम किया जावे और दूसरे दिन शरीर पर प्रभाव तक डालने में असमर्थ साधारण हो, समय की नियमितता का पूरा ध्यान रहे) अन्यथा हानि होगी ।

यदङ्गं स्यात् क्रियाहीनं तस्य शक्तिर्विनश्यति।
यथायोग्यमतस्तद्वै कर्मसु प्रेरयेत्सदा ॥ ३२ ॥

निष्क्रियाङ्गेषु जायन्ते जाड्यं शैथिल्यशून्यते।
ततोऽवश्यं करणीय मङ्गानां चालनं सदा ॥ ३३ ॥

मनुष्य का जो अङ्ग (उपयोग में न आने से) क्रियाहीन रहता है उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है वह सदा के लिए निकम्मा हो जाता है। अतः अङ्गों को सदा उनके लायक कामों में लगाये रखना चाहिए।

निकम्मे अङ्गों में जड़ता (स्तब्धता) शिथिलता (ढीलापन) और सूनापन हो जाता है, अतः सदैव मनुष्य को हाथ पैर हिलाते रहना चाहिए अर्थात् प्रत्येक अङ्ग को क्रियाशील रखने वाला काम करते रहना चाहिए।

सुयोग्यगुरुनिर्देशे कृतायोगासनक्रिया।
नीरोगं स्वस्थमर्वाङ्गं कुर्याद्दीर्घायुप जनम् ॥ ३४ ॥

सुयोग्य गुरु की देख रेख में की गई योगासनों की क्रिया मनुष्य को नीरोग, सभी अङ्गों से स्वस्थ और दीर्घायु करती है।

योगासनाच्च व्यायामात् रक्तसञ्चरणं तनौ।
शुद्धं नियमित भूत्वा तुष्टिपुष्टि प्रयच्छति ॥ ३५ ॥

योगासन और व्यायाम से शरीर में रक्त सञ्चरण शुद्ध और नियमित होकर प्रसन्नता और पुष्टि देता है *।

---

* शरीर में रक्त सचरण (Blood Circulation) ही जीवन है अतः रक्त का पूर्ण शुद्ध तथा नियमित गति होना आवश्यक है अन्यथा

रक्तसञ्चरणं देहे जीवनं प्रोच्यते बुधैः ।
यत्र स्यात् बन्धनं तस्य तत्र निर्जीवता मता ॥ ३६ ॥

शरीर में रक्त का सञ्चरण (Circulation) ही जीवन
...ता जाता है जहां रक्तसञ्चरण में अवरोध हुआ वहीं
...यु है ।

हसनन्त्वट्टहासेन फुफ्फुसस्वास्थ्यदायकम् ।
कर्तव्यं तादृशं हास्यं सकृत्तु प्रतिवासरम् । ॥ ३७ ॥

पूरी तरह खुले दिल से खूब जोर से हंसना फुफ्फुस
...फड़ों) को स्वस्थ रखता है । अतः मनुष्य (सभ्यता के
...नावटी चोले को उतार कर) कम से कम दिन में एक बार
इस प्रकार हंसे ही ।

क्रोशमात्रं भ्रमेन्नित्यं पदातिः सन्ध्ययोर्द्वयोः ।
रोगा वृक्कोदरादीनां नश्यन्ति न भवन्ति च ॥ ३८ ॥

रोज प्रातः और सायं कोस आध कोस घूमना चाहिए ।
... तरह घूमने से वृक्क (गुर्दे) और उदर (पेट) की बीमारियां
... हो जाती हैं और नई पैदा नहीं होती हैं ।

... फुंसी दाद खाज आदि चर्मरोग, जिनका सम्बन्ध त्वचा से कम किन्तु
... से अधिक है, पैदा होते रहते ही रक्त की निर्गमन गति के अभाव से
...चाप (High blood pressure या low blood
pressure) मस्तिष्कहीनता अरुचि व चिड़चिड़ापन जैसे रोग पैदा होते हैं
... से मनुष्य को अस्वस्थ बने रहता है । व्यायाम से रक्त के ये सभी
...ल्लूक या औपसर्गिक रोग नष्ट हो जाते हैं जिस से प्रधान कारण
...शुद्धि या स्वच्छता है ।

पूतविध्यर्जितं शुद्धं प्राणतत्वैश्च संयुतम् ।
ऋतुयोग्यं यथाकाल चर्वितं भोजनं सुखम् ॥ ३९ ॥

पवित्र कर्म व उपायों द्वारा प्राप्त, विटामिन एवं प्रोटीन से
त ऋतुओं के अनुकूल भोजन निश्चित समय पर चवा २ कर
या हुआ सुख कर होता है।

देहे लोहानुपातेन रक्तवृद्धिस्तु सम्भवेत्।
नृणां रक्ताभिवृद्ध्यैव कामशक्तिः प्रजायते ॥ ४० ॥
रक्तं हि वर्द्धते यावत् तावत्कामोऽपि वर्धते ।
रक्तक्षयक्रमेणैव कामशक्तिर्विनश्यति ॥ ४१ ॥

अतो वयो विचार्यैव देहावश्यकतामनु ।
गृहीतं प्राणिनां खाद्यं स्वास्थ्यदं कामशासकम् ॥ ४२ ॥

शरीर मे लोह के अनुपात से ही रक्तवृद्धि होती है और
क्तवृद्धि के अनुसार ही कामशक्ति वढ़ती है। जब तक रक्त
ता रहता है काम भी वरावर वढ़ता रहता है। रक्त के क्षय
ने के क्रम से ही कामशक्ति नष्ट होती है। अतः अपनी
वस्था देख कर शारीरिक आवश्यकता का विचार कर किया
आ भोजन जहां एक ओर प्राणियों का स्वास्थ्य वढ़ाता है वहीं
सरी ओर कामशक्ति पर भी नियन्त्रण रखता है। युवावस्था
मनुष्य को ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है और
द्धावस्था में ऐसा भोजन त्याज्य होता है।

नित्यं करांगुलिप्रान्तै र्भोजनान्ते च मार्जनम् ।
जठरेक्षणयोः कुर्यात् पक्तेर्दृष्टेश्च वर्धनम् ॥ ४३ ॥

भोजन के अनन्तर नित्य करांगुलियों के अग्र भाग से पेट और आंखों को मांजना पाचनक्रिया और दृष्टिशक्ति की वृद्धि करता है।

न तृषया विना वारि भोजनञ्च विना क्षुधा ।
पिबेद्वा भक्षयेदेव नीरोगस्त्वं भवेद्यदि ॥ ४४ ॥

यदि मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है तो बिना प्यास जल न पीवे तथा बिना भूख भोजन न करे।

नैशजागरणाद्देहे स्वल्पपीडा भवेद्यदि ।
सनाशक्त्या दिवा स्वापो नैव दोषाय सम्भवेत् ॥ ४५ ॥

रात्रि में जागने से यदि शरीर में हल्की सी पीड़ा होने लगे तो इसे दूर करने को दिन में भी कुछ समय के लिये सो लेना दोष नहीं माना जाता है।

विना ग्रीष्मं दिवास्वापो नैपाथ्याद्रोगकारकः ।
सीमोल्लंघी तु ग्रीष्मेऽपि व्यसनत्वेन निन्द्यते ॥ ४६ ॥

ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त दिन में सोना विषमावस्थाजन्य रोगों का उत्पादक होता है। ग्रीष्म ऋतु में भी यदि सीमा तोड़ कर दिन भर ही पड़ा रहा जावे तो यह भी अस्वास्थ्यकर होने के साथ ही व्यसन (कुटेव गन्दी आदत) के रूप में बुरा माना जाता है।

संसारे प्राणिनां स्वास्थ्यं गुणाग्निसाम्यतो भवेत् ।
वैषम्ये स्वल्पमात्रेऽपि जायते स्वस्थता कुतः ॥ ४७ ॥

संसार में प्राणियों का स्वास्थ्य गुण व अग्नि की समान अवस्था पर ही निर्भर है। गुणों में या अग्नि (पाचन शक्ति)

में जरा भी विषमता (अनियमितता कमीवेशी) हो जाने पर स्वास्थ्य कहां तक ठीक रह सकेगा ।

चलनाद्धरिते घासे स्थूलवस्तुविलोकनात् ।
भूयोऽक्षिस्पन्दनाच्चैव शुद्धनीरेणमार्जनात् ॥ ४८ ॥

गाढज्योतिस्तमो दृश्याद् दृष्टेश्च परिहारतः ।
नेत्रज्योतिस्थिरन्नित्यं नोपनेत्रमपेक्षते ॥ ४६ ॥

नित्य पैदल ही हरी २ घास पर घूमने से स्थूल वस्तुओं के देखने से बार २ पलक डालते रहने से शुद्ध (साफ व ठण्डे) जल से धोने से तेज रोशनी या तेज अंधेरे वाले स्थानों से नजर बचाते रहने से नेत्रज्योति स्थिर रहती है और चश्मे की आवश्यकता भी नहीं होती है ।

सन्तानोत्पत्तिमुद्दिश्य स्त्रियं गच्छेदृतौ नरः ।
धर्मात्मा शक्तिमान् स्वस्थः सर्वसम्पद्युतश्च सः ॥ ५० ॥

मनुष्य सन्तानोत्पत्ति के पवित्र उद्देश्य को लेकर (न कि भोगों के लक्ष्य से) केवल ऋतुकाल में स्त्री के रजोदर्शन की शुद्धि पर ही (न कि सदा) स्त्री सहवास करे । ऐसा व्यक्ति धर्मात्मा स्वस्थ शक्तिशाली और सभी सम्पत्तियों से युक्त होता है ।

वेगे सति शरीरेभ्यो मलानां क्षेपणं वहिः ।
श्रेयोऽवेगे तु कुर्यान्न प्रयत्नमन्यकारणैः ॥ ५१ ॥

वेग की अवस्था में ही शरीर से मलों को बाहर निकलना ठीक है । वेग न होने पर अन्य कारण से उन्हें निकालने के लिये प्रयत्न न करे ।

यथा आवश्यकता होते ही शौच के लिए चला जावे उस में विलम्ब न करे किन्तु यदि शौच की शङ्का नहीं है तो अपने नियमित समय पर चला तो जाय किन्तु जोर लगाने, कांसने जैसी क्रियाओं में अप्राकृतिक प्रयास न करे, ऐसा करने से मलाशय के उपांग (organs) निर्बल हो जावेंगे और हमेशा के लिए आदत बिगाड़ देंगे, बार २ जुलाब लेना बस्तिशोधन करना भी इसी तरह के हैं। इसी प्रकार अन्य वेगों के विषय में भी समझें।

पठित्वा रोगचिह्नानि पुस्तकेभ्य इतस्ततः।
संगमय्य स्वदेहे च रोगान् क्रीणाति मन्दधीः॥ ५२॥
एतादृशस्य रोगस्य मनोभूमिभवस्य तु।
अपि धन्वन्तरिर्नास्ति चिकित्साकरणे क्षमः॥ ५३॥
मन्यतेऽतोऽशुभं लोके स्वनाडीवीक्षणं स्वयम्।
अर्धज्ञानोभिषक्चापि यमराजेन सन्निभः॥ ५४॥

इधर उधर पुस्तकों में रोगों के चिह्न पढ़ कर तथा उन्हें अपने शरीर पर घटा कर मन्दबुद्धि लोग कई रोग खरीद लिया करते हैं।

मनोभूमि पर उत्पन्न इस प्रकार के रोग की चिकित्सा करने में साक्षात् धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं हो सकते हैं।

इसीलिये लोगों में अपने हाथों अपनी नाड़ी देखना अशुभ माना जाता है इसी प्रकार अर्धज्ञानी वैद्य भी यमराज तुल्य माना गया है। 'नीम हकीम खतरा ए जान' का यही मतलब है।

इति श्रीघनश्यामगीतायां नन्दगन्यां सर्वसाधारणधर्माचरे स्वास्थ्यवर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

* विविधविद्यासु मनोविज्ञानम् *

व्यवहारं विना लोक स्थितिर्नैव मनागपि ।
अज्ञात्वा व्यवहार्यञ्च व्यवहारो भवेत्कथम् ॥ १ ॥

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्यों का निर्वाह व्यवहार विना बिल्कुल नहीं हो सकता है तथा अपने व्यवहार्य (जिससे व्यवहार किया जा रहा है) मनुष्य को जाने विना व्यवहार चल कैसे सकता है ?

अतस्तूत्तममार्गेण व्यवहारस्य सिद्धये ।
सम्पर्किलोकचित्तस्य ज्ञानं प्राथमिकी क्रिया ॥ २ ॥

अतः उत्तम तरीके से व्यवहार की सिद्धि के लिये अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों के चित्त को जानना सर्वप्रथम प्रक्रिया है ।

सर्वस्य प्राणिवर्गस्य मनुष्याणां विशेषतः ।
मनोविज्ञानशास्त्रेऽत्र सम्पूर्णमनसोऽधीतिः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों के विशेष कर मनुष्यों के मन का सम्पूर्ण अध्ययन इस 'मनोविज्ञान' शास्त्र में है ।

मनोविज्ञानमेवेदं साइकोलोजि कथ्यते ।
इल्मे रूहान्यरब्याञ्च गुप्तहृत्तत्त्वबोधकम् ॥ ४ ॥

हृदय के गुप्त तत्त्वों को प्रकाश में लाने वाली यह विद्या मनोविज्ञान अंग्रेज़ी में साइकोलोजी (Psychology) तथा अरबी में इल्म ए-रूहानी (आत्मविद्या) कहलाता है।

मनःशक्तिस्तु लोकेऽस्मिन् संस्कारक्षेत्रमुत्तमम् ।
व्यवहारांकुरोत्पत्त्यै शरीर उर्वरं मतम् ॥ ५ ॥

इस शरीर में मनःशक्ति व्यवहाररूपी अंकुर की उत्पत्ति के लिए उत्तम जुता जुताया संस्काररूपी खेत मानी गई है अर्थात् जिस प्रकार जगत में ठीक तरह से संस्कार की हुई भूमि में उर्वरशक्ति बीज को अंकुर रूप देने में समर्थ होती है ऐसे ही शरीररूप जगत् में संस्कार भी उत्तम भूमि है, संस्कार मन की शक्ति पाकर सद्व्यवहार रूप में प्रकट होते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मभावस्य चिह्नं भवति हृत्पटे ।
योग्यकालं समासाद्य तदेव विवृत्तं भवेत् ॥ ६ ॥

अत्यन्त से अत्यन्त सूक्ष्म भाव (जो बिजली की दीप्ततम रेखा की भांति तत्काल ही प्रकट होकर विलीन हो जाता है) का भी हृदयपट पर चिह्न पड़ जाता है। यही अपने उपयुक्त समय पर स्पष्ट हो जाता है * ।

---

* इस पद्य में आधुनिक मनोविज्ञान के अत्यन्त पारिभाषिक पदार्थों का प्रयोग न करते हुए भी महाराज ने आपा पूरा सरल पद्धति में अचेतन मस्तिष्क (Unconscious mind) व उसके कार्य का विवरण पूर्णतया दे दिया गया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मन के मुख्य २ भेद मानते हैं

प्राणिनां हृत्पटे यादृक् प्रकाशः परिवेपतः ।
पतति जायते तस्मिन् तादृशी भावनाकृतिः ॥ ७ ॥

(१) Concious और (२) Unconcious mind (चेतन व अचेतन मस्तिष्क) कोई २ इनमे Sub concious (अव चेतन) नामक तृतीय भेद भी गिनते है ।

समस्त मानसिक प्रक्रियायें चेतन मस्तिष्क का धर्म है, जाग्रतदवस्था या सचेतनावस्था में यह मन अचेतन मस्तिष्क पर नियन्त्रण रखता है । अचेतन मस्तिष्क हमारी समस्त अज्ञात मनोवृत्तियों का केन्द्रस्थल है । हमारी वे इच्छाये जो मन मे उत्पन्न होती हैं और पूर्ण नहीं हो पाती हैं अथवा समाजविरुद्ध प्रकाशन होने के कारण दबा दी जाती है वे यही आकर शरण पाती हैं तथा चेतन मन से द्वन्द्व करती रहती है हम समझते है वे इच्छायें समाप्त हो गई हैं किन्तु उनकी जड अचेतन मन मे जम जाती है, स्वप्नों में कल्पना मे तरह २ की हसी मजाक मे और गोत्रादि स्खलन (अन्य की बजाय अन्य का नाम आ जाने) मे उनकी अभिव्यक्ति होती है कभी २ अन्तर्मन और बहिर्मन के इस द्वन्द्व मे बहिर्मन बहुत बुरी तरह पराजित हो जाता है जिससे बुद्धि सन्तुलन खो बैठती है तथा इन दोनों की विभाजक सीमा समाप्त हो जाती है और मनुष्य पागल भी हो जाता है ।

मनो वैज्ञानिक चिकित्सक अन्ततश्चेतनमन (अवचेतन) को बहुत महत्व देते हैं तथा वे मनुष्य की अस्वाभाविक आदतों मे इसी का पूरा हाथ समझ कर अनुकूल चिकित्सा करते हैं, वे उन्मुक्त साहचर्य (Free Assoiation) द्वारा अव्यक्त इच्छाओं को उभार कर वास्तविक कारण को अचेतन के स्तर से निकालते हैं इसी द्वारा अपराधियो के अपराध का भी पता प्रश्न प्रणाली द्वारा लगाते है ।

अतः उपर्युक्त पद्य का भाव बिल्कुल उपयुक्त है ।

प्रभावो मनसश्चैव देहेऽपि चिन्तनेऽपि च ।
तस्मान्मनः प्रधानं स्यादाधिव्याधिविनाशने ॥ ८ ॥

प्राणियों के हृदयपट पर परिवेश (Environment) द्वारा जैसा प्रकाश पड़ता है वैसी ही भावनाकृति हो जाती है ।

शरीर व विचारों पर भी मन का ही प्रभाव पड़ता है, अतः मन आधि (चिन्तादि की व्यथाओं) तथा व्याधियों (शारीरिक पीड़ाओं) को नष्ट करने में समर्थ है ।

विवृद्धा चेन्मनश्शक्तिः भीरुतां पातयत्यधः ।
वृद्धिहानी मनश्शक्तेः कारणं सुखदुःखयोः ॥ ९ ॥

यदि मन की शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है तो कायरता की वृत्ति को नष्ट कर देती है । मन.शक्ति की वृद्धि या हानि ही सुख दुःख का कारण है ।

सदैव मानवो रक्षेत् सिद्ध्याशापूरितं मनः ।
मनो नैराश्यभावेन विक्रान्तोऽप्यवसीदति ॥ १० ॥

मनुष्य सदैव अपना मन सफलता की आशाओं से पूर्ण रखे । मन में निराशा के भाव आजाने से वीर पुरुष भी अवसन्न (विषाद मग्न) हो जाता है ।

चेतनाशक्तिपुञ्जस्तु शरीरे मन एव हि ।
शारीरशक्तिपुञ्जस्तु यकृच्च जीवदायकः ॥ ११ ॥

हमारे शरीर में मन ही चेतनाशक्ति का पुञ्ज है तथा जीवनप्रद यकृत शारीरिकशक्ति का पुञ्ज है ।

मनः पाताद्भवेत्पातः उत्साहश्च विनश्यति ।
केनाप्यतः प्रकारेण ह्युत्थानं मनसः "सुखम्" ॥ १२ ॥

मन के पतन से ही मनुष्य का पतन होता है तथा उत्साह भी नष्ट हो जाता है अतः जिस किसी प्रकार से भी हो मन का उत्थान ही सुखप्रद होता है।

सदसद्वाक्यप्रवृत्त्यैव व्याजाच्च तन्त्रमन्त्रयोः ।
चित्ते शक्तिप्रदानेन तान्त्रिकोऽत्र प्रशस्यते ॥ १३ ॥

भले बुरे जैसे तैसे भी वाक्यों से तथा तन्त्र और मन्त्र के बहाने से मन में शक्ति (साहस) देने से तान्त्रिक व्यक्ति की इस मनोविज्ञान में अत्यन्त प्रशंसा की जाती है तथा इसी से लोक में भी पूजित होता है * ।

---

* सम्मोहन विज्ञान (Hypnotism) बहुत कुछ मनोविज्ञान का ही क्रियात्मक रूप है। इस मे पात्र को कृत्रिम निद्रा मे डालकर निर्देशन (Suggestion) द्वारा कुछ आदेश दिये जाते है तथा पात्र को निद्रा मुक्त कर दिया जाता है, पात्र जगने पर इस आदेश को तो भूल जाता है किन्तु यथा समय इसकी पूर्ति मानो स्वत. प्रेरणा से उचित विधि से करता है, इस प्रकार सजेशन द्वारा सब कुछ कराया जा सकता है। तान्त्रिक प्रक्रिया इसी विद्या का एक अति प्राचीन सुन्दर रूप है इस मे विना निद्रा के ही अपना प्रभाव डाला जाता है जिस मे मुख्य हेतु तान्त्रिको की अजीब वेशभूषा आचरण तथा कुछ यन्त्रादि की क्रियाए हेतु होती हैं उसके मन्त्र का अक्षरार्थ किया जावे तो प्रस्तुत विषय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा किन्तु उसके उच्चारण की प्रक्रिया व प्रयोक्ता का दृढ़ विश्वासपात्र को मानने के लिये विवश कर देता है कि यह सब कुछ उसके अनुभव रामबाण क्रिया है।

संसारे सुखदुःखस्य कारणं मनसः स्थितिः ।
उत्थानान्मनस एव शक्त्यानन्दः प्रजायते ॥ १४ ॥

संसार में मन की स्थिति ही सुख दुःख का कारण है। मन के उत्थान से अर्जित शक्ति द्वारा ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

सर्वोपभोगसामग्री वृथैव भाति प्राणिने ।
चित्तन्नासज्जते यत्र चित्तासक्तिर्हि सौख्यदा ॥ १५ ॥

सुस्वादुभोजनं भुञ्जन् श्रुत्वा पुत्रस्य रुग्णताम् ।
चिन्तयत्येव पुत्रं हि त्यक्त्वा खाद्यं यथा पिता ॥ १६ ॥

जिस में मनुष्य का मन नहीं रमता है वह वस्तु पूर्ण उपभोग के योग्य होते हुए भी अच्छी नहीं लगती है मन की आसक्ति ही सुखदायक होती है।

जिस प्रकार पिता उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन रुचिपूर्वक करता हुआ भी पुत्र की रुग्णता के समाचार सुन कर उस खाने को छोड़कर पुत्र की ही चिन्ता में लग जाता है अब वह खाना उसे कतई नहीं रुचता है।

मनसि विकृते जाते सुपुष्टाङ्गोऽपि न्यक्कृतः ।
उन्मत्तवद्विवर्तेत अयोग्यः सर्वकर्मसु ॥ १७ ॥

यहाँ द्वारा घड़े की तुलना [illegible] शरीर को भोगने से [illegible] इसी लिया जा चुका है। "माँ (चाक) पर उछालने पर कोई नो लगता" का भी यही अर्थ है।

मन के विकृत हो जाने पर मनुष्य हृष्टपुष्ट होते हुए भी सभी कार्यों में अयोग्य होकर उन्मत्त की भांति आचरण करता है तथा सभी से तिरस्कार पाता है *।

ईर्ष्याचिन्ताभयद्वेषा श्चत्वारो मनसोऽरयः ।
मनोऽप्रधर्षितञ्चैभिः शक्तं सर्वार्थसाधने ॥ १८ ॥

ईर्ष्या (दाह, जलन) चिन्ता, भय और वैर, मन के चार शत्रु हैं। इन चारों के दवाव से बचा हुआ ही मन अपने प्रयोजनों की पूर्ति में समर्थ होता है।

---

* मन के विकृत होने की दो अवस्थाएं होती हैं (१) एक साधारण तथा (२) असाधारण। सदा एक ही एक विषय का चिन्तन करते रहना किन्तु मन का सन्तुलन न खोना प्रथम अवस्था है, इसमें सभी उच्च कोटि के दार्शनिक वैज्ञानिक आविष्कार राजनीतिज्ञ व्यापारी व साधक होते हैं, इन लोगों का मन जनसाधारण की सी Normal अवस्था में नही रहता है। ये सर्वत्र अपनापन या अपने से सम्बन्धित बात ही देखते हैं किन्तु यह अवस्था बुरी नही है अपितु बहुत अच्छी है जिसका सम्बन्ध बहुत कुछ एकाग्रता और सनक के बीच का है।

दूसरी अवस्था मे भी दो भेद हैं एक वे व्यक्ति जो विकृत मन होते हुए भी तीव्रता से युक्त होते हैं, सकल्प शक्ति का ह्रास Ficklemindedness बारम्बार की निराशा, लम्बी बीमारियाँ, प्रेम की तृष्णा, बचपन की अपूर्ण आकाङ्क्षाएं इनमें कारण होती हैं. ऐसे व्यक्ति प्राय. सोचते ही हैं करते नही—उनके जीवन में लापरवाही पद २ पर दृष्टिगोचर होती है, ये सभी कार्यों के अयोग्य होते यद्यपि इनकी बाते गवर्नमेंट की योजनाओं की तरह लम्बी चौड़ी होती हैं। दूसरे ढङ्ग के व्यक्ति सर्वथा पागल होते हैं जिन्हें होश भी नहीं रहता है।

नावसन्नं मनः कुर्यात् कदाचिदपि चिन्तया ।
दयैवास्ति जगत्कर्तुः सैव शं नो करिष्यति ॥ १९ ॥

कभी भी (व्यर्थ) चिन्ताओं से मन को विषण्ण न करें यह सब कुछ जगत् प्रभु की कृपा ही है जिससे हमारा सब कुछ हुआ है तथा वही हमारा कल्याण करेगी ।

शास्तुर्निशम्य वाक्यानि कृत्वा मननमात्मनि ।
प्रयोज्य कर्मसु पश्चात् आप्नुयात्तच्छुभं फलम् ॥ २० ॥

तदा हि सार्थकं तत् स्यात् नो चेद्भवति निष्फलम् ।
अचलित्वा स्मृतौ लक्ष्य मिच्छतापि न लभ्यते ॥ २१ ॥

उपदेष्टा (गुरु) जन के वचन सुन कर उनका अपने आप खूब मनन कर बाद में उन्हें काम में लाकर उनका शुभ फल प्राप्त करें । तभी उन (उपदेश) वचनों की सार्थकता है, नहीं तो सब कुछ अरण्यरोदन अथवा शेखचिल्ली का प्रभाव ही है । लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी मार्ग पर चले बिना वह प्राप्त नहीं किया जा सकता है ।

एकस्मिन् समये स्वान्ते ज्ञानम्भवति चैकशः ।
तस्माद्विविधकार्येषु मनः पारं न गच्छति ॥ २२ ॥

एक समय में मनुष्य के मन में एक ही प्रकार का ज्ञान रहता है अतः भिन्न २ प्रकार के अनेक कार्यों में मन एक साथ पार नहीं पा सकता है ।

महर्षि गौतम के अनुसार भी मन का लक्षण "युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति- र्मनसो लिङ्गम्" (एक साथ अनेक ज्ञान का न होना) माना गया है ।

मनसोऽनन्यभावेन यत्रकुत्रनिरोधनम् ।
योगे तत्कथ्यते ध्यान तच्च सर्वार्थसाधकम् ॥ २३ ॥

अनन्य भाव से (दूसरी जगह जरा भी विचलित न होते हुए) मन का एक ही स्थान (विषय) पर रोके रखना 'योग-शास्त्र' में ध्यान कहलाता है इसे ही सर्वसाधारण की भाषा में 'एकाग्रता' कहते हैं जो यावन्मात्र प्रयोजनों की पूर्ति में साधना है ।

सिद्धीनामुत्तमा सिद्धि श्चित्तस्यैकाग्रता मता ।
तयैव सर्वकामानां सिद्धिर्वै जायते ध्रुवम् ॥ २४ ॥

सभी प्रकार की साधनाओं के फलों में 'एकाग्रता' ही उत्कृष्ट फल है, जिस से सभी कामनाओं की सिद्धि निश्चित हो जाती है ।

चित्तस्यैकाग्रता सिद्धिः शान्तिकाले भवेद् द्रुतम् ।
रात्रौ द्विवादनात् सैव प्रातरापञ्चवादनात् ॥ २५ ॥

कारण मन इन्द्रियों का साथ देता है तभी इन्द्रियों का विषयों से ग्राह्य ग्राहक भाव सम्बन्ध होता है मन अत्यन्त अणु है । अत: एक साथ एक ही इन्द्रिय का साथ देता है यह है प्राचीन मत किन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिक तथा समय २ पर किये गये प्रदर्शन बताते हैं कि सामान्यतया मन का यह लक्षण होते हुए भी अभ्यास द्वारा मन एक साथ कई कार्य कर सकता है । श्री हरप्रसाद श्री अम्बिकादत्त व्यास, महामहोपाध्याय गट्टू शास्त्री आदि इस के निदर्शन हैं जो एक साथ कई कार्य कर सकते हैं । कहते हैं कि नेपोलियन बोनापार्ट एक साथ २० पत्रों के उत्तर लिखवा देता था चारों ओर के सदेश सुन लेता था साथ ही निर्णय भी कर लेता था ।

मन को एकाग्र करने की सिद्धि शान्ति की वेला (हलचल के अभाव) में शीघ्र प्राप्त होती है। जो समय रात्रि के दो बजे से प्रातः पांच बजे तक का है।

यादृशी भावना यस्य तादृशं फलमश्नुते ।
सर्पादिभ्रान्ति भावो हि रज्ज्वादौ भयकारणम् ॥ २६ ॥

मनुष्य की जैसी भावना होती है वैसा ही फल भी भोगता है। रस्सी आदि में सर्प आदि के भावों की भ्रान्ति होने पर भय आदि ही मिलते हैं।

सुप्रसन्नोऽसि दृष्ट्वा चेत् सम्मुखिनं परं जनम् ।
त्वत्प्रसादाकृतिर्नूनं प्रसन्नं तं विधास्यति ॥ २७ ॥

यदि तुम अपने सन्मुख स्थित व्यक्ति को देख कर सुप्रसन्न हो तो निश्चय ही तुम्हारी प्रसन्न मुद्रा उसे भी प्रसन्न (खुश) करेगी।

खाद्याद्य पठनात् सङ्गात् स्मितेन व्यवहारतः ।
स्वभावो ज्ञायते नृणां सिङ्गिताकार भाषणैः ॥ २८ ॥

खान पान, अध्ययन, सङ्गति, मन्द हास्य (हास-परिहास) एवं व्यवहार तथा इशारे व मुखाकृति और बोलचाल से मनुष्यों के स्वभाव का पता लग जाता है।

प्राणिनां बुद्धिवैशिष्ट्यं मनोभावश्च मूढता ।
सत्यता धूर्तता चैव व्यज्यन्ते मुखदर्शनात् ॥ २९ ॥

प्राणियों की बुद्धि और बुद्धि की विशेषता, मन की भावना, मूर्खता, सचाई व मक्कारी चेहरा देखने मात्र से प्रकट हो जाती है।

मनोभावं परीक्षेत स्वल्पा स्वल्पाद्धि भाषणात् ।
मिथ्यावचनचेष्टासु सत्यन्नैव मनागपि ॥ ३० ॥

मनुष्य के थोड़े या अधिक भाषण मात्र से मन के भावों की परीक्षा की जा सकती है। मिथ्या (दिखावे की) बात व चेष्टा में वास्तविकता (सचाई) जरा भी नहीं होती है।

प्रसन्नाः कारितुं शक्याः सर्व इच्छानुवर्तनात् ।
रुष्टा वा कुण्ठिता दुष्टा भवन्ति प्रतियोगतः ॥ ३१ ॥

सभी प्राणी उनके इच्छानुसार व्यवहार करके प्रसन्न किये जा सकते हैं। विरुद्ध आचरणों से वे क्रोधित कुण्ठित अथवा दुष्ट हो जाते हैं।

आनुकूल्यात् प्रियाचरणात् परेषां हितचिन्तनात् ।
अहम्भावस्य विच्छेदा ल्लोको लोकप्रियो भवेत् ॥ ३२॥

मनुष्य अनुकूल आचरण से किसी को प्रिय लगने वाले कार्य करने से, दूसरों के हित-चिन्तन से तथा अहम्भाव के नष्ट हो जाने से लोक प्रिय होता है।

प्रसरन्त्यात्मनो भावाः प्रत्यायान्ति त एव च ।
भवामो वयमेवात्र कारणं सुखदुःखयोः ॥ ३३ ॥

अपने ही भाव चारों ओर फैलते हैं तथा वे ही भाव पुनः अपने पास लौटते हैं, इस प्रकार हम ही अपने सुख दुःख में कारण होते हैं।

क्लेशे हेतुं जनः प्रायः परस्यागो हि मन्यते ।
यदि मन्येत स्वस्यापि न भवेत् क्लेशभावना ॥ ३४ ॥

प्रायः मनुष्य अपने दुःखों में दूसरों के अपराध को ही कारण मानता है यदि अपने को भी कारण माने तो क्लेश की भावनाएं उत्पन्न ही न हों।

श्रेष्ठं हि कलिनाशार्थं विश्वासोत्पादनं मिथः ।
प्रायः कलहमूलन्तु मिथोऽविश्वास एव हि ॥ ३५ ॥

पारस्परिक कलह को नष्ट करने के लिए एक दूसरे के प्रति विश्वास पैदा करना अच्छा है। प्रायः आपस का अविश्वास ही कलह की जड़ होता है।

क्रियते यत्रकुत्रापि स्वल्पा स्वल्पापि वा क्रिया ।
तत्प्रभावो भवत्येव न कदाप्यफला क्रिया ॥ ३६ ॥

जहां कहीं थोड़ी या अधिक जो भी क्रिया की जाती है उसका प्रभाव अवश्य होता ही है कभी भी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं जाती है।

आत्मैव परमात्मेति प्रायो हि श्रूयतेऽनिशम् ।
तच्छुद्धात्मगुणोपेतं प्रभुवत्पूजयेन्नरम् ॥ ३७ ॥

'आत्मा ही परमात्मा' प्रायः ऐसा हमेशा सुना जाता है। अतः शुद्धात्म गुणसम्पन्न व्यक्ति का प्रभु की भांति सत्कार करो।

सर्वसद्गुणपुञ्जो यो यश्च सर्वशिरोमणिः ।
न तस्मादधिकः कोऽपि स एव परमेश्वरः ॥ ३८ ॥

जो सभी प्रकार के उत्तम गुणों से सम्पन्न है तथा जो सब का सिरमौर उससे अधिक दूसरा कोई नहीं है वही परमेश्वर है।

यत्रकुत्र स्थितो वापि सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
रत्नयेदात्मनो भावा नुच्चानाकर्षकांस्तथा ॥ ३९ ॥

मनुष्य कहीं भी हो और किसी भी अवस्था में हो वह अपने भाव अत्यन्त उच्च और आकर्षक बनाने रखे ।

नयत्युच्चैः सदात्मा तु नीचैराकर्षति मनः ।
आत्मनो बलमाश्रित्य मानसोन्नतिमाचरेत् ॥ ४० ॥

व्यक्ति को सदात्मा ऊँचा उठाती है तथा मन नीचे की ओर खींचता है, मनुष्य आत्मबल पाकर मन को उन्नत बनावे ।

आत्मनो गतिरत्युच्चा मनस्तु नीचभावकम् ।
आत्मा दिव्यगुणोपेतः पञ्चतन्मात्रकं मनः ॥ ४१ ॥

आत्मा की गति अत्यन्त ऊंची है तथा मन सदा निम्न (नीची) भावनाओं वाला होता है क्योंकि आत्मा (सच्चिदानन्दांश होने से) दिव्य गुण सम्पन्न है तथा मन तन्मात्राओं के स्वरूप का है ।

संस्कारात्कर्मणश्चापि शिक्षायाश्चानुरूपतः ।
सत्त्वरजस्तमोयुक्ता त्रिधा बुद्धिः समुद्भवेत् ॥ ४२ ॥

अपने जन्मजन्मान्तर्गत संस्कारों, कर्म एवं तात्कालिक शिक्षा के अनुसार बुद्धि सतोगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान अथवा तमोगुण प्रधान भेद से तीन प्रकार की होती है ।

धीविकासानुसारेण ज्ञेयस्य निर्णयो भवेत् ।
कालान्तरेऽपि निर्णीतः शक्यते परिवर्त्तितुम् ॥ ४३ ॥

कोऽपि कृन्तति चेदादा वहङ्कारस्य भावनाम् ।
तदा पल्लवितन्नस्या च्छाखाभिम्तु मनः क्वचित् ॥ ४८ ॥

कुर्याद्वा कृन्तनं पश्चात् तच्छाखानां शनैः शनैः ।
संसारभावसिक्तानां संकल्पवर्द्धितात्मनाम् ॥ ४६ ॥

अहंकार मन का वीज है वुद्धि उस वीज से फूटा हुआ प्रथम अंकुर है विविध प्रकार के विचार इसी अंकुर की विशाल शाखाएं हैं । यदि कोई अहङ्कार की भावनाओं को ही प्रथमतः जड़ मूल से काट डालता है तो फिर मन कभी भी शाखाओं से पल्लवित नहीं होगा ।

सांसारिक विविध भावों से सींची हुई तथा संकल्प से वढ़ी हुई शाखाओं का उच्छेद शनैः २ एक २ करके भी किया जा सकता है ।

संकल्प एव संसारो मोक्षस्तन्नाश एव हि ।
संकल्पवृत्तिच्छेदोऽतः कर्तव्यः क्रमशो वुधैः ॥ ५० ॥

संल्कप ही संसार है तथा इसका (संकल्प जाल का) नाश ही मोक्ष है । अतः ज्ञानवान् मनुष्य शनैः २ संकल्पों की वृत्ति को काट डाले ।

आत्मानात्मपदार्थेषु मनोवस्तुविलक्षणम् ।
विभिन्नेन्द्रियसंचारी वन्धमोक्षविधायकम् ॥ ५१ ॥

सभी आत्म अनात्म (जड़ चेतन) पदार्थों में मन विलक्षण वस्तु है जो सभी भिन्न २ इन्द्रियों के साथ रहता है तथा वन्धन और मोक्ष का विधायक है ।

मन एव विकारर्थेऽस्ति सृज्यते मनसा जगत् ।
रागद्वेषौ मनस्येव न जगन्मानस विना ॥ ५२ ॥

समस्त विकारों की जड़ मन ही है, मन से ही जगत् पैदा होता है। रागद्वेष भी मन में ही पैदा होते हैं तथा जगत् का भी मन के विना कोई अस्तित्व नहीं है।

स्वस्य शत्रु सुदुर्धर्षं जानीयान्मानसं बुधाः ।
सदैव तत्तु निग्राह्यं रक्षित्रा तस्करो यथा ॥ ५३ ॥

विद्वान् अपने इस भयंकर शत्रु मन को पहिचाने व इसे ठीक उसी प्रकार से वश में रखे जैसे सिपाही चोर को।

भेत्तव्यं मानसौद्धत्यात् तज्जयस्त्वतिदुष्करः ।
साहसेनैव जेतव्यं साहसिपुरुषेण तत् ॥ ५४ ॥

मन की उद्दण्डता से सदा डरे क्योंकि उसको जीतना अत्यन्त दुष्कर है। साहसी पुरुष साहस के साथ ही इसे जीते।

नियमानुसृत्तिं कृत्वा वश्यं कुर्यान्मनो नरः ।
कदापि दिनचर्यायां कर्तव्यो न व्यतिक्रमः ॥ ५५ ॥

मनुष्य नियम का अनुसरण करते हुए मन को वश में रखे तथा अपनी दिनचर्या में किसी प्रकार का भी व्यतिक्रम न होने दे।

मानसं गुणमाश्रित्य मानवो भुवि मानवः ।
विलीने च मनोभावे परमात्मा स जायते ॥ ५६ ॥

मनुष्य अपने मन के गुणों से ही मनुष्य है, मनोभाव के विलीन हो जाने पर वह परमात्मा ही है।

चित्तं कदापि कस्यापि न रिक्तं विषयाद्भवेत्।
सुभावा वा कुभावा वा भवन्ति हृदये सदा ॥ ५७॥

कभी भी किसी का चित्त विषयों से रिक्त नहीं होता है, अच्छे या बुरे भाव मनुष्य के हृदय में सदा बने ही रहते हैं।

निष्क्रियं हि मनुष्याणां न मनस्तु भवेत् कदा।
सुमार्गे नैव नीतं चेत् कुमार्गे तु गमिष्यति ॥ ५८॥

मनुष्यों का मन कभी भी निकम्मा नहीं रहता है अतः यदि उसे अच्छे मार्ग पर नहीं लगाया गया तो बुरे मार्ग पर तो लगेगा ही।

मनःशक्ति विकासाय नियमान् शृणुताद्धितान्।
कृत्वा कार्यान्वितान् तान्वै सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥ ५९ ॥

मानसिक शक्ति के विकास के लिये हितकर नियमों को सुनो जिन्हें कार्यान्वित करके मनुष्य सिद्धि पा लेता है।

प्रथमो ह्यात्मविश्वासः संकल्पदृढ़ता पुनः।
परमार्था तथा बुद्धि दृष्टिश्च वेधिका तथा ॥ ६० ॥

पञ्चमः स्वस्थता ज्ञेयः षष्ठश्च धैर्यमुच्यते।
विहाराहारयोः शुद्धिः चित्तशान्तिस्तथाष्टमः ॥ ६१ ॥

गुणा एते हि नियतं वाञ्छिताः कार्यपूर्तये।
सिद्धिर्नैवात्मविश्वासं धारणां दृढतां विना ॥ ६२॥

प्रथम आत्मविश्वास द्वितीय संकल्प की दृढ़ता तृतीय परमार्थबुद्धि तथा चतुर्थ वेधिनीदृष्टि पञ्चम स्वस्थता षष्ठ धैर्य सप्तम आहारविहार की पवित्रता अष्टम चित्त की शान्ति, ये ही गुण इच्छित कार्य की पूर्ति के लिये निश्चित रूप से अपेक्षित हैं । आत्मविश्वास धारणा या दृढ़ता के बिना तो सिद्धि है ही नहीं ।

प्रेमधारा हि लोकेऽस्मिन् चित्तानन्दप्रदायिनी ।
प्रसादः प्राप्यते प्रेम्णा तेनैव मानसोन्नतिः ॥ ६३ ॥

संसार में प्रेमधारा चित्त को आनन्दित करने वाली है, प्रेम से ही प्रसन्नता प्राप्त होती है इसी से मानसिक उन्नति भी होती है ।

स्थापयेत् प्रेमधाराम्ना ह्येकस्थाने हि सर्वगाम् ।
तदैव तद्गतं लाभं प्राप्नोति क्षतिमन्यथा ॥ ६४ ॥

मनुष्य चारों ओर बहने वाली प्रेमधारा को एक ओर उन्मुख करे, तभी उसका लाभ होता है अन्यथा क्षति ।

प्रेम्णैवोत्पद्यते जीवः तेनैवाप्यत्र जीवति ।
ओतप्रोतं जगत्प्रेम्णि सर्वमेवं मतिर्मम ॥ ६५ ॥

प्राणी प्रेम से उत्पन्न होता है तथा प्रेम से ही जीवित रहता है । सम्पूर्ण संसार प्रेम में ही ओतप्रोत है यही मेरा मत है ।

आनन्दस्याभिलापश्चेत् प्रेम्णा स्वादो विधीयताम् ।
प्रेमधारां विना क्वापि नैवानन्दरसोद्भवः ॥ ६६ ॥

यदि तुम्हें सचमुच ही आनन्द की अभिलाषा है तो प्रेम से उसका मजा लो। प्रेमधारा के बिना कहीं भी रस की प्राप्ति नहीं है।

यथा श्वा दर्पणे दृष्ट्वा स्वच्छायां घुर्घुरायते।
अज्ञलोकस्तथात्र स्वं पृथग्ज्ञात्वैव रुष्यति ॥ ६७॥

जैसे कुत्ता दर्पण में अपनी ही छाया देख कर घुर्घुराता है वैसे मूर्ख लोग अपने आपको दूसरे से पृथक् समझ कर ही रोष (क्रोध) करते हैं अतः झगड़े होते हैं, प्रेम का अभाव रहता है यदि मनुष्य अपने आप को सब में समान देखे तो निश्चय ही उसके प्रेम का स्रोत सभी के लिये हो जाता है।

प्रोत्साहनाद्भयादेव प्रवृत्तिः स्वेच्छया तथा।
प्राणिनां सर्वकार्येषु भवेदेवेति निश्चितम् ॥ ६८॥

मनुष्यों की सभी कार्यों में प्रवृत्ति प्रोत्साहन से डर से अथवा स्वेच्छा से होती है।

विचाराः परिवर्तन्ते नराणामायुषः क्रमात्।
पूर्वेभ्य उत्तरास्तेषां परिपक्वा भवन्ति हि ॥ ६९॥

आयु के क्रम से मनुष्यों के विचारों में भी परिवर्तन होता है वे उत्तरोत्तर पूर्वापेक्षया परिपक्व होते जाते हैं।

न प्रमादी सुखे भूयाद् धैर्यं दुःखेऽपि न त्यजेत्।
सुखदुःखे समत्वं हि वीरपुरुष लक्षणम् ॥ ७०॥

रक्षणीया गतिः सा हि या भवेद् गति कारिका ।
केनचिद्या भवेद्रुद्धा सा गतिर्न बुधोचिता ॥ ७१ ॥

मनुष्य सुख मे प्रमादी न बने और दुःख में धैर्य न छोड़े । सुख दुःख में समान भाव से रहना ही वीर पुरुष का लक्षण है । मनुष्य अपनी ऐसी स्थिति बनाये रखे जो उसकी गति (अवस्था) को निभाने वाली हो, किसी भी वजह से जो गति अवरुद्ध हो जावे वह गति अच्छी नहीं मानी गई है ।

प्रादान्मे मानवं देहं स्वस्थतामिन्द्रियाणि च ।
विवेकं कर्मशक्तिञ्च दयया परमेश्वरः ॥ ७२ ॥

ज्ञातृत्वं ज्ञानशक्तिञ्च ज्ञेयं मह्यमदात् प्रभुः ।
वाञ्छामि याच्नया तत्किं न जानामि मनागपि ॥ ७३ ॥

जाने स्वं कर्मक्षेत्रेऽत्र सर्वथा ह्यधिकारिणम् ।
तन्मया कर्मणां क्षेत्रे यत्नः कार्यः सुचेतसा ॥ ७४ ॥

परमेश्वर ने दया कर के मुझे मानव देह, स्वस्थता, ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, विवेक तथा कर्मशक्ति दी है, प्रभु ने मुझे ज्ञान-शक्ति ज्ञातापन और ज्ञेयत्व दिया है, अब मैं उससे याचना कर क्या चाहूं जरा भी नहीं जानता हूं मैं तो यही जानता हूं कि कर्मक्षेत्र में पूर्ण अधिकारी हूं, अतः मुझे स्वस्थचित्त से कर्मक्षेत्र में डट जाना चाहिए ।

प्रार्थना करणादेव तुच्छभावोऽधिगम्यते ।
तुच्छीभावा द्विनीतत्वं मानत्यागश्च जायते ॥ ७५ ॥

प्रार्थना (किसी के सामने किसी वस्तु की मांग करने) से तुच्छता की भावनाएं पैदा होती हैं इससे झुकने की प्रकृति पड़ जाती है तथा मान (स्वाभिमान) का नाश हो जाता है।

कस्यां चिदपि वार्तायां परस्मादधिकोऽस्म्यहम् ।
अगर्वेर्ष्यविचारोऽय मलं सौख्यानुभूतये ॥ ७६ ॥

किसी विषय में मैं दूसरों से अधिक हूं, गर्व और ईर्ष्या से शून्य यह विचार भी सुखानुभूति में समर्थ है।

प्राप्तं किमपि न त्याज्यं यावदन्यन्न सम्मिलेत् ।
अवरादुत्तमं प्राप्य को न वा प्रथमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

जब तक दूसरा पदार्थ न मिल जावे तब तक मिले हुए पदार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए। साधारण पदार्थ के बदले उत्तम पदार्थ को पाकर कौन पहले पदार्थ को न छोड़ देगा।

गुणिना त्वनुभूयन्ते स्वगुणा हि स्वभावजाः ।
तत्कथं स भवेद्गर्वी यो गर्वी सोऽल्पधीध्रुवम् ॥ ७८ ॥

गुणवान् लोगो को उनके स्वाभाविक गुणों की अनुभूति ही होती है उनको गर्व नहीं होता है। जो गर्व करने वाला होता है वह अल्पबुद्धि होता है।

आशा या हृदि ते लग्ना स्यामत्राहं सदा सुखी ।
दुःखदा साऽलोकेऽतः भीतो दुःखात् भवेन्नहि ॥ ७९ ॥

"मैं सदा सुखी रहूँ" ऐसी तुम्हारे हृदय में बनी हुई आशा ही दुनियां में दुःखदायी होती है अतः कभी भी दुःखों से डरो मत *।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्वखन्यां विविधविद्यासु मनोविज्ञानवर्णनन्नाम नवमोऽध्यायः ॥

---

* (१) आशाए पूर्ति पाकर तृष्णा का रूप लेती है और अनन्त हो जाती है जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं होने से मनुष्य दुःखी होता है अतः सुख की आशा करना ही दुःख है।

(२) संसार द्वंद्वज है। अतः यहां सुख दुःख का क्रम निरंतर चलता ही रहता है अतः सदा सुखी रहने की आशा भी स्वयं एक दुःख है।

(३) इस प्रकार जब सभी ओर दुःख है तथा अवश्यम्भावी हैं तब दुःखों से भय ही क्या ?

मन को इसी सांचे में ढालने का प्रयास दुःखो को दूर करने का सच्चा उपाय है।

अथ दशमोऽध्यायः

विविधविद्यासु इस्लामधर्मपदकोषः

विद्वत्सम्मत शब्दास्तु 'इस्ति लाहात' नामतः ।
सन्ति लोके प्रसिद्धा ये श्लोकबद्धान् करोमि तान् ॥ १ ॥

विद्वर्ग में "इस्तिलाहात् (पारिभाषिक शब्द) नाम से प्रसिद्ध 'अरबी" पदों का श्लोकबद्ध संग्रह कर रहा हूं ।

यन्मतं मुस्लिमानाना मिस्लामं तद्धि कथ्यते ।
तस्मिन् प्रयुक्तशब्दानामत्र व्याख्या विधीयते ॥ २ ॥

जो मुसलमानों का मत है उसे इस्लाम कहते हैं । उसमें प्रयुक्त शब्दों की यहां व्याख्या की जा रही है ।

धर्माणां सर्वदेशानां सर्वेषां यत्र संग्रहः ।
भृशं वा पठनीयं यत् कुरान तद्धि पुस्तकम् ॥ ३ ॥

सब देशों के सम्पूर्ण धर्मों का जिसमें संग्रह हो अथवा जो नित्य पढ़ने योग्य पुस्तक हो उसे "क़ुरान" कहते हैं ।

प्रभोरेकत्वसञ्ज्ञानं कुर्आने च कियामते ।
यश्च स्याद् दृढविश्वास स्तदीमानेति कथ्यते ॥ ४ ॥

ईश्वर में एकत्व बुद्धि, क़ुरआन और क़यामत में दृढ़विश्वास ही "ईमान" है।

काफिरः स्यादनीमानः सेमानो मुस्लिमस्तथा ।
मुत्तक़ीशभयत्रस्तो निफाकी भेदकारकः ॥ ५ ॥

जो ईमान रहित हो उसे "काफ़िर" तथा जो ईमानयुक्त हो उसे "मुस्लिम" कहते हैं, ईश्वर से डरने वाले को "मुत्तक़ी" और फूट डालने को "निफ़ाकी" कहते हैं।

इस्लामस्य मते ज्ञेयं प्रधानं नियमत्रयम् ।
वहदत्त्वीश्वरैकत्वं रिसालच्च तथाऽऽखिरत् ॥ ६ ॥

"वहदत" ईश्वर की एकता में विश्वास, १. हज़रत मुहम्मद साहब को ही रसूल मानना, २. तथा "कियामत" को मानना, ३. इस्लाम के मत में ये तीन प्रधान नियम हैं।

एतत्त्वरबिभाषाया ममूदेत्यभिधीयते ।
स एव मोमिनो मुस्लिं योऽमूदमानदो भवेत् ॥ ७ ॥

इन तीनों नियमों का समूह "अमूद" कहलाता है। जो "अमूद" को सम्मान देता है उसे ही "मोमिन मुस्लिम" कहते हैं।

मारणं काफिरानान्तु जिहादेनाभिधीयते ।
काफिरेभ्यः करादानं जिज़्या चेत्यभिधीयते ॥ ८ ॥

काफिरों को मारना "जिहाद" कहलाता है और काफ़िरों से कर लेना "जज़िया" कहलाता है।

धर्मयुद्धापदेशेन जिहाद कर्तुमुद्यताः ।
भवेयुर्मुस्लिमा ये ते जिन्नती नेतरे जनाः ॥ ६ ॥

धर्मयुद्ध के बहाने जो जिहाद करने के लिये तत्पर हों वे मुस्लिम "जिन्नती" कहलाते हैं। दूसरे "जहन्नुमी" कहलाते हैं।

मोज्जिजा हीश्वरैश्वर्यं करामादौलियाकृतम् ।
जादू शैतानसन्देशः सिहरोऽप्युच्यते हि तत् ॥ १० ॥

ईश्वरीय अलौकिक चमत्कार "मोज्जिज़ा", औलिया (परम हंसों) के चमत्कार "करामात" शैतान का सन्देश "जादू" और "सिहर" कहलाता है।

जिन्नतं नामसद्द्यानं सघनैः पादपैर्वृतम् ।
सुशीतलसरिद्युक्तं स्वर्गः स्वादुफलान्वितम् ॥ ११ ॥
वहिश्तं कथ्यते तद्धि गच्छन्ति तत्र मोमिनाः ।
कुकर्मणां प्रभावेन दोजखे यान्ति काफिराः ॥ १२ ॥

अत्यन्त घने वृक्षों से घिरा हुआ, शीतल नदियों से भरा, मधुर फलों से लदा हुआ एक उत्तम बगीचा "जिन्नत" ही स्वर्ग है जिसे "वहिश्त" भी कहते हैं जहा "मोमिन" (सच्चे मुसलमान) जाते हैं। काफ़िर (इस्लाम को न मानने वाले) अपने बुरे कर्मों के प्रभाव से "दोजख" (नरक) में जाते हैं।

जिन्नतोद्यानसंचारः ईशज्योतिर्निरीक्षणम् ।
वहिश्तस्य सुखं ज्ञेयं दोजखे ज्वलनं सदा ॥ १३ ॥

जिन्नत उद्यान मे घूमना और ईश्वर की ज्योति का दर्शन करना स्वर्ग का सुख है और दोज़ख (नरक) में तो सदा जलना ही जलना है।

स्वान्तस्याप्यर्पणं नत्वा नम्रभावप्रदर्शनम् ।
पूजनं कुर्ऑनस्य यस्मिन् स्यादिसलाम सः ॥ १४ ॥

आत्मसमर्पण, नम्रभाव का दिखलाना और कुर्ऑन का पूर्ण सम्मान जिसमें हो वह "इस्लाम" कहलाता है।

निर्णीतार्थकवाक्यन्तु हुक्मशब्देन कथ्यते ।
इस्लामशब्दवाच्यार्थः प्रभोरादेशमान्यता ॥ १५ ॥

फ़ैसला देने वाला वाक्य "हुक्म" कहलाता है। ईश्वर के आदेश की नम्रता पूर्वक स्वीकृति "इस्लाम" का शब्दार्थ है।

फासिको ह्यन्यथाकारी चेश्वरादेशभञ्जकः ।
कुर्ऑन वाचकः क़ारी हाजी तु कृततीर्थकः ॥ १६ ॥

ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला एवं उल्टा काम करने वाला "फासिक़" कहलाता है, कुर्ऑन पढ़ने वाला "क़ारी" एवं जो तीर्थ कर चुका हो वह "हाजी" कहलाता है।

सन्तं वदति सूफीति तोहीदमेकबोधनम् ।
नबी सन्देशदो ज्ञेयो रसूलो दूत उच्यते ॥ १७ ॥

सन्त पुरुष को "सूफ़ी", ईश्वर में एकत्वबुद्धि (अद्वैत भावना) को "तोहीद", संदेश सुनाने वाले को "नबी" तथा दूत को "रसूल" कहते हैं।

निरक्षरोऽनभिज्ञो यः स उम्मी इति कथ्यते ।
रसूलः स प्रशस्यः स्यात् हरेः सन्देशहारकः ॥ १८ ॥

जो अक्षर ज्ञान से रहित (अनपढ़) एवं अनजान हो वह "उम्मी" कहलाता है और ईश्वर का संदेश सुनाने वाला वह उम्मी "रसूल" प्रशंसनीय होता है।

दिव्यबुद्धिस्त्वरव्यां हि "लदुन्नी"ति निगद्यते ।
परमेशकृपया यस्या उद्भवो हृदये भवेत् ॥ १६ ॥

अरवी में दिव्य बुद्धि "लदुन्नी" कहलाती है । जिसका उद्भव परमेश्वर की कृपा से हृदय में स्वतः होता है ।

अर्थात् इल्मे लदुन्नी वह ज्ञान है जो विना किसी गुरु के उपदेश के एक मात्र भगवत्कृपा से हृदय में स्वतः स्फुरित होता है ।

दीयत ईश्वरेणात्र यत्किञ्चिज्जीवनाय वै ।
रिज़्कशब्देन तत्सर्वं मरव्यां गिरि प्रोच्यते ॥ २० ॥

ईश्वर प्रदत्त जीवनोपयोगी पदार्थ को अरबी भाषा में "रिज़्क" कहते हैं ।

फिदिया वलिदानं स्यात् सारं माहसलन्तथा ।
उक्तिशेष स्ततिम्मा स्यात् तक्मिलापि तथा भवेत् ॥२१॥

वलिदान को फ़िदिया तथा सारांश को "माहसल" कहते हैं । परिशिष्ट को "ततिम्मा" व "तक्मिला" कहते हैं ।

अल्लाहाऽऽलमिति प्रोक्तः सर्ववित्प्रभुरेव हि ।
कियामद्ध्मातशंखस्तु सूरशब्देन कथ्यते ॥ २२ ॥

सर्वज्ञ ईश्वर को "अल्लाह आलम्" कहते हैं । क़ियामत समय वजाया गया शङ्ख "सूर" कहलाता है ।

खशिय्यत्कथ्यतेऽरव्यां भयत्रासौहरेर्हृदि ।
भवेद्वै तस्य भक्तस्य ह्याजिज़ी च विनम्रता ॥ २३ ॥

भगवान् से हृदय में जो भय और त्रास होता है उसे अरवी में "खशिय्यत" कहते हैं । उस भक्त के हृदय में "आजिज़ी" अर्थात् विनम्रता उत्पन्न हो जाती है ।

ध्यानन्तवक्कुलं ज्ञेयं विचारस्तु तखय्युलम् ।
अनुमानञ्च तख्मीना ईशस्मृतिर्तजक्कुरम् ॥ २४ ॥

ध्यान को "तवक्कुल", विचार को "तख़य्युल", अनुमान को "तख़्मीना" तथा ईश्वर की याद को "तज़क्कुर" कहते हैं ।

कियामदन्तिमोत्थाने सर्वेषां प्राणिनां मतम् ।
इत्मिनानं मनः शान्ति निर्णेता मुफत्ती भवेत् ॥ २५ ॥

सव प्राणियों का अन्त में उठ खड़ा होना "कियामत" कहलाता है । मन की शान्ति को "इत्मिनान" तथा निर्णय करने वाले को "मुफ़्ती" कहते हैं ।

खलीलुल्लाः प्रभुप्रेमी मिश्रारं निकषोपलम् ।
महीयानस्त्यजीमुश्शान् लानत स्यात्तु धिक्कृतिः ॥ २६ ॥

ईश्वर प्रेमी को "खलीलुल्लाः" कसौटी को "मिश्रार" महापुरुष को "अज़ीमुश्शान्" तथा धिक्कार को "लानत" कहते हैं ।

ज्ञानेन लभ्यते योहि कथ्यते इल्मुलयकीन् ।
प्रत्यक्षे दृश्यते यद्धि गद्यते ह्ययनुल्यक़ीन् ॥ २७ ॥

विद्या पढ़ने से जिस (विश्वास) की प्राप्ति हो उसे "इल्मुल् यक़ीन्" तथा प्रत्यक्ष देखने पर जिस (विश्वास) की प्राप्ति हो उसे "अयनुल्यकीन" कहते हैं।

स्वात्मनैवानुभूतो यः सर्वोत्कृष्टः सुनिश्चितः।
हक़ुल्यक़ीन् नामायं यकीनस्त्रिविधो मतः ॥ २८ ॥

अपने आप अनुभव द्वारा प्राप्त सब से श्रेष्ठ एवं निश्चित जो (विश्वास) हो उसे "हक्क़ुल्यकीन्" कहते हैं इस तरह यकीन (विश्वास) तीन प्रकार का होता है।

आदिमो ब्रह्मसम्प्रोक्तो हव्वामायेति कीर्तिता।
माया ब्रह्म यथा प्रोक्तौ हव्वादिमौ तथैव च ॥ २६ ॥

आदिमस्त्वादिसम्भूतो हव्वा हावी भवेच्च या।
सर्वेष्वतितरामेव प्रकृतिपुरुषौ च तौ ॥ ३० ॥

ब्रह्म को आदिम तथा माया को हव्वा कहते हैं। जो स्थान माया व ब्रह्म का है वही हव्वा व आदिम का है। आदिम तो स्वयम्भू ब्रह्म है और हव्वा हावी होने वाली (अर्थात् अधिष्ठात्री शक्ति माया) है। ये ही माया ब्रह्म या प्रकृति पुरुष रूप हव्वा आदिम सभी में व्याप्त है।

ऋषय एव कथ्यन्ते अम्बियाय किरामिति।
मानहानिरिहानत्स्यात् उखुव्वद्भ्रातृभावना ॥ ३१ ॥

ऋषि "अम्बियाय किराम" मानहानि "इहानत' तथा भ्रातृ भावना (भाई चारा) " उखुव्वत" कहलाता है।

शुद्धिस्तु तज़्किया भूयात् समृद्धिर्बर्कतस्तथा ।
कर्तव्यन्तु फरीज़ा स्यात् मुअ़ल्ला तूच्चतां गतः ॥ ३२ ॥

शुद्धि (पवित्रता) "तज़्किया" समृद्धि "बरकत" कर्तव्य "फ़रीजा" तथा अत्यन्त उच्च "मुअ़ल्ला" कहलाता है।

मुह्सिनः सुकृतिश्चास्ति शुक्रिया च कृतज्ञता ।
साहित्यमदबं ज्ञेयं दावतं तु निमन्त्रणम् ॥ ३३ ॥

सुकर्मा (पुण्य करने वाला) "मुहसिन" कृतज्ञता "शुक्रिया" साहित्य "अदब" तथा निमन्त्रण "दावत" कहलाते हैं।

सर्कशस्तूद्धतो ज्ञेयः समृद्धस्तु मुबारिकः ।
मिम्बरं ज्ञानवेदिः स्यात् हयातं ज़िन्दगी तथा ॥ ३४ ॥

उद्धत "सरकश" समृद्ध "मुबारिक" व्यास पीठ (मौलवी का आसन) "मिम्बर" तथा जीवन "हयात" कहलाता है।

स्वयम्भूस्तु खुदा ज्ञेयः 'कुन्' फकाना भवाभवत् ।
खालिको जगतां कर्ता सम्पद्दाता तु राजिकः ॥ ३५ ॥

खुदा स्वयम्भू (अपने आप उत्पन्न) है। उसने अपने आदेश मात्र से सृष्टि पैदा की, (कुन्=भव=होओ, फ=बस काना=अभवत् हो गया), जगत् का कर्ता "ख़ालिक" तथा सम्पत्ति-दाता "राज़िक" कहलाता है।

आह्यमिल्मे इलाही तु ज्ञानमेतदिलाहिय्यात् ।
शुचिः पाकस्तुहर्ज्ञेयः कुरानं कालिमे मजीद् ॥ ३६ ॥

ब्रह्मज्ञान "इलाहिय्यात" या "इल्मे इलाही" पवित्र "पाक" या "तुहर" तथा क़ुरान "कलामे" (कलमे) मजीद (पूज्य वाणी) कहलाते हैं।

प्रचारस्तवलीग़ं स्यात् मुवल्लिग़ः प्रचारकः।
कायनातं जगत्सर्वं माद्दा प्रकृतिरुच्यते ॥ ३७ ॥

प्रचार "तवलीग़" प्रचारक "मुवल्लिग़" समस्त जगत् "कायनात" तथा प्रकृति "माद्दा" कहलाती है।

हश्रन्तु प्रलयं विद्याद् दीनं धर्म इहोदितः।
ऐलानं घोषणा चैव रुह आत्मा निगद्यते ॥ ३८ ॥

प्रलय को "हश्र" धर्म को "दीन" घोषणा को ऐलान तथा आत्मा को "रूह" कहते हैं।

उलुहय्यतमैश्वर्यं मुरब्बी पालकः प्रभुः।
सर्वोच्चोऽकबरो ज्ञेयः सत्यवक्ता च सादिकः ॥ ३९ ॥

प्रभु का ऐश्वर्य "उलुहय्यत" सब का पालनहार प्रभु "मुरब्बी" सर्वोच्च, "अकबर" तथा सत्यवक्ता "सादिक" कहलाता है।

संस्थानमायतं चिह्नं क़ुरानिवाक्यमुत्तमम्।
कुराँस्त्रिंशत्तमो भागः सिपारा इति कथ्यते ॥ ४० ॥

संस्थान या चिह्न एवं क़ुरान के वाक्यों को "आयत" कहते हैं। क़ुरान का तीसवां भाग "सिपारा" (अध्याय) कहलाता है।

अल्लाहः सर्वपूज्यार्थः स्वयम्भ्वर्थो मतः खुदा।
सैवायमैज़दः प्रोक्तः हिन्दूनामीश्वरो हि यः ॥ ४१ ॥

सर्व पूज्य को "अल्लाह" तथा स्वयम्भू को "खुदा" तथा उसे ही "ऐज़द" कहते हैं, जिसे हिन्दू ईश्वर मानते हैं।

शिरसा विनतेनैव भूमौ मघ्राणघर्षणम् ।
ईशे कृतो नमस्कारः सिजदेति निगद्यते ॥ ४२ ॥

पृथ्वी पर नाक रगड़ते हुए शिर झुका कर ईश्वर को की गई नमस्कार "सिजदा" कहलाती है।

किस्मतं भागधेयं स्यात् नसीवं तद्धि कथ्यते ।
तद्विभाजनरात्रिस्तु शब्वरातेति गद्यते ॥ ४३ ॥

भाग्य "किस्मत" और "नसीव" कहलाता है तथा भाग्य के विभाजन की रात्रि "शब्व रात" कहलाती है।

इब्राहीमेसमाईला वभूतां पितृपुत्रकौ ।
प्रसिद्धं निर्मितं ताभ्यां कावा यवनमन्दिरम् ॥ ४४ ॥

इब्राहीम और इस्माईल दोनों पिता पुत्र थे जिन्होंने प्रसिद्ध 'कावा' मस्ज़िद का निर्माण किया, (जिनके वंश में हज़रत मोहम्मद रसूल पैदा हुए थे।

कथ्यते खानये कावा सैव मक्कापि गद्यते ।
वैतुल्ला हरमोऽपि स्यात् सैव वैतुलमुकद्दसः ॥ ४५ ॥

इसे "खान ए कावा" और "मक्का शरीफ़" कहते हैं। यही "वैतुल्ला" "हरम" "वैतुल मुकद्दस" भी है।

सज्ज्ञानं हृत्स्थमैश्वर्यं नूरे फित्रीत्यपीरितम् ।
नूरुल्लाहः स एव स्यात् तद्धि फित्रीहिदायतम् । ॥ ४६ ॥

हृदय में स्थित ईश्वर सम्बन्धी सज्ज्ञान "नूरे फित्री" कहलाता है, यही नूरुल्लाह या "फित्री हिदायत" भी है।

मृत्युमारभ्य चा मुक्ते र्या स्थितिस्तद्धि "बर्जखम्" ।
यथा च पशुपुंसोर्हि मध्यमा वानरस्थितिः ॥ ४७ ॥

मृत्यु के बाद से कियामत तक न जीव संसारी और न मुक्त है। इस मध्यगत अधूरी (और्ध्वदैहिक) स्थिति को ही "बर्ज़ख़" कहते हैं। जैसे वानर है जो न पशुओं में है और न मनुष्यों में ही।

एक एवास्ति सर्वात्मा परमात्मेति नामतः ।
वाहिदुल्लान्ययोगाच्च शरीको मन्यते पुनः ॥ ४८ ॥

सर्वात्मा या परमात्मा एक ही है और वह "वाहिदुल्लाः" कहलाता है उसका किसी अन्य देवशक्ति से सम्बन्ध कर दिये जाने पर वह "शरीक" कहलाता है। शिर्कत से दोषपूर्ण हो जाता है।

हुवल्ला सैव माबूदः कर्मद्रष्टा च शाहिदः ।
स्वस्य कर्मानुसारेण न्यायदो दिवसेऽन्तिमे ॥ ४९ ॥

वही परमात्मा "हुवल्ला" और "मावूद" कहलाता है। वही "शाहिद"=सभी कर्मों का साक्षी या द्रष्टा भी है। परमात्मा "कियामत" के दिन सभी का अपने २ कर्मों के अनुसार न्याय करने वाला है।

पूजिताः स्वप्रभावेण या या जगति मूर्तयः ।
ईशस्य क्रान्तयस्तास्ता भ्रान्तभावेन सत्कृताः ॥ ५० ॥

संसार में जितने भी पीर-मज़ार अपने २ प्रभाव से पूजे जाते हैं वे सब परमात्मा की क्रान्ति है जो भ्रम द्वारा पूजे जाते हैं।

मिरातल मुस्तक़ीमं ये गृह्णन्ति सुखभावतः ।
"बहिश्तं" ते गमिष्यन्ति दोज़खं भ्रान्तभावनाः ॥५१॥

जो बजरिये उत्तम स्वभाव "सिरातल मुस्तक़ीम (ऋजु मार्ग) पकड़ते हैं वे ज़रूर "बहिश्त" (स्वर्ग) को जावेंगे किन्तु जिनकी भावना भटक पड़ी है वे निश्चय दोज़ख (नरक) के भागी होंगे।

खुल्दे हूराप्सराभोगः सुधा कुल्या च कौसराः ।
स्वादुफलानि भक्ष्यञ्च तज्जल्याश्च निरीक्षणम् ॥ ५२ ॥

स्वर्ग में "हूर"=उत्तम अप्सराओं का भोग, अमृत की नहरें "कौसराओं" का जल पान एवं जिन्नत के स्वादिष्ट फलों का भोग तथा तजल्ली "दिव्यज्योति" का निरीक्षण मिलता है।

वदन्त्यामालनाम्ना यद् यवनास्तु स्वभाषणे ।
हिन्दवः कर्मपत्रन्तद् भाषन्ते निजभाषिते ॥ ५३ ॥

जिसे यवन लोग "आमाल" नाम से पुकारते हैं उसी कर्मों के लेखाजोखा को हिन्दू "कर्मपत्र" कहते हैं।

एकमेवेश्वरं यो वै मन्यते स मुवहिहदः ।
तहूरस्ताहिरश्चापि तहीरः पूतिकारकः ॥ ५४ ॥

एकेश्वरवादी "मुवहिहद" पवित्र करने वाला "तहूर" "ताहिर" तथा "तहीर" कहलाता है।

भावार्थस्तु मफहूमं मिस्दाकमान्वितार्थदम् ।
हृदर्पणन्तु चैसारं ताला तूच्चतमः स्मृतः ॥ ५५ ॥

भावार्थ "मफ़हूम" उपयुक्त (पूरी तरह फिट) अर्थ बिठाने वाला "मिस्दाक़" हृदयापर्ण "ऐसार" तथा सर्वोच्च "ताला" कहलाता है ।

ईश्वरादागतं ज्ञेयं क़िताबुल्हेति पुस्तकम् ।
पूर्णवैभवसंयुक्तः कथ्यते जल्लशानहू ॥ ५६ ॥

ईश्वर का भेजा हुआ ग्रन्थ "कुरान" तौरैत "आदि" "किताबुल्हा" पूर्णवैभव सम्पन्न "जल्ल शयानहू" (विवृद्धं वैभवं यस्य सः) कहलाता है ।

नासूतं जागृता ज्ञेया स्वप्ना मलकूतमुच्यते ।
जवरूतं सुषुप्तिर्हि तुर्यालाहूत कथ्यते ॥ ५७ ॥

जाग्रत् अवस्था को "नासूत", स्वप्नावस्था को "मलकूत" सुपुप्तावस्था को जवरूत एवं चतुर्थावस्था को लाहूत कहते हैं ।

निद्राधिक्याद्यदा नेत्रे वाञ्छतो मीलितुं स्वतः ।
निद्राव्याजात् स्वपन्नेव चिन्तयेत् स्वेष्टदेवताम् ॥ ५८ ॥

लाहूतं कथ्यते चेद ख़्वावे शीरीं च गद्यते ।
कतिचिद्दिवसाभ्यासा दत्यानन्दोऽधिगम्यते ॥ ५९ ॥

साधन पथ पर आरूढ़ योगी की आँखे नींद की अधिकता से अपने आप ही मिलने लगें तो योगी सोया हुआ ही निद्रा के वहाने से अपने इष्टदेवता का ध्यान करे. यही अवस्था "लाहूत" या 'ख्वावेशीरीं (तुरीया व मधुर निद्रा)

कहलाती है, इसके कुछ दिनों के अभ्यास से ही अ
आनन्द की प्राप्ति होती है।

पूर्वं दिङ्मश्रिकं विद्या न्मग्रिबं पश्चिमा दिशा।
शुमालमुत्तरं ज्ञेयं जनूबं दक्षिणा तथा॥ ६०॥

पूर्व दिशा "मशरिक" पश्चिम "मग़रिब" उत्तर "शुम
दक्षिण दिशा "जनूब" कहलाती है।

भ्रमणादेव सय्यारा त एव गोचरा ग्रहाः।
आफताबो रवेर्नाम माहताबश्च चन्द्रमा॥ ६१॥

मिरींखो मंगलो ज्ञेयो बुधश्चोतारदस्तथा।
मुश्तरीति गुरुर्ज्ञेयो जोहरा शुक्र उच्यते॥ ६२॥

जुहल स्याच्छनेर्नाम राहू रासेति कथ्यते।
जनबं नाम केतोश्च ग्रहाः सर्वे उदाहृताः॥ ६३॥

घूमने के कारण ग्रह "सय्यारा" कहलाते हैं।
"आफ़ताब" चन्द्रमा "माहताब" मंगल "मिरींख़"
"उतारद" गुरु "मुश्तरी" शुक्र "जोहरा" शनि "ज़ुहल"
"रास" केतु "ज़नब" कहलाता है ये नवग्रह हैं।

मसऊदं शुभं ज्ञेयं मनहूसं तथा शुभम्।
हयातं जीवनं ज्ञेयं मरीजो रुग्ण उच्यते॥ ६४॥

शुभ "मसऊद" अशुभ "मनहूस" जीवन "हयात"
रुग्ण "मरीज़" कहलाते हैं।

शास्त्रं तु शरश्रं ज्ञेयं पुराणं च हदीस हि ।
जकातः पुण्यभागः स्यात् मकोला तूद्धृतं वचः ॥ ६५ ॥

शास्त्र को 'शरश्र" पुराण को "हदीस" धर्मांश (आय का धर्मार्थ निश्चित अंश) को "ज़कात" और उद्धृत वचन (Quotation) को "मकोला" कहते हैं ।

म्येराजमुन्नतेर्मार्गो जहन्नुम नरकः स्मृतः ।
जवालोऽवनतिर्ज्ञेया तोवा पापान्निवर्तमानम् ॥ ६६ ॥

ईश्वर प्राप्ति का साधन पथ "म्यअराज", नरक "जहन्नुम" अवनति (पतन) "ज़वाल" तथा पाप का प्रायश्चित "तोवा" कहलाता है ।

कथाया वाचनं खुतवा तवाफस्तु प्रदक्षिणा ।
अनन्तो ह्यवदी ज्ञेयः सुन्नतो नववी गतिः ॥ ६७ ॥

कथा कहना "खुतवा" प्रदक्षिणा "तवाफ़" अपार अवदी तथा नवियों की आचार परम्परा "सुन्नत" कहलाती है ।

फलाहः खैर कल्याण मजावो नरकार्दनम् ।
प्राणार्पणन्तु कुर्वानी तदेतिसारमेव च ॥ ६८ ॥

कल्याण फ़लाह और खैर, नारकी पीड़ा (घोर कष्ट) अज़ाव, प्राण न्योछावर करना कुर्वानी और एतिसार कहलाता है ।

सन्तुष्टं कानिअं जानं जानिवस्तरफं दिशा ।
त्यक्तप्राणस्तु धर्मार्थं शहीदः स निगद्यते ॥ ६९ ॥

सन्तुष्ट को "कानिश्न" दिशा को "जानिब" और "तरफ़" तथा जिसने धर्म के लिये प्राणों की आहुति दी हो उसे "शहीद" कहते हैं।

लिङ्गस्याग्रत्वचः पुंसः कृन्तनं खुतना भवेत् ।
वाजस्यादुपदेशस्तु वाइजो ह्युपदेशकः ॥ ७० ॥

लिङ्ग के आगे की चमड़ी लिङ्गाग्र को काटना "ख़ुतना" उपदेश "वाज़" तथा उपदेशक "वाइज़" कहलाता है।

बुद्धिमानाक़िलो ज्ञेयो विद्वांश्चैवालिमस्तथा ।
जाहिलोऽहमकश्चापि वेवकूफश्च बालिशः ॥ ७१ ॥

बुद्धिमान् को "आक़िल" विद्वान् को "आलिम" तथा मूर्ख को "जाहिल" "अहमक़" और "बेवक़ूफ़" कहते हैं।

क़िरअतं पठनं ज्ञेयं श्रवणन्तु समाअतम् ।
विशेपतः कुरानस्य पठनं स्यात्तिलावतम् ॥ ७२ ॥

पढ़ना "किरअत" सुनना "समाअत" तथा कुरान का ही पढ़ना विशेष प्रयोग के रूप में "तिलावत" कहलाता है।

काजी तु न्यायदो व्यक्ति मुल्ला शास्त्रविशारदः ।
विवाहस्तु निकाहः स्यात् स्वीकृतिश्च क़बूलियात् ॥ ७३ ॥

फैसला करने वाला व्यक्ति "क़ाज़ी" एवं शास्त्रों में निपुण "मुल्ला" कहलाता है। विवाह को "निकाह" एवं स्वीकार करने को "क़बूलियत" कहते हैं।

इब्तिला विपदां प्राप्ति मुंकज्जवं मृपाकृतम् ।
स्पष्टं वजाहतं चैव मुआखज़ा तु वन्धनम् ॥ ७४ ॥

आपत्ति आने को "इब्तिला" तथा झूठा बनाये गये को "मुकज़्ज़ब" कहते हैं। स्पष्ट को "वज़ाहत" और बन्धन को "मुआखज़ा" कहते हैं।

हशमं भृत्यसम्पत्तिः कर्ता सन्नाश्र सम्भवेत् ।
मुक़द्दम्प्रथमोविद्या दुवला चायमेव हि ॥ ७५ ॥

नौकर चाकरों की अधिकता को "हशम" तथा कर्ता को "सन्नाश्र" कहते हैं। "मुक़द्दम्" और "उवला" सर्व प्रथम को कहते हैं।

निषिद्धानि नवाही स्युः कर्मपृच्छा मुहासिबा ।
शुभाज्ञाचोक्तमिर्शादं तकजीवाऽनृतरोपणम् ॥ ७६ ॥
मिथ्यारोपे तु तक्जीवः कर्मपृच्छा मुहासिबा ।
शुभाज्ञा चोक्तमिर्शादं नवाही स्युर्निषेधिताः ॥ ७७ ॥

"तकज़ीव" झुठलाना, "मुहासिबा" पूछताछ "इर्शाद" शुभ आज्ञा, निषेधित जो हों उन्हें "नवाही" कहते हैं।

अपथानां हिदायत् स्यात् कृपथा मार्गदर्शनम् ।
आनुकूल्यन्तु शुक्रं स्यात् स्वोपकर्तुः सुभावतः ॥ ७८ ॥

कुमार्ग पर चलने वालों को कृपा कर के जो सुमार्ग का निर्देश किया जाता है उसे "हिदायत" कहते हैं। अपना उपकार करने वाले के लिये सुन्दर भाव से अनुकूलता को प्रकट करना "शुक्र" (धन्यवाद) कहलाता है।

सप्तम्यर्थे तु फी ज्ञेयं ली ज्ञेयं सम्प्रदानके ।
न कदापि कलार्थे स्या दलिफः प्रश्नवाचकः ॥ ७९ ॥

अधिकरण के अर्थ में "फ़ी" का तथा सम्प्रदान के अर्थ में "ली" का प्रयोग होता है । कभी नहीं के अर्थ में "कला" तथा प्रश्नवाचक क्या के अर्थ में "अलिफ़" का प्रयोग होता है ।

मूजिवन्तु समं ज्ञेयं जखीरा कथ्यते निधिः ।
सर्वतं धनसम्पत्तिः हलवा मिष्टान्नकं भवेत् ॥ ८० ॥

जो बराबर हो उसे "मूजिब" तथा "ख़ज़ाने" (कोष) को "ज़ख़ीरा" कहते हैं धनसम्पत्ति को "सर्वत" तथा मिष्टान्न को "हलवा" कहते हैं ।

अवार्थं वा भवेच्चैव अय्युहश्चायि वाचकः ।
भूधात्वर्थो वुकूअ स्यात् मुहज्जव सभ्यवाचकः ॥ ८१ ॥

वा (अथवा) के अर्थ में "अव" का तथा सम्बोधन वाचक अयि के अर्थ मे "अय्युह" का प्रयोग होता है । भू धातु के होना अर्थ में "वुक़ूअ" का तथा सभ्य के अर्थ में "मुहज़्ज़ब" का प्रयोग होता है ।

अहदोहूद द्वौ शब्दा वनेकार्थस्य वाचकौ ।
प्रतिज्ञा शपथः कालः शिक्षा शान्तिश्च रक्षणम् ॥ ८२ ॥

"अहद" और "उहूद" इन दोनों शब्दों के प्रतिज्ञा, शपथ, समय, शिक्षा, शान्ति और रक्षण आदि अनेक अर्थ होते हैं ।

पुरावृत्तस्य या ह्यु क्ति रिवायदिति कथ्यते ।
शैतनत्मानसोद्धत्य मज्ञानं जहलन्तथा ॥ ८३ ॥

पुराने वृतान्त का कहना "रिवायत" कहलाता है । मन की उद्दण्डता को "शैतनत्" और अज्ञान को "जहल" कहते हैं ।

हास्यमिस्तिहज़ा ज्ञेयं जीवनान्तञ्च जीवनम् ।
हश्रोनश्रं क्रमाज्ज्ञेयं घटना वाकिश्रा पुनः ॥ ८४ ॥

हंसी ठट्ठा को "इस्तिहज़ा" मृत्यु को "हश्र", जीवन को "नश्र" तथा घटना को "वाक़िश्रा" कहते हैं।

दफ़श्राराधनं चैव शिद्दतं चातिमात्रता ।
श्रापत्तिर्हादिसा चैव फरारं भीतिधावकः ॥ ८५ ॥

रुकावट को "दफ़ा" अधिकता को "शिद्दत" श्रापत्ति को "हादिसा" तथा डर से भाग जाने वाले को "फ़रार" कहते हैं।

प्राणिनां चेष्टितं सर्वं 'हल्ला' लोकगिरोच्यते ।
श्ररब्यां सैव हीलास्ति संस्कृते व्याज उच्यते ॥ ८६ ॥

प्रणियों की यावन्मात्र चेष्टाएं 'लोक भाषा' में "हल्ला" कहलाती है, यही श्ररवी में 'हीला' श्रौर संस्कृत में व्याज (किसी भी कार्य में हेतु रूप से कोई न कोई श्रपदेश) कहलाती है।

संसारो दुनिया फानी स्यादुक़्बा परसंसृतिः ।
इच्छयन्ति श्रौलियास्तूक़्बां दुनियां साफिला जनाः ॥८७॥

यह संसार दुनिया फ़ानी (नाशशील जगत्) है. परलोक उक़्बा कहलाता है श्रौलिया (सिद्ध) लोग "उक्बा" की इच्छा करते हैं जब कि सांसारिक लोग इसी दुनियां के पीछे पड़े रहते हैं।

कुल्ल जमीश्र सर्वार्थी कदीरः सर्वशक्तिमान् ।
जनानामर्घ्यदिक्किबला ह्ययन्मा यत्रकुत्रचित् ॥ ८८ ॥

सर्व (सब) "कुल्ल" व "ज़मीअ" सर्वशक्तिमान् "क़दीर" मनुष्यों की पूजा में ग्राह्य दिशा (जिस ओर मुख करके पूजा, आदि किये जावे) "क़िबला" तथा जहां कहीं "अयन्मा" कहलाते हैं।

विन्ता सुतः सुता बिन्ती बुआ पितृस्वसा मता ।
या जीजी सा ह्यज़ीजा स्यात् भैय्या बिहय्या इति स्मृतः । ८६।

पुत्र को "विन्ता" पुत्री को "बिन्ती" पिता की बहिन को "वुआ" जिसे जीजी अर्थात् बड़ी बहिन कहते हैं वह शुद्ध रूप "अज़ीज़ा" है। भैय्या को "ब्हिय्या" कहते हैं।

अहम्त्वावश्यकं विद्या न्नाज़िरस्तु निरीक्षकः ।
उच्चैः स्थः कथ्यते चाला तदाधीनस्तुमातहत् ॥ ६० ॥

आवश्यक को "अहम्" तथा पूर्णतया देखने वाले को "नाज़िर" कहते हैं। उच्च पदवी प्राप्त को "आला" और आधीन रहने वाले को "मातहत" कहते हैं।

हज़्रतस्तु महाव्यक्ति मौज्जमश्च महत्तरः ।
अलैहु तदुपर्यर्थे क त्वं यूयं कुमेति च ॥ ६१ ॥

महापुरुष को "हज़रत" तथा महत्तर को "मौज़्ज़म" कहते हैं। उसके ऊपर इस अर्थ मे "अलैहु" तुझको के अर्थ में "क" और तुम के अर्थ में "कुम" का प्रयोग होता है।

मिजाजं प्रकृतिं विद्यात् तदेव च तबीअ़तम् ।
खुशी राजी प्रसन्नः स्यात् मुकद्दस्तु पवित्रकः ॥ ६२ ॥

प्रकृति को "मिज़ाज" और "तबीअत" कहते हैं। प्रसन्न "खुश" और "राज़ी" तथा पवित्र को "मुकद्दस्" कहते हैं।

जायज़ं तूचितं विद्यात् मजाजं च ह्यधिकृतम् ।
अदलः कथ्यते न्याय इन्साफश्च तदेव हि ।। ६३ ।।

उचित को "जायज़" अधिकार प्राप्त को "मजाज़" तथा न्याय को "अद्ल" और "इन्साफ़" कहते हैं।

अस्सलामो नमस्कार आदाव अरजस्तथा ।
मानदानं तु ताजीमं दुआ चाशीर्निगद्यते ।। ६४ ।।

नमस्कार को "अस्सलाम" तथा "आदाव अरज़" कहते हैं। सम्मान देने को "ताज़ीम" तथा आशीर्वाद को "दुआ" कहते हैं।

मुख्य पद "सलाम" है किन्तु अरवी Prefex अल् एवं उसके सन्धिगत रूप "अस्" के योग से "अस्सलाम" हो जाता है, यह स्वार्थिक पूर्वसर्ग है तथा इसका प्रयोग अंग्रेजी के आर्टिकल The की भाँति होता है।

मुकल्लिदस्तु पावन्दः विश्वस्तश्चानुसारकः ।
कादिरः शक्तिमाँश्चापि नादिरो ह्यतथाकृतिः ।। ६५ ।।

जो विश्वस्त एवं अनुसरण करने वाला हो उसे "मुकल्लिद" और "पावन्द" कहते हैं। शक्तिमान् को "कादिर" तथा अनोखी आकृति वाले को "नादिर" कहते हैं।

तमः पापश्च ज़ुलमत्स्यात् पश्चात्तापो निदामतम् ।
मासिय्याताऽनघत्वं च ह्यु नूरं पारलंघनम् ।। ६६ ।।

तम (अन्धेरा) और पाप 'जुल्मत" पश्चाताप "निदामत" निष्पापता "मासिय्यत" तथा पार जाना "उबूर" कहलाते हैं

वस्तुतः कारणं यस्य ज्ञातुं शक्नोति नो नरः ।
तत्त्वरव्यां मोज्जजेति नामतः कथ्यते किल ॥ ९७ ॥

मनुष्य वास्तविक रूप से जिस कार्य को कारण नहीं जान पाता है उसे अरवी में "मोज्ज़ज़ा" कहते हैं ।

सत्येन शुद्धभावेन कुराने विहिताज्ञया ।
प्राप्यते यद् हलाल स्यात् हरामः विपरीततः ॥ ९८ ॥

सत्य और शुद्ध भाव से क़ुरान में आज्ञा दिये अनुसार जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह तो "हलाल" है तथा इससे विपरीत "हराम" है ।

गुप्तः कीनावरो वैरी शकावच्चाऽप्यभाग्यता ।
इस्तिफ़्सारं परिपृच्छा दर्शनन्तु मुशाहिदा ॥ ९९ ॥

गुप्त वैरी "कीनावर" अभाग्यता "शकावत" परिपृच्छा (पूछ ताछ) "इस्तिफ़्सार" और दर्शन "मुशाहिदा" कहलाते हैं ।

चिन्ताक्लेशार्थको धातु ररव्यां 'हम्म' कथ्यते ।
तस्यैव भावसंज्ञायां हिम्मतेति निगद्यते ॥ १०० ॥

अरबी में चिन्ता और क्लेश के अर्थ में "हम्म" धातु आता है उसी से भावसंज्ञा में "हिम्मत" पद बनता है ।

कर्तुं योग्यमवश्यं य दहमेन तदुच्यते ।
साहसार्हं च कर्मापि यथाहंकाम उच्यते ॥ १०१ ॥

जो अवश्य करने योग्य हो वह "अहम्" कहलाता है तथा साहसपूर्ण कार्य "अहमकाम" कहलाता है।

मानहानिस्त्विजालाय हैसियदरवोगिरि।
फर्रार कथ्यतेऽरब्यां भयाद्यः शीघ्रधावकः॥ १०२॥

मानहानि "इज़ालाय हैसियत" तथा कांदिशीक (डर कर भागने वाला) "फर्रार" कहलाता है।

मालाजापस्तु तस्वीहं हज़ू जम्मापवादकः।
विपत्तौ सिद्धिदात्री तु सब्रो जब्त सहिष्णुता॥ १०३॥

माला फेरना "तस्वीह" निन्दा "हजू" व "ज़म्मा" तथा विपत्ति में सिद्धि देने वाली वृत्ति सहिष्णुता (सहन शीलता) "सब्र" व "ज़ब्त" कहलाते हैं।

सद्वर्तनं सुलूकः स्यात् सद्मा चाघात उच्यते।
सन्मार्गदर्शको हादी हिदायच्चाध्वदर्शनम्॥ १०४॥

सद् व्यवहार "सुलूक" आघात (चोट) "सद्मा" अच्छा पथप्रदर्शक "हादी" तथा मार्गप्रदर्शन "हिदायत" कहलाते हैं।

प्रसन्नो फरहां ज्ञेयो फरहच्चैव प्रसन्नता।
वैतं गृहं तथा मुर्वी पुरावृत्तमुदाहृतम्॥ १०५॥

प्रसन्न "फरहां" प्रसन्नता "फ़रहत" घर "वैत" तथा पुरावृत्त (पुरानी घटनाये) "मुर्वी" कहलाते हैं।

हिदायतेश्वरादेश स्तरीकत्तत्पथे गतिः।
घनश्यामं विना कोऽपि वाञ्छेच्चेत् प्राप्नुयाद्धितो॥१०६॥

ईश्वराज्ञा "हिदायत" तथा उसका पालन "तरीक़त" कहलाता है। घनश्याम के अतिरिक्त कोई भी जो चाहे इन्हें पा सकता है।

वही स्यात्प्रभुसन्देश स्तब्लीग़स्तत्प्रचारणम्।
ईश्वरस्य प्रसादेन न्विल्हाम हृदिप्रेरणम् ॥ १०७॥

प्रभु का संदेश "वही" तथा इसका प्रचार "तब्लीग़" कहलाते हैं। प्रभु की कृपा से हृदय में उठी प्रेरणा "इल्हाम" कहलाती है।

तावीजो रक्षणोपायो हक्क सद्बातिलस्त्वसत्।
मोजजा प्राकृतं दृश्यं दृष्ट्वा यं चकितो भवेत् ॥ १०८॥

रक्षा के उपाय को "तावीज़" सच्च को "हक्क" झूठ को "बातिल" तथा जिस अप्राकृतिक (अलौकिक) दृश्य को देख कर चकित होना पड़े उसे "मोजज़ा" कहते हैं।

फना नाशो वक्काऽनाशो बुका तु रोदनं तथा।
हिका कथा नुक्का पूतं सिका इति लिक्का मुखम् ॥ १०९॥

नाश "फ़ना" अमरत्व "वका" रोना "बुका" कथा "हिका" पवित्र "नुक़ा" मशक "सिक़ा" मुख "लिक़ा" कहलाते हैं।

कलदं नष्टतुल्यं स्यात् इत्तिबा चास्त्यनुसृतिः।
प्रसारणन्तु नस्त्रः स्यात् करीमश्च कृपाकरः ॥ ११०॥

नष्ट तुल्य "कलदम" अनुसरण "इत्तिबा" प्रसारण (फैलाव) "नस्त्र" तथा कृपा करने वाला "करीम" कहलाता है।

इन्स इन्सा मनुष्यः स्यात् जिनस्तु भूतसंज्ञकः ।
मखलूक़न्तु संसारो वसीश्रं विस्तृतं मतम् ॥ १११ ॥

मनुष्य "इन्स" और "इन्सां" भूत "जिन" संसार "मखलूक़" तथा विस्तृत "वसीश्र" कहलाते हैं ।

शोबा सीगा विभागः स्या दरूजः मुन्नतिस्तथा ।
हुसूलं प्रापणं चैव नियमोऽसूल उच्यते ॥ ११२ ॥

विभाग "शोबा" व "सीगा" उन्नति "अरूज" प्राप्त करना "हुसूल" तथा नियम "असूल" कहलाते हैं ।

ओहदादारशब्दस्य वाच्यस्तूत्तरदायकः ।
शुक्राना धन्यवादः स्या दोहदा पदवीरितः ॥११३॥

"ओहदादार" शब्द उत्तरदायी अर्थ में आता है, धन्यवाद "शुक्राना" तथा पदवी "ओहदा" कहलाते हैं।

क़ुरानस्यानुवादस्तु क़ुरानं नैव मन्यते ।
स्वलिपिविहितार्थश्चे त् क़ुरानं स्यात्तदैव हि ॥ ११४ ॥

क़ुरान का अनुवाद कुरान कभी नहीं कहलाता है। अपनी ही लिपि के माध्यम में अर्थ किया गया हो तभी कुरान कहलाता है।

अजलं कथ्यतेऽनादि रनन्तश्चावदन्तथा ।
नफ्स कथ्यते स्वत्वं नफसं प्राण उच्चते ॥ ११५ ॥

अनादि "अज़ल" अनन्त (अपार) "अबद" स्वयं (Self) "नफ़्स" तथा प्राण "नफ़स" कहलाते हैं।

वुरूदच्छीतता चैव हरारच्च तथोष्णता ।
यवूसच्छुष्कता चैव रतूवत्कथ्यते कफः ॥ ११६ ॥

ठंडक "वुरूद्त" गर्मी "हरारत" शुष्कता (सूखापन) "यवृसत" तथा कफ "रतूवत" कहलाता है।

इस्माईल इति ख्यात इब्राहीमतनूभवः ।
तयोरेव कुले जातो रसूलः खातिमेऽम्बिया ॥ ११७ ॥

इब्राहीम का पुत्र इस्माईल प्रसिद्ध है (जिन पिता पुत्रों ने मक्का शरीफ का निजी परिश्रम से निर्माण किया) इन्हीं के कुल में "खातिमेऽम्बिया रसूल" (अन्तिम पैगम्बर मोहम्मद साहिब) पैदा हुए ।

धर्मार्थं सत्प्रतिज्ञा या क्रियते भक्तितो यदा ।
प्राणात्ययेऽप्यहार्यासौ वेअत् शब्देन प्रोच्यते ॥ ११८ ॥

भक्तिभाव से जो धार्मिक प्रतिज्ञा की जाती है तथा प्राण सङ्कट में भी नहीं छोड़ी जाती है ऐसी अधीनता 'वेअत' कहलाती है।

अकीदा दृढविश्वासः प्रसादस्तु तवरुकः ।
आस्तिको मोमिनो ज्ञेयो मुन्किरो नास्तिकस्तथा ॥ ११९ ॥

दृढ़विश्वास को "अक़ीदा" एवं प्रसाद को "तवर्रुक" कहते हैं । जो आस्तिक (परलोक को मानने वाला) हो उसे मोमिन एवं जो नास्तिक (परलोक को न मानने वाला) हो उसे "मुन्किर" कहते हैं।

यो विशेषेण पूतः स्यात् तहूहारः सोत्र भाष्यते ।
आङ्गले सैव होलीडे त्योहारो हिन्द भाषिते ॥ १२० ॥

अत्यन्त पवित्र "तहूहार" (अरबी) होली डे (Holyday अंग्रेजी) और त्योहार (हिन्दी) कहलाता है ।

मतलूबं भवेदिष्टं नबूव्वदौत्यमेव च ।
विअ्सतश्च प्राकट्यं सम्प्रदायस्तथोम्मतः ॥ १२१ ॥

इष्ट (अभिप्रेत) "मतलूब" दौत्य (दूत का कार्य) "नबूव्वत" प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) "विअ्सत" तथा सम्प्रदाय "उम्मत" कहलाता है ।

मुक़्ज़ा त्विच्छितं विद्यात् 'मोल्लिमः पण्डितस्थता ।
शौचन्तु तज़्किया विद्यात् 'सिफ़्तं' तु कथ्यते गुणः॥१२२॥

इच्छित (मनशा) "मुक़्ज़ा" पण्डित "मोल्लिम" शौच "तज़्किया" तथा गुण "सिफ़्त', कहलाता है ।

अस्साअ्तो मुहूर्तः स्यात् लग्नकालोऽथवा भवेत् ।
तकवेश्वर भीतिः स्यात् इस्तिग़फारः क्षमार्थना ॥ १२३ ॥

मुहूर्त (घड़ी भर के समय) को "साअ्त" कहते हैं । इसी का अर्थ शुभवेला भी कर लेते हैं । ईश्वर से भय रखना "तकवा" तथा क्षमा प्रर्थना करना "इस्तिग़फ़ार" कहलाता है । अतः अस्साअ्त साअ्त का प्रायोगिक रूप है ।

मारिफतात्मबोधः स्यात् प्रकट स्यात्तु मुन्किशफ ।
सेवाभक्तिरिबादत्तु स्मृत आदाव सभ्यता ॥ १२४॥

अध्यात्मज्ञान को "मारिफ़त" प्रगट को "मुन्किशफ़" सेवाभक्ति को "इबादत" तथा शिष्टाचार को "आदाव" कहते हैं।

शिक्षादानं तु तल्कीनं स्वीकृतस्तु मुसल्लमः ।
स्थितिः क्रियाम सेवा तु बन्दगी फर्द चैककः ॥ १२५ ॥

सीख देना (समझाना) "तल्क़ीन" स्वीकृत (मञ्जूर) "मुसल्लम" स्थिति "क़ियाम" सेवा "बन्दगी" और अकेला "फ़र्द" कहलाता है।

इति श्रीघनश्यामगीतायां विविधविद्यासु इस्लामधर्मपदकोषो नाम दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अध्यात्मविद्यायाम्

सृष्टितत्त्वनिरूपणम्

वेदान्तेषु महाशक्ति र्या मायेत्यभिधीयते ।
सिद्धान्ते सैव सांख्यानां प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥ १ ॥

वेदान्त में जिस महाशक्ति को माया कहते हैं वही सांख्य शास्त्र में त्रिगुणात्मिका प्रकृति है ।

सृष्टियोनिर्महाशक्ति र्मूलप्रकृतिरेव हि ।
परापरेति नामभ्यां द्विरूपे वावभासते ॥ २ ॥

सृष्टि को उत्पन्न करने वाली महाशक्ति या मूल प्रकृति ही परा १ अपार २ इन दो नामों से दो रूप धारण किये हुए दृष्टिगोचर होती है ।

अष्टधा त्वपरा ज्ञेया परा प्रकृतिरेकधा ।
अपरा वै जडाख्याता परा तु चेतना स्मृता ॥ ३ ॥

इन में अपरा प्रकृति के आठ भेद हैं एवं परा प्रकृति का एक ही भेद है अपरा जड़ प्रकृति है और परा चेतन प्रकृति है ।

कथिता व्याकृता व्यक्ता प्रकृतिर्नेचराख्यया ।
आङ्गले दृश्यते या हि व्यक्तरूपेण सर्वतः ॥ ४ ॥

स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होने पर यही प्रकृति अंग्रेजी भाषा में नेचर (Nature) नाम से विख्यात है ।

प्रकृतिर्जीवभूता या चेतना विश्वधारिणी ।
परमात्यांशभूतासौ परानाम्नाभिधीयते ॥ ५ ॥

जीव स्वरूप चेतन प्रकृति जोकि सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली है परमात्मा के अंश से उत्पन्न हुई है और यही पराप्रकृति कहलाती है ।

परैवाध्यात्मिका शक्ति प्रत्यभिज्ञापि सैव हि ।
तदधीनास्ति चाव्यक्ता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक शक्ति एवं प्रत्यभिज्ञा पराप्रकृति को ही कहते हैं पराप्रकृति के आधीन ही त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृति है ।

वैषम्ये बहुलांशेन गुणेनाख्यां भजत्यसौ ।
सात्त्विकी स्याद्यथा सत्वाद्राजसी तामसी तथा ॥ ७ ॥

गुणों की विषमता होने पर जिस गुण का बाहुल्य हो शक्ति उसी नाम से पुकारी जाती है जैसे सत्त्वगुण से सात्विकी रजोगुण से राजसी तथा तमोगुण से तामसी ।

साम्यस्थिति प्रणाशे तु लोकेऽस्मिन् स चराचरे ।
गुणानां व्यञ्जितैर्भागैः व्यक्तरूपेण भासते ॥ ८ ॥

गुणों की समानता न रहने पर एवं गुणों के प्रकट अंशों से इस चराचर सहित जगत् में यह प्रकृति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

प्रकृत्यां त्रिगुणायां हि सद्गरजस्तमसाम्भवेत् ।
यावत्साम्यस्थितिस्ताव दास्ते सा व्यक्तसंज्ञिका ।।९।।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति में जब तक सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण की समान रूप से स्थिति रहती है तब तक यह अव्यक्त प्रकृति कहलाती है।

महामाया च माया च विद्याविद्यातमस्तथा ।
मूलप्रकृतिरव्यक्ता ह्यादिमाया महेश्वरी ।। १० ।।

आदिशक्तिः पराशक्तिः कालीकुण्डलिनीश्वरी ।
नव दुर्गा च शक्ति श्चाप्यज्ञानं जगदीश्वरी ।। ११ ।।

सा देवी चाष्टलक्ष्मीश्च पर्यायवाचिनः खलु ।
इमाः सर्वाः पराशक्ते रभिव्यक्त य एव हि ।। १२ ।।

महामाया, माया, विद्या, अविद्या, तम आदि माया महेश्वरी ये सब अव्यक्त मूल प्रकृति हैं।

आदिशक्ति, पराशक्ति, काली, कुण्डलिनी, ईश्वरी, नवदुर्गा, शक्ति, अज्ञान, जगदीश्वरी, देवी व अष्टलक्ष्मी इन सब का एक ही तात्पर्य है और ये सब पराशक्ति की ही अभिव्यक्तियां हैं तथा ये सब शब्द उसी के पर्यायवाची हैं।

मूलप्रकृतिरव्यक्ता जगतां बीजरूपिणी ।
वसतोऽभिन्नरूपेण यस्यां वै जडचेतने ।। १३ ।।

अव्यक्त मूल प्रकृति ही जगत् की उत्पत्ति में बीज रूप से मूल कारण है इसी में जड़ चेतन एक रूप हो कर निवास करते हैं।

अव्यक्ते चेतना शक्ति रव्याकृतरूपिणी ।
मूलाधारादि चक्राणि प्राप्य तूच्चायतेऽन्यथा ॥ १४ ॥

अव्यक्त मूल प्रकृति में चेतन शक्ति अविकृत रूप से रहती है मूलाधार आदि चक्रों को प्राप्त कर वह विकृत रूप में उन्नत होती है।

प्रकृती चेत् सुसंयुक्ते परमाशक्तिरीर्यते ।
तथैवाव्यक्तशक्त्या च सृष्टिः प्रादुरभूदिह ॥ १५ ॥

परा व अपरा ये दोनों प्रकृतियां यदि भली प्रकार हों तो परमा शक्ति कहलाती हैं और उसी तरह अव्यक्त शक्ति से इस सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

विचाराऽविरताभ्यासात् आकारस्तूपजायते ।
तदाकारानुरूपा हि सृष्टिरुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

विचारों के निरन्तर अभ्यास करने से ही आकार उत्पन्न होता है और उस आकार के अनुसार ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

अपरा प्रकृतिः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञस्तु परा मता ।
जडा त्वाप्यजडा सैव पुरुष इति चोच्यते ॥ १७ ॥

अपरा प्रकृति क्षेत्र है एवं परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ है इन को ही जड़ चेतन रूप प्रकृति एवं पुरुष कहते हैं।

तन्मात्रापञ्चतत्वानां मनोबुद्धिरहङ्कृतिः ।
अष्टधाप्रकृतिरेषा परनाम्ना परा मता ॥ १८ ॥

पञ्च तत्त्वों की पांच तन्मात्राएं और मन, बुद्धि, अहङ्कार ये तीन। इस तरह आठ प्रकार की प्रकृति परा नाम से कही जाती है।

अवस्थासर्जनात्पूर्वं साम्याख्या प्रकृतेर्भवेत् ।
सर्जने गुणवैषाम्यात् विषमा सृष्टिरूपिणी ॥ १९ ॥

सृष्टि की रचना से पूर्व प्रकृति की साम्यावस्था होती है सृष्टि रचना काल में गुणों की विषमता से विषमावस्था होती है यह अवस्था ही सृष्टिरूपिणी होती है।

महत्तत्त्वादहङ्कारोऽहङ्काराच्च गुणास्त्रयः ।
गुणास्त्रयो वै लोकेऽस्मिन् सर्वकर्मविधायकाः ॥ २० ॥

महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए हैं। ये तीन गुण ही संसार में सब कर्मों के करने वाले हैं।

तमसो रजसश्चैव सत्त्वस्यापि च शक्तयः ।
क्रमादेता भवन्त्येव सर्वव्यापारसाधिकाः ॥ २१ ॥

तमोगुण, रजोगुण व सत्त्वगुण की तीनों शक्तियां ही क्रमशः सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने वाली होती हैं।

भवन्ति शक्तयस्तेषु तिस्र एव क्रिया पराः ।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्ति ज्ञानशक्तिस्तथैव च ॥ २२ ॥

इन तीनों गुणों की कार्य करने में तत्पर द्रव्यशक्ति, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञानशक्ति क्रमशः ये तीन ही शक्तियां होती हैं।

जगद्रूपा भविष्यामि संकल्पोऽयं समुत्थितः।
महत्तत्त्वमिति प्रोक्तः सृष्टिक्रमनिरूपणे ॥ २३ ॥

सृष्टिरचना के समय शक्ति का "मैं जगत् रूप से उत्पन्न होऊं" यह सङ्कल्प ही महत्तत्व कहलाता है।

ज्ञानशक्त्यैव सम्पन्ना ह्यन्तःकरणनिर्मितिः।
क्रियाशक्तेस्तथा प्राणाः सेन्द्रिया व्यक्तिमागता॥ २४ ॥

आकाशो द्रव्यशक्तेस्तु महाभूतयुतस्तथा।
उत्पन्नानि ततस्तेभ्यो भुवनानि चतुर्दश ॥ २५ ॥

ज्ञानशक्ति से ही अन्तःकरण का निर्माण हुआ है तथा क्रियाशक्ति से इन्द्रियों सहित प्राण प्रकट हुए हैं। द्रव्यशक्ति से आकाश आदि महाभूत उत्पन्न हुए तथा पञ्चमहाभूतों से चौदह भुवन उत्पन्न हुए है।

निहिता शक्तयः सर्वाः ह्याकाशे वस्तुतः स्वतः।
तत्स्पन्दनाद्धि जायन्ते स्थूला वायुजलादयः॥ २६ ॥

वास्तव में तो संपूर्ण शक्तियां आकाश में स्वतः ही निहित हैं तथा उनके स्पन्दन से ही स्थूल वायु जल आदि भूतों की उत्पत्ति होती हैं।

इन्द्रियाणां समुत्पत्ति रहंकाराद्धि राजसात्।
भूतानां जायते सृष्टि रहंकाराच्च तामसात् ॥ २७ ॥

राजस अहङ्कार से इन्द्रियों की तथा तामस अहङ्कार से भूतों की रचना होती है।

स्वरूपमावृतं यत् स्या त्तदज्ञानमितीरितम् ।
जगद्रूपा भविष्यामि संकल्पस्यास्य भावतः ॥ २८ ॥

"जगत् रूप होऊं" इस संकल्प के भाव से वास्तविक स्वरूप छिप जाता है एवं इस प्रकार वास्तविक स्वरूप पर चढ़ा हुआ आवरण ही अज्ञान कहलाता है।

किञ्चित्कार्यन्न सम्पन्नं भवितुं शक्यत इह ।
न क्रिया घटीयन्त्रस्य त्विच्छा ज्ञानक्रियां विना ॥ २९ ॥

कार्य कारण भाव संसार का मूल है, यहां कोई भी कार्य विना हेतु नहीं हो सकता है। अतः सभी कार्यों में इच्छा ज्ञान और क्रिया मुख्य कारण हैं इनके विना कोई काम हो ही नहीं सकता है। उदाहरण—घड़ी या रंहट आदि कोई भी ले सकते हैं।

'इच्छा ज्ञान क्रियां' में एकवद्भाव द्वन्द्व बताता है कि ये तीनों 'दण्ड चक्रादि' न्याय से परस्पर सापेक्ष रूप से साथ रह कर ही कार्य को सम्पन्न करेंगे न कि 'तृणारणि मणि' न्याय की भांति व्यस्त रूप से। कार्य की पूर्ति में आदि से अन्त तक इच्छा ज्ञान क्रिया की अपेक्षा है।

पातालाद् ब्रह्मलोकान्तं मिलितानन्तगोलकैः ।
विराट् शरीरमेकञ्चा भूदेव जडरूपकम् ॥ ३० ॥

पाताल से ब्रह्मलोक पर्यन्त मिले हुए अनन्त पिण्डों से जड़ रूप एक विराट् शरीर ही उत्पन्न हुआ।

मायाधीशस्य चाङ्गे वै प्रविष्टे सति तज्जडम् ।
विराड् चैतन्य युक्तोऽसौ सशक्तः सर्जने ह्यभूत् ॥ ३१ ॥

उस जड़ के अङ्ग में मायाधीश ब्रह्म के प्रविष्ट होने पर ही चैतन्य (ब्रह्म) से युक्त वह विराट् सृष्टि रचना में समर्थ हुआ ।

अनाद्यन्ते निराकारे निर्विकल्पे च निर्गुणे ।
प्रथितास्फूर्तिरुत्पन्ना हं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मणि ॥ ३२ ॥
सैवास्ति मूलमायाख्या अव्यक्तप्रकृतिस्तथा ।
आदिशक्तिश्च विद्या च शुद्धसत्वापि संज्ञिता ॥ ३३ ॥

अनादि, अनन्त, निराकार, निर्विकल्प और निर्गुण ब्रह्म में "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार उत्पन्न हुई एवं दृढ़ता को प्राप्त हुई स्फूर्ति ही मूल माया एवं अव्यक्त प्रकृति कहलाती है इसे ही आदिशक्ति, विद्या और शुद्ध सत्व वाली भी कहते हैं ।

बहुस्यामहमेकोऽपि स्फूर्तिरेषा द्वितीयका ।
माया ब्रह्मसुयोगेन समुद्भूता ततः परम् ॥ ३४ ॥

फिर माया और ब्रह्म के योग से "मैं एक भी अनेक रूप में होऊं" इस प्रकार दूसरी स्फूर्ति उत्पन्न हुई ।

अस्या एवाद्यशक्तेर्यो ज्ञाता सर्वेश्वरः प्रभुः ।
स एव गीयते लोके सगुणं ब्रह्म चेश्वरः ॥ ३५ ॥

इसी आद्यशक्ति का ज्ञाता जो सर्वेश्वर प्रभु है वही संसार में सगुणब्रह्म और ईश्वर इस नाम से प्रसिद्ध है ।

महत्तत्वस्य सत्वांश ईश्वरः प्रतिविम्बितः ।
स एव ब्रह्मशब्देन प्रसिद्धिं सर्वतोगतः ॥ ३६ ॥

महत्तत्व के सत्व अंश में ईश्वर प्रतिविम्बित होता है वही सर्वत्र ब्रह्मरूप से प्रसिद्ध है ।

एकत्व वाऽद्वितीयत्वं क्रियाशून्येश्वरे मतम् ।
सर्गेच्छया तु तच्छक्ति र्व्यक्ताभूत् सहयोगिनी ॥ ३७ ॥

क्रिया शून्य ईश्वर एक और अद्वितीय है । सृष्टि निर्माण की इच्छा होने पर उसी की शक्ति सहयोगिनी के रूप में प्रकट हुई है ।

इच्छाशक्तिर्हि सैवास्ति तयैव चित्रितं जगत् ।
क्रियाशक्त्यैव पश्चाद्धि ब्रह्माण्डरचनाभवत् ॥ ३८ ॥

वही इच्छा शक्ति है और उसी से यह जगत् बना है और क्रियाशक्ति से अन्त में ब्रह्माण्ड की रचना हुई है ।

अर्हति न मनाक् शून्यं अङ्कस्याश्रयणं विना ।
तथेयं तं विना लोके प्रौढमाना न सम्भवेत् ॥ ३९ ॥

अङ्क के आश्रय विना जिस प्रकार शून्य का कोई महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म के विना माया का कोई महत्त्व नहीं होता ।

असद्रूपा तथा माया विना ब्रह्मात्त्मागतौ ।
परं ब्रह्मसमाश्रित्य जायतेऽचिन्त्यशक्तिमाक् ॥ ४० ॥

उसी प्रकार असद्रूप माया ब्रह्म के बिना गति करने में असमर्थ है परन्तु ब्रह्म का आश्रय लेकर अचिन्त्यशक्ति से युक्त हो जाती है।

स्थितिस्तु साम्यभावेन वैषम्यादनवस्थितिः।
भूतसाम्यात् स्थितिः सृष्टेः वैषम्यात् प्रलयो ध्रुवम् ॥४१॥

समता से स्थिति और विषमता से विनाश होता है, पञ्चमहाभूतों की समता से सृष्टि स्थित है, विषमता से प्रलय निश्चित है।

बीजमादावभूदत्र वृक्षो वादावभूदिति।
जगति प्रसृतः प्रश्नो धीमतामपि मोहकः ॥ ४२ ॥

अव्यक्ता प्रकृतिस्त्वादौ बीजरूपा भुवोऽभवत्।
तद्बीजादुद्गतो वृक्षो वृक्षाद् बीजं ततस्ततः ॥ ४३ ॥

पहले बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष ? संसार भर में विचाराधीन यह प्रश्न विद्वानों को भी चक्कर में डालने वाला है।

सर्व प्रथम अव्यक्त प्रकृति ही पृथ्वी के बीजरूप में उत्पन्न हुई। उस बीज से वृक्ष उत्पन्न हुआ, फिर वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष का क्रम चल पड़ा।

प्रकृतेर्गुणनाशो न भवितुं शक्यते क्वचित्।
गुणानां तारतम्येन निग्रहः केवलं भवेत् ॥ ४४ ॥

प्रकृति के गुणों का कभी कहीं विनाश नहीं होता है परन्तु गुणों की न्यूनाधिकता से उनका केवल निग्रह होता है।

तमोगुण प्रधाना तु प्रकृतिः स्थावरे मता ।
पशुत्वे तु रजोभाव स्तमोदमनकारकः ॥ ४५ ॥

स्थावर में तमोगुण प्रधान प्रकृति होती है परन्तु जङ्गम में तमोगुण का दमन करने वाली रजोगुण प्रधान प्रकृति होती है।

ये गुणाः सन्ति देवेषु सन्ति ते हि जनेष्वपि ।
कर्तृत्वं चैव भर्तृत्वं हर्तृत्वं च त्रयो गुणाः ॥ ४६ ॥

उत्पत्ति, पालन व संहार रूपी जो तीन गुण देवताओं में हैं वे ही तीनों गुण मनुष्यों में भी विद्यमान हैं।

भावेषु सर्वभक्तानां सर्वोच्चशक्तिरुच्यते ।
शक्तिरेवात्र नानाभि र्नामभिः समुदीरिता ॥ ४७ ॥

सभी भक्तों के भाव में सर्वोच्च शक्ति का निवास रहता है वह शक्ति ही नाना प्रकार के नामों से पुकारी जाती है।

लयो गुणकरो यस्य यस्मिन् द्रव्ये भवेद्यदि ।
तत्र तस्य लयः श्रेष्ठः खादस्य स्याद्यथा मृदि ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार मिट्टी में खाद का मिश्रण गुणकारक होता है उसी प्रकार जिस पदार्थ का मिश्रण गुणकारक हो उसी का उसमें मिलाना श्रेष्ठ है।

मन्त्रैस्तु श्रूयते शक्तिः यन्त्रैश्च दृश्यते तथा ।
तन्त्रैश्च साध्यते सैव शक्तिर्हि प्रसृता भुवि ॥ ४९ ॥

मन्त्रों से शक्ति का श्रवण, यन्त्रों से शक्ति का दर्शन और तन्त्रों से शक्ति की साधना होती है इस प्रकार शक्ति का ही संसार में प्रसार है।

शक्तिस्तु शक्तिरेवास्ति निकामं सा शुभाशुभा ।
युक्तायुक्तप्रयोगाभ्यां सम्भवेत्सा शुभाशुभा ॥ ५० ॥

शक्ति एक ही है चाहे वह शुभ हो या अशुभ । वास्तव में उचित और अनुचित प्रयोग से ही वह शुभ और अशुभ होती है।

शक्तिस्तु द्विविधा ज्ञेया विभाविनी स्वभावजा ।
विभाविनी महामाया मोहदात्री भयङ्करा ॥ ५१ ॥

शक्ति दो प्रकार की है विभाविनी और स्वभावजा इन में से विभाविनी नामक महाशक्ति मोह एवं भय को प्रदान करने वाली है।

स्वाधीना स्वानुकूला च पूर्णव्यक्ता स्वभावजा ।
सैवास्ति सच्चिदानन्द भगवच्छक्तिर्दुरत्यया ॥ ५२ ॥

दूसरी शक्ति स्वभावजा अपने आधीन, अनुकूल तथा पूर्णरूप से प्रकट है तथा वही सच्चिदानन्द रूप भगवान् की अविच्छिन्न शक्ति है।

दुष्टास्तु पीडयन्त्यन्यान् स्वशक्तेर्दुष्प्रयोगतः ।
रक्षन्ति साधवस्त्वन्यान् भावाच्छक्तिः प्रयुज्यते ॥ ५३ ॥

शक्ति का प्रयोग करने में भाव ही प्रधान है। जैसे—दुष्ट पुरुष तो अपनी शक्ति का कुप्रयोग कर दूसरों को दुःख देते हैं और सज्जन पुरुष अपनी शक्ति से दूसरों की रक्षा करते हैं।

यथाग्नेरुष्णता भिन्ना शक्तिर्नं ब्रह्मणस्तथा ।
ब्रह्मणः सक्रियावस्थैं वात्र शक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं है वैसे ही ब्रह्म की सक्रिय अवस्था ही का नाम शक्ति है।

शक्तिहीनः शिवो ज्ञेयः शव एव न संशयः ।
प्रधाना शक्तिरेवास्ति व्यवहाराय भूतले ॥ ५५ ॥

अतः शक्ति अर्थात् सक्रिय अवस्था से रहित शिव (महादेव) निश्चय ही शव अर्थात् मृत शरीरवत् है। अतः संसार में व्यवहार के लिये शक्ति की ही प्रधानता है।

ब्रह्माणी ब्रह्मणः शक्ति हंसस्तस्यास्ति वाहनम् ।
हंसो जीव इति प्रोक्तो द्वावेतौ सृष्टिकारकौ ॥ ५६ ॥

ब्रह्म की शक्ति ब्रह्माणी कहलाती है और उसका वाहन हंस है। हंस ही जीव कहलाता है। ये दोनों (अर्थात् ब्रह्मशक्ति और जीव) सृष्टि की रचना करने वाले हैं।

माहेश्वरी लया शक्ति वृंषस्तस्याश्च वाहनम् ।
धर्मरूपो वृषः प्रोक्तो धर्मज्ञानाल्लयो मतः ॥ ५७ ॥

कौमार्या वाहनं शक्तेे मयूरः सर्पभक्षकः ।
भुजङ्ग आसुरीवृत्तिः कौमारं दिव्यभावना ॥ ५८ ॥

माहेश्वरी शक्ति का नाम लया है और उसका वाहन वृषभ है, वृषभ को ही धर्म कहते हैं और धर्मज्ञान से लय होता ही है।

कौमारी शक्ति का वाहन मयूर है जो सर्पभक्षक है आसुरी वृत्ति ही सर्प है। अतः कौमारी शक्ति के द्वारा ही आसुरी वृत्ति का विनाश होकर दिव्य भावना का जन्म होता है।

ब्रह्मा तु सृष्टिकर्तास्ति विष्णुश्च सृष्टिपालकः ।
सृष्टिसंहारको रुद्रः क्रमोऽयं वर्त्तते सदा ॥ ५६ ॥

(उस अचिन्त्य महाशक्ति परब्रह्म के त्रिगुणात्मक मायाब्रह्म के त्रिधा विभक्त रूपों में से एक रजो रूपात्मक) ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादक है (दूसरा सत्वगुणात्मक रूप) विष्णु इस सृष्टि का पालक है तथा (अवशिष्ट तृतीय तमोगुणात्मक) शिव रूप इसका संहारक है। इन तीनों का अपने २ कार्य का यह क्रम अनादि अनन्त है (और सदा इसी रूप में चलता रहता है।)

महासरस्वतीशक्ति र्ब्रह्मणो हि प्रकीर्त्तिता ।
महालक्ष्मी हरेरेव महाकाली हरस्य च ॥ ६० ॥

ब्रह्म की शक्ति 'महासरस्वती' भगवान् हरि की शक्ति महालक्ष्मी तथा 'हर' (लोक संहारक) रुद्र की शक्ति महाकाली है।

भगवतो ब्रह्मणः शक्तिः सदा नित्याऽपि चाऽव्यया ।
पृथग्भूता समूढा सा लोके सिद्धीन्ददात्यपि ॥ ६१ ॥

भगवान् ब्रह्मा की शक्ति नित्य एवं अविनाशिनी है। वह एकांकिनी शक्ति हो चाहे समूह शक्ति हो लोक में सिद्धि की देने वाली ही है।

कुराने त्वादमो हव्वा शिवशक्त्यर्थसूचकौ ।
सृष्टिर्हि निर्मिता ताभ्यां सृष्टौ सर्वत्र युग्मता ॥ ६२ ॥

कुरान में प्रयुक्त आदम और हव्वा शब्द शिव और शक्ति का अर्थ प्रकट करते हैं उन दोनों से ही सृष्टि की रचना हुई है जोड़ा ही सर्वत्र सृष्टि का कारण होता है ।

शक्त्या वर्जितसंसारे शक्तशक्त्योरभेदता ।
स्त्रियामीशो महाशक्तिः पुंसि स सर्वशक्तिमान् ॥ ६३ ॥

शक्ति से व्याप्त इस संसार में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद सम्बन्ध है, शासनकर्त्री वह शक्ति स्त्री में 'महाशक्ति' तथा पुरुष में 'सर्वशक्तिमान्' कहलाती है *।

यावन्तोऽर्च्याः सुरा लोके तावन्त्य एव शक्तयः ।
अवश्यं पूजनीयास्ताः प्रागेव देवपूजनात् ॥ ६४ ॥

संसार में जितने देवता पूज्य हैं उतनी ही शक्तियां हैं। अतः देवपूजन के पूर्व उनकी अवश्य पूजा करनी चाहिये ।

शिवस्तु शक्तियुक्तो हि स्पन्दितुं शक्नुयादपि ।
नोचेदिकारहीनोऽसौ शिवोऽपि शव एव हि ॥ ६५ ॥

शिव अखण्डोपाधि ब्रह्मशक्ति (माया) विशिष्ट होने पर ही गति शील है अन्यथा 'शक्ति के प्रतीक' 'इकार' से हीन होने पर वे केवल मात्र 'शव' अर्थात् मृतवत् हो जाता है। शिव सत्वमय हैं सत्व में स्वतः क्रिया का अभाव होता है, शक्ति रजोरूपा है, रजोगुण स्वयं क्रियाशील होने के साथ २

* शक्ति रावर्जिता यास्मिस्त्वत्तादृशो संसार इति व्युत्पत्तिः ।

सत्व तमस् को भी गति देता है । इस प्रकार रजोमिश्रित सत्व का विवर्तन ही यह जगत् है, जो शिव का शक्ति से सम्वलित होकर अभिव्यक्त होता है, यदि यह शक्ति जगत् से पृथक् हो जावे तो वह शिवस्वरूप न होकर 'शव रूप' हो अशिव हो जाता है । इस प्रकार सर्वत्र शक्ति का ही साम्राज्य है उस के विना सब व्यर्थ है ।

पुल्लिङ्गा निखिला लोके पदार्थाः शिवरूपिणः ।
स्त्रीलिङ्गाश्च पुनः सर्वे पदार्थाः शक्तिरूपिणः ॥ ६६ ॥

यह संसार 'शिवशक्ति सङ्गम' या 'मायोपाधिक ब्रह्म की क्रीड़ा' का ही तो परिणाम है, यहां इन से अतिरिक्त कोई भी तीसरी वस्तु नहीं है, जितने भी पुल्लिङ्ग जड़ चेतन पदार्थ हैं सब 'शिव रूप' हैं और जितने भी स्त्री लिङ्ग हैं सब 'शक्ति रूप' हैं ।

व्याहता चेदशक्ता स्यात् अथवा क्रोधरूपिणी ।
व्याघातो सा हि काले स्यात् नवा शक्तिर्वलीयसि ॥६७॥

वही इच्छा यदि व्याघात (रुकावट) पाती है तो शक्ति न रह कर 'अशक्ति' निर्वलता हो कर पड़ी रह जाती है अथवा किसी २ समय क्रोध में परिवर्तित हो जाती है और उस समय नवोत्था शक्ति वलवान् रहती है ।

इच्छा चेद्व्याहता न स्या दन्यवलवत्तरेच्छया ।
तर्हि स्याच्छक्ति नाम्नी सा कुमारी च तथा ह्युमा ॥ ६८॥

किसी भी अन्य प्रवल इच्छा से वाधित न होने वाली सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र इच्छा ही 'शक्ति' है, अन्य नियन्त्रण के अभाव से

वही कुमारी है, अन्य सभी का वर्जन करने वाली वही 'उमा' भी है। कहावत है 'जहां चाह वहां राह' यदि समस्त इच्छाएं शान्त हो जाती हैं या उठती ही नहीं है तो मनः साम्राज्य में एकच्छत्र विहरण करने वाली उस एक इच्छा का विरोध न होने से मन विभिन्न संकल्पों मे विभाजित नहीं होगा. प्राणपण से एक ही 'इच्छा' की पूर्ति का प्रयास होगा। इस से एकतानता बढ़ेगी जो सिद्धि मे साधन है। अतः इच्छा का एकत्व ही शक्ति या सामर्थ्य हुआ। 'इच्छा शक्ति' के चमत्कार 'मोहिनी विद्या' के साधकों के प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की इच्छा ही सृष्टिशक्ति के रूप में है।

मन्त्रस्य मननादेव मस्तिष्के स्फुरणा भवेत् ।
मूर्त्तिरूपेण सा स्फूर्त्तिर्ध्यानकर्त्तुर्हि देवता ॥ ६९ ॥

प्रत्येक शब्द में शक्ति है, वही शक्ति मन्त्र में भी विशेष रूप से है, बारम्बार मनन करने से साधक के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीय स्फुरणा होती है वही स्फुरणा मूर्तिरूप से ध्यानी की इष्टदेव है। ध्यान की एकतानता एवं मन्त्र शक्ति के प्रभाव से मूर्ति ही देवतारूप में परिवर्तित हो जाती है।

एवं कल्पित मूर्त्तिभ्य ईप्सति जनतेप्सितम् ।
यावन्तो मानवाः लोके देवास्तावन्त एव हि ॥ ७० ॥

इसी प्रकार अपनी भावना से कल्पित मूर्तियों से ही जनता अपना मनोवाञ्छित फल पाना चाहती है। ऐसे देवता एक दो दस बीस नहीं अपितु मानवों की संख्यानुसार अनेक हैं।

सरांश यह है कि भाव ही मूर्तिमान् देवता है। ध्यानावस्था में साधक जिस भावना की अनुभूति करेगा वही भावना उसी मनोमय भूमि में मूर्तरूप धारण कर इष्टदेव रूप से स्फुटित होगी। इस प्रकार प्रत्येक मानव का अपना स्वतन्त्र देवता है और वह उसकी अनुभूतियों को सबलरूप से सत्य करने वाला होने के कारण सत्य है यही इन पंक्तियों का अभिप्राय है।

स्वीयोन्नति विकासार्थ मुपायानान्तु चिन्तनम् ।
स्वाभाविकमिदं लोके सर्वेषां शक्तिपूजनम् ॥ ७१ ॥

अपनी उन्नति और विकास के लिये जो उपायों का चिन्तन किया जाता है यही संसार में सब का स्वाभाविक रूप से शक्ति का पूजन है।

प्रच्छन्नास्त्येव सर्वेषां दैवीशक्तिर्मनस्सु भोः ।
सर्वं कर्तुं समर्थोऽस्ति स्वीय शक्त्यर्चको भुवि ॥ ७२ ॥

हे शिष्य ! सब के मन में दैवीशक्ति गुप्त रूप से रहती है उस आत्मशक्ति का पूजक संसार में सब कुछ कर सकता है *।

स्वां वेत्ति परमाशक्ति नैत्वन्यस्तस्य वेदिता ।
तां विहाय न कोऽप्यन्यः सर्वज्ञ इति गीयते ॥ ७३ ॥

---

* संसार मे जब तक आत्मबल का ज्ञान नहीं होता है तब तक अकिञ्चन की भांति रहना पडता है इसलिये आत्मबल का ज्ञान हो जाना ही शक्ति पूजन है।

परमाशक्ति ही अपने को जानती है उसे जानने वाला कोई नहीं है। अतः उसके विना कोई भी दूसरा सर्वज्ञ नहीं कहला सकता है।

जडा जडात्मिका सृष्टिः शरीरं परमात्मनः।
शरीरं क्षेत्रसंज्ञं स्यात् जीवः क्षेत्रज्ञ संज्ञकः॥ ७४॥

जड़ चेतन रूप सृष्टि ही परमात्मा का शरीर है शरीर क्षेत्र है एवं जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयुक्ता शक्तिर्हि परमा तयोः।
अपरा संस्तुता पूर्वा द्वितीया च परा मता॥ ७५॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की मिली हुई शक्ति परमा है उन में पहली (क्षेत्र की शक्ति) अपरा तथा दूसरी (क्षेत्रज्ञ की शक्ति) परा कहलाती है।

शिवशक्त्योरभेदोऽस्ति सृष्ट्यर्थं दृश्यते द्विधा।
प्रतिच्छाया मुखस्यैव दर्पणे दृश्यते यथा॥ ७६॥

जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में पृथक् दृष्टिगोचर होने पर भी मुख से भिन्न नहीं है वैसे ही शिव और शक्ति में भेद नहीं है सृष्टि रचना के लिये ही दो रूप प्रतिभासित होते हैं।

सच्छिवस्योन्मुखी भावः सिसृक्षा च तथेक्षणम्।
बहु स्यामहमेको हि पर्यायवाचिनस्त्विमे॥ ७७॥

सत् स्वरूप शिव का उन्मुखी भाव, सिसृक्षा, ईक्षण और एकोऽहम् बहु स्याम् ये सब पर्यायवाची हैं।

पराशक्तिविमर्शस्य विलासः प्रथमो मनः ।
मनस्यात्मा ततो नूनं भवति प्रतिबिम्बितः ॥ ७८ ॥

विमर्श की पराशक्ति के प्रथम विलास का नाम ही म
है और उस मन में ही आत्मा प्रतिबिम्ब होता है ।

त्यक्त्वैव शक्तिचाञ्चल्यं शान्तचित्ते सदाशिवे ।
निवासो वर्तते यस्य शान्तः स मुक्त एव च ॥ ७९ ॥

शक्ति की चञ्चलता को छोड़ कर ही जिसका शान्तचि
सदा शिव में निवास होता है वही शान्त और मुक्त है ।

शक्तीनामेव नामानि देवानामपि नामसु ।
आदावेव प्रयुक्तानि लक्ष्मीनारायणो यथा ॥ ८० ॥

लक्ष्मीनारायण की भांति देवताओं के नामों में भी पह
शक्तियों के नामों का प्रयोग होता है ।

एकतायां महाशक्तिः कथ्यत ईश्वरोऽपि सा ।
पञ्चैक्य ईश्वरास्तित्वं यथा लोकेऽपि मन्यते ॥ ८१ ॥

एकता में जबर्दस्त शक्ति निहित है, वही शक्ति 'ईश्वर'
कही जाती है । पांच व्यक्तियों की समष्टि में ईश्वर की सत्त
का अनुभव तो जनसाधारण में भी प्रत्यक्ष है * ।

* मनुष्य की आत्मा इयत्ता से परिच्छिन्न होती है तथापि य
अपने स्वाभाविक धर्म 'चित्' से सर्वथा वञ्चित नहीं रहती है, जब पां
व्यष्टियां एकत्रित होकर एक ही समस्या पर विचार करती हैं तो उन
पारस्परिक विचार विनियम से उनकी 'चिच्छक्ति' बहुत अनावृत्त होक

ईश्वरोऽस्ति नवेत्येवं विवदन्ते हि पण्डिताः ।
योऽधिकस्तर्कविद्यायामीश्वरो हि तदाश्रितः ॥ ८२ ॥

'ईश्वर है या नहीं' इस प्रकार प्रायः पण्डित लोग विवाद करते रहते हैं (वस्तुतः इन विवादों से किसी सर्वसम्मत अबाधित तथ्य की प्राप्ति न होकर केवल मनस्तुष्टि या शास्त्रार्थ विजय होती है क्योंकि इन में तर्क प्रधान होता है) अतः जो तर्क विद्या में बढ़कर होगा ईश्वर उसी के अधीन होगा। आज 'अस्ति' पक्ष का तर्क सबल है तो प्रतिवादी निरुत्तर है ईश्वर सिद्ध है. कल नास्ति का तर्क भारी रहा तो ईश्वर असिद्ध हो जावेगा, यह खींचातानी चलती ही रहेगी क्योंकि 'तर्कोऽप्रतिष्टः' निष्कर्ष यह है कि तर्क से ईश्वर की सत्ता के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

व्यायामं बौद्धिकं सर्वे विदधतीश्वराप्तये ।
परन्ते नैव जानन्ति सर्व व्यापकमीश्वरम् ॥ ८३ ॥

सभी ईश्वर की प्राप्ति के लिए बौद्धिक व्यायाम करते हैं किन्तु सर्वव्यापक ईश्वर को जानते नहीं हैं ।

समवेत समष्टि के रूप मे पूर्णता की ओर अधिकाधिक अग्रसर होती है पूर्णता ही ईश्वर है। ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । यही पक्ष परमेश्वर का लोक प्रचलित वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

* ईश्वर प्रेम के साधन द्वारा प्राप्य है। अतः उसके लिए 'हृदय' की आवश्यकता है, बुद्धि की नहीं, यही कारण है कि बौद्धिक कौशल यहां

निवेदयामि भोलोकाः श्रूयताञ्चावधानतः।
वर्ततेह्यद्वितीयत्वं यत्र तत्रेश्वरस्थितिः॥ ८४॥

हे महानुभावो ! मैं जो कुछ निवेदन कर रहा हूँ उसे ध्यान पूर्वक सुनें जहां 'पूर्ण अद्वितीयता' हो वहीं ईश्वर की स्थिति है।

नाप्यते वाह्यदृष्ट्यासावन्तर्दृष्ट्यावगम्यते।
ऐक्य एवेश्वरास्तित्वं नानेकत्वे कदाचन॥ ८५॥

ईश्वर वाह्यदृष्टि से नहीं मिलता है वह तो अन्तर्दृष्टि से ही जाना जाता है। ईश्वर का अस्तित्व ऐक्य में ही है अनेकत्व में बिल्कुल नहीं।

लोके चित्ते गृहे योगे सभायाः सम्मतावपि।
विचारे संहतौ वापि स्तुत्यमेकत्वमेव हि॥ ८६॥

जनता में, चित्त में, घर में, योग में, सभा की सम्मति में, विचार में, संघ मे (सभी जगह) एकत्व उत्तम वस्तु है।

यथा शुम्भनिशुम्भाभ्यां त्रैलोक्ये विजिते सति।
शक्तिर्देवाङ्गनिष्कृष्टा ह्यकरोद्देवरक्षणम्॥ ८७॥

तक असफल हो जाते हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है। अतः बुद्धि भी उससे व्याप्य है व्याप्य व्यापक का माप करने में असमर्थ होता है, यही कारण है कि "यो बुद्धेः परतस्तु सः" वह है। ईश्वर मे हृदय लगाने से ईश्वरमय मनुष्य हो जाता है तथा प्रेम के वशीभूत भगवान् स्वय खिंचे आते हैं, मानव उनकी अनुभूति कर सकता फिर भी आद्यन्तपूर्वक यथावत् नहीं जान पाता है।

जैसे शुम्भ और निशुम्भ के द्वारा तीनों लोकों के जीत लेने पर देवताओं के अङ्गों से निकली हुई शक्ति ने ही देवताओं की रक्षा की थी।

चिच्छक्तिर्ज्ञानशक्तिः स्या दचित्तु प्रकृतिस्तथा।
यदैतद् द्वयसम्बन्धो बलशक्तिस्तदोच्यते ॥ ८८ ॥

चित् शक्ति को ज्ञानशक्ति और चित् भिन्न को प्रकृति कहते हैं जब इन दोनों का सम्बन्ध होता है तो इन्हें बलशक्ति कहते हैं।

गत्यर्थद्योतकः कालो गतिस्तु कर्मसंज्ञिकाः।
ग्रहाणां गतिरेवास्ति हायनं दिवसादयः ॥ ८९ ॥

गति के तात्पर्य को बतलाने वाला काल है और गति को कर्म कहते हैं। ग्रहों की गति ही वर्ष और दिन आदि है।

वस्तुसत्ताप्रमाणन्तु गतिरेव न संशयः।
विना वस्तुगतिर्नास्ति वस्तुनि वै गतिर्भवेत् ॥ ९० ॥

निश्चय ही वस्तु की सत्ता में गति ही प्रमाण है। वस्तु के बिना गति नहीं हो सकती और वस्तु के होने पर गति अवश्य होनी चाहिये अर्थात् वस्तु एवं गति का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है।

व्यक्तसृष्टौ जगत्येव स्त्रीपुम्भेदो भवेदिह।
द्वैतभावस्तुनाऽव्यक्ते भवितुम्ब्रह्मणि क्षमः ॥ ९१ ॥

इस संसार में व्यक्त अर्थात् प्रकट सृष्टि में ही स्त्री पुरुष का भेद हो सकता है परन्तु अव्यक्त ब्रह्म में द्वैत भाव नहीं हो सकता।

दिशायाः सूचको देशः प्रेरणा कालसूचिका ।
देशकालौ गतिश्चैते त्रिभिः कर्मसु घटयते ॥ ६२ ॥

देश से दिशा की एवं प्रेरणा से काल की सूचना होती है। देश, काल और गति इन तीनों से कर्म होता है।

जगतां स्रष्टुमिच्छा या निष्कले ब्रह्मणि स्थिता ।
यावदेषोन्मना तावत् सृष्ट्वा तु समनेति सा ॥ ६३ ॥

निष्कल ब्रह्म में जब तक जगत् को रचने की इच्छा रहती है तब तक उसे उन्मना कहते हैं रचना कर लेने पर उसे समना कहते हैं।

पशुत्वाद् यन्मनुष्यत्वे ह्युच्चत्वन्दृश्यते भुवि ।
तत्कारणं मनुष्यत्वे बुद्धिशक्तेर्विशेषता ॥ ६४ ॥

संसार में पशुत्व से मनुष्यत्व में जो उच्चत्व दृष्टिगोचर होता है इसका कारण मनुष्यत्व में बुद्धिशक्ति की विशेषता है।

देवी तु स्वात्मशक्तिर्हि सावधानतया शृणु ।
स्वीयशक्त्यर्चने नैव नरो याति परांगतिम् ॥ ८५ ॥

हे शिष्य ! सावधान होकर सुन—आत्मशक्ति ही देवी है इस आत्मशक्ति का अर्चन करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है।

सत्त्वरूपा रजोरूपा तमोरूपा त्रिधा भुवि ।
वर्तमाना महाशक्ति स्तत्त्वज्ञान प्रदाऽनघा ॥ ६६ ॥

संसार में सत्व, रज और तम रूप से वर्तमान, पाप से रहित महाशक्ति तत्वज्ञान को देने वाली है।

नैकरूपधरादेवी भक्तकार्यसुसिद्धये ।
यथायोग्या भवत्येव ज्ञात्वा भावं हृदि स्थितम् ॥ ६७ ॥

अनेक रूपों को धारण करने वाली देवी भक्त के कार्य की सिद्धि करने के लिये (उसके) हृदय में स्थित भाव को जानकर ही उसके अनुकूल हो जाती है।

काली तु कालरूपा वै ज्ञानरूपा सरस्वती ।
कराला क्रोधरूपा च कमला मृदुभाषिणी ॥ ६८ ॥

काली कालरूपा है, सरस्वती ज्ञानरूपा है, कराली क्रोध-रूपा है और कमला मृदुभाषिणी है।

सृष्टिकार्यं महाशक्ते स्त्रिभागेषु विभाजितम् ।
सर्जनं पालनं चैव संहारश्चान्तिमः स्मृतः ॥ ६९ ॥

महाशक्ति का सृष्टिकार्य उत्पत्ति, पालन और संहाररूप से तीन हिस्सों में बँटा हुआ है।

ब्रह्मा तु सृष्टिकर्ताऽभूत् विष्णुश्च पालकः प्रभुः ।
संहारको महेशश्च त्रिदेवा कार्य वाहकाः ॥ १०० ॥

सृष्टि को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले भगवान् विष्णु तथा संहार करने वाले महेश ये तीनों देव महाशक्ति के तीनों कार्यों का वहन करते हैं।

वृक्षो भवति बीजात्तु बीजोत्पत्तिर्भवेद् द्रुमात् ।
बीजन्नोत्पद्यते बीजात् वृक्षोत्पत्तिं विना क्वचित् ॥१०१॥

बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, वृक्ष की उत्पत्ति के विना कहीं बीज से बीज की उत्पत्ति नहीं होती है।

बीजे यद्यपि सामर्थ्यं वृक्षोत्पत्तेर्हि निश्चितम् ।
तथापि वृक्षसृष्टेर्हि बीजोत्पत्तिः प्रजायते ॥ १०२ ॥

यद्यपि बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की पूर्ण सामर्थ्य है फिर भी विना वृक्ष के बीज उत्पन्न नहीं हो सकता।

तथैव शक्तिसामर्थ्यात् विकासो ब्रह्मणो भवेत् ।
अचिन्त्यासौ महाशक्ति र्ययेदं सृज्यते जगत् ॥ १०३ ॥

उसी प्रकार शक्ति के सामर्थ्य से ही ब्रह्म का विकास होता है। अतः वह महाशक्ति अचिन्त्य है जिससे इस जगत् की रचना होती है।

सूक्ष्मबीजाद्विभिन्नो हि निःसरत्यङ्कुरो यथा ।
स स्वयं वर्द्धते नित्यं शाखापत्रादि संयुतः ॥ १०४ ॥

जैसे सूक्ष्मबीज से भिन्न प्रकार का ही अंकुर निकलता है और वह स्वयं नित्य शाखा पत्र आदि से युक्त होकर बढ़ता रहता है।

तथैव ब्रह्मबीजाद्धि महाशक्त्यङ्कुरो मतः ।
नरनारीस्वरूपेण सोऽङ्कुरः सृष्टिकारकः ॥ १०५ ॥

उसी प्रकार ब्रह्मबीज से महाशक्ति में अंकुर उत्पन्न होता है नरनारी रूप से वही अंकुर सृष्टि की रचना करने वाला होता है ।

घनत्वं च गुरुत्वं च काठिन्यं च कुरूपता ।
गुणैरेतैः सुसम्पन्ना सृष्टिर्हि नरसंज्ञिका ॥ १०६ ॥

घनत्व, गुरुत्व, कठोरता और कुरूपता इन गुणों से युक्त सृष्टि नरसंज्ञिका है ।

कोमलत्वं च माधुर्य चापल्यं च सुरूपता ।
गुणैरेतैः सुसम्पन्ना नारीसृष्टिः सुसम्मता ॥ १०७ ॥

कोमलता, मधुरता, चपलता, सुरूपता इन गुणों से युक्त नारीसृष्टि होती है ।

नार्यां नर गुणाऽधिक्या न्नरे नार्यास्तथैव च ।
योनिः सृष्टा तृतीयाऽपि हींजड़ा नाङ्गना न ना ॥१०८॥

नारी में नर के गुणों की अधिकता होने से तथा नर में नारी के गुणों के आधिक्य से तीसरी हींजड़ा नामक योनि उत्पन्न हुई है जो न स्त्री है न पुरुष ही है ।

क्षेत्रज्ञः पुरुषो जीवो भुनक्ति प्राकृतान् गुणान् ।
भुक्तानां वासनां स्वेन सार्कं नयति पुष्पवत् ॥ १०९ ॥

क्षेत्रज्ञ पुरुष जीवात्मा जिन प्राकृत गुणों का उपभोग करता है उन भोगे हुए गुणों की वासना को अपने साथ पुष्प की तरह ले जाता है * ।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वखन्यां सृष्टितत्त्वनिरूपणो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

---

* पुष्प जहाँ जाता है उसकी सुगन्धि भी उसका साथ नहीं छोड़ती । ऐसे ही कर्मों की वासना भी साथ नहीं छोड़ती ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

अध्यात्मविद्यायाम्

आत्मतत्त्वनिरूपणम्

ईश्वराप्तेर्विधिः कोऽन्यः स्वात्मज्ञानादृते न हि ।
सर्वाण्यतः परित्यज्या ध्यात्मज्ञानामृतं पिबेत् ॥ १ ॥

ईश्वर की प्राप्ति का अध्यात्मज्ञान के बिना कोई दूसरा मार्ग नहीं है । अतः सब कामों को छोड़ कर अध्यात्मज्ञान रूपी अमृत का पान करे ।

संलग्नोऽध्यात्मसंज्ञाने ह्येकाग्रभाववान् वशी ।
सम्पूर्णसाधनेनैव सिद्धिमायात्यसंशयम् ॥ २ ॥

एकाग्रचित्त एवं जितेन्द्रिय होकर जो आध्यात्म के प्रबोधन में संलग्न होता है वह सम्पूर्ण साधनों से युक्त होकर ही अवश्यमेव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

संसारेऽखिलसिद्धीनां चित्तस्य समतोत्तमा ।
लौकिकाकर्षणान्मुक्तैः कर्तव्यं ह्यात्मचिन्तनम् ॥ ३ ॥

संसार में सम्पूर्ण सिद्धियों से चित्त की समता उत्तम है
ः लौकिक आकर्षणों से मुक्तपुरुषों को आत्मचिन्तन
ना चाहिये ।

सन्देहः प्रथमं चिह्नं ज्ञानस्यार्जन एधने ।
सन्दिग्धस्तत्त्वमभ्येति मानवः परिपृच्छया ॥ ४ ॥

ज्ञान के प्राप्त करने व बढ़ाने में सन्देह (जिज्ञासा) ही
थम सोपान है । जिज्ञासु मनुष्य अपनी शङ्काओं का समाधान
श्न द्वारा करता हुआ तत्त्व (सार) को प्राप्त कर लेता है ।

मार्जारी शिशुवद् भक्तोऽपेक्षते ह्याश्रयं हरेः ।
कपिशावकवज्ज्ञानी स्वेष्टशक्त्यावलम्बते ॥ ५ ॥

बिल्ली के बच्चे की भाँति (जैसे बिल्ली का बच्चा स्वयं अपनी
चिन्ता नहीं करता है अपितु माता को उसकी चिन्ता रहती है
से ही) भक्त भगवान् की अपेक्षा रखता है परन्तु ज्ञानी तो
न्दर के बच्चे की भाँति (जैसे बन्दर का बच्चा अपनी शक्ति
े माता की गोदी से लिपटा रहता है । माता कूदते फांदते समय
उसकी कोई चिन्ता नहीं करती वैसे ही) भगवान् का अपनी
शक्ति (आत्मबल) से आश्रय लेता है ।

सर्वेषां शुद्धवृत्तीनां जिज्ञासु नामकामिनाम् ।
सुपंथाः सम्मत एक श्चित्तवृत्तिनिरोधनम् ॥ ६ ॥

शुद्धवृत्ति से युक्त कामनारहित सभी जिज्ञासुओं के लिये
चित्त की वृत्तियों का निरोध ही एक सर्वसम्मत श्रेष्ठ मार्ग है ।

मोहाहङ्कारलोभानां त्यागादेव हि सर्वथा ।
शिष्यत्वेऽध्यात्म्यशिक्षायै पुरुषोऽधिकृतो मतः ॥ ७ ॥

बन्धोऽयं नास्ति शिष्यत्वे लोकविद्याप्तये नृणाम् ।
शुल्केन सेवया वापि लोकविद्याधिगम्यते ॥ ८ ॥

अध्यात्मविद्या की शिक्षा के लिये मोह, अहङ्कार एवं लोभ के सर्वथा त्याग से ही मनुष्य शिष्य बनने का अधिकारी होता है परन्तु सांसारिक विद्याओं के लिये शिष्य बनते समय मनुष्य के इस प्रकार का बन्धन नहीं है वह तो शुल्क अथवा सेवा से भी प्राप्त की जा सकती है।

अल्पज्ञत्वे तु 'दासोऽहम्' जिज्ञासा सूचकं पदम् ।
दा विनाशात्सदुपदेशात् सोऽहमेवाव शिष्यते ॥ ९ ॥

मनुष्य स्वल्प ज्ञान की अवस्था में विशिष्ट ज्ञानवान् के सामने 'दासोऽहम्' (मैं दास हूँ) की भावना से झुकता है, उसका यह पद जिज्ञासा वृत्ति का सूचक है। जब सत् उपदेश के माध्यम से 'दा' का नाश हो जाता है तो केवल 'सोऽहम्' 'वह मैं' ही अवशिष्ट रहता है *।

---

* इस पद्य में बड़ी गम्भीरता के साथ गुप्तरहस्य प्रकट किया गया है, साधारणतया इसमें विशिष्ट तथ्य नहीं दिखता है पर विचारने में निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं :—१ सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा मन के संयोग से 'परमत्व' खोकर केवल 'आत्मा' रह जाती है, उस समय यह अज्ञान से आवृत रहता है। अत. उसका चित् स्वरूप सर्वथा निगूढ़ रहता है, वह 'मैं अज्ञानी हूं' यह अनुभव भी नहीं करता है. मन होकर आपातरम्य विषयों में संलग्न रहता है एव तज्जन्य सुखदु:खादि की अनुभूति करता रहता है तथा अपना 'आनन्द' भी खो बैठता है, अब उस आनन्द की प्राप्ति के लिये वह जलता रहता है और अपनी परितापाग्नि

विधिज्ञः सुस्वभावश्च निर्लोभश्च जितेन्द्रियः ।
वेदशास्त्रार्थविज्ञाता सत्यासत्यविवेचकः ।। १० ।।

के शांत करने मे समर्थ किसी महात्मा के अनुसन्धान में रहता है, प्राक्तन शुभ संस्कारवश एवं अनुशय से विक्षेपों के विनाशवश उसे सद्गुरु की प्राप्ति होती है वह उसके चरणों मे झुक जाता है उसका अहम् अब प्रधान न रह कर 'दास' पदानुगत रहता है, उसमें जिज्ञासा के पूर्णभाव हैं

समर्थगुरु उस पर अनुग्रह करते हैं, 'दासोऽहं' कह कर चरणों में पड़े हुए के दान को वे अस्वीकार नहीं करते हैं, वे उसके दा=परिताप=विपयेच्छाजन्य अनुशय को लेते हैं तथा उसके उत्तम पुरुषीय 'अहम्' को अन्य पुरुष के 'तत्' का अनुगत कर देते हैं दोनों का सामनाधिकरण्य हो जाता है। तत और अहम् का द्वैत नष्ट हो जाता है इस प्रकार वह विशुद्ध 'सोऽहम्' हो जाता है। यहां दासोऽहम्' के अर्थ में ही चमत्कार सन्निहित है। दा सः अहम् मे दा का अर्थ गर्मी या पश्चाताप होता है । सः का अर्थ वह और अहम् का अर्थ मैं होता है। गर्मी या पश्चाताप से दग्ध वह मैं" यही साधक का अभिप्राय है, दास का अर्थ है अपने को निकृष्ट मानकर पुरोवर्ति की उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए उसके आदेश के लिए तत्पर व्यक्ति, साधक अपने पथ की निरुद्देश्य यात्रा से श्रान्त होकर विवश हो गुरु का सहारा चाहता है। गुरु उनकी हीनवृत्ति को उपदेश द्वारा दूर कर उसे आत्मज्ञान की भूमिका पर खड़े करने योग्य बनाते हैं । उसमें 'अहम्' के गौरव की उत्कर्षवृत्ति पैदा होती है उसका दासत्व समाप्त होकर शिष्यत्व प्रारम्भ होता है किन्तु दा परिताप अभी अवशिष्ट है उसके साथ पूर्वानुभूतियों का तत् भी संलग्न है, गुरु पुनः शिष्य को गुह्य उपदेश कर उसे उच्च भूमिका पर पहुँचा कर दा परिताप को अमृतवर्पण से समाप्त कर देते हैं। तत् की स्वसम्बद्ध अनुभूतियों को

दयालुरुपकारी च जपादेः साधनं स्वयम् ।
लोकस्य सग्रहार्थाय यो वै कुर्याद् यथाविधिम् ॥ ११ ॥

निपुणो योगविद्यायां सत्यवक्ता शमप्रियः ।
शिष्याघनाशने शक्तः ईशभक्तो भवेद् गुरुः ॥ १२ ॥

विधिज्ञ, सुस्वभावयुक्त, निर्लोभी, जितेन्द्रिय वेदादि शास्त्रों का ज्ञाता, सत्यासत्य विवेचक, दयालु, उपकारी, लोक के लाभ के लिये जो स्वयं यथाविधि जप आदि करता हो, योगविद्या में निपुण सत्यभाषी, शान्तिप्रिय शिष्य को पापमुक्त करने में समर्थ एवं जो ईश्वरभक्त हो वही गुरु हो सकता है।

क्षमावान् धैर्यवानाप्तः स्त्र्यासक्तो यो भवेन्न च ।
संयमी सत्यसंकल्पोऽनुभवी नीतिवित्तथा ॥ १३ ॥

निर्भयो व्यसनी साधु निष्पापश्चाप्यवञ्चकः ।
सदाचार ऋजुधर्मी प्रियशिष्यो वशेन्द्रियः ॥ १४ ॥

अव्याजी चाप्यकामस्तु प्रायो हि नाप्यते गुरुः ।
सावधानेन शिष्येण भवितव्यं गुणवतः ॥ १५ ॥

क्षमाशील, धैर्यवान्, विश्वस्त और जो स्त्रियों में आसक्त न हो, संयमी, सत्यप्रतिज्ञ, अनुभवी, नीतिज्ञ, निर्भीक,

---

कण २ में व्यास विराट् की अनुभूतियां बना उस से अहम् का अभिन्न सम्बन्ध कर देते हैं। विना नम्रता के आत्मज्ञान नहीं, आत्मज्ञान होने पर साधक सर्वविध परितापों से मुक्त हो अद्वैतस्वरूप हो जाता है यही इसका सार है।

अव्यसनी, साधु, पापरहित, अवञ्चक, सदाचारी, सरल, धार्मिक, शिष्यों से प्रेम करने वाला, जितेन्द्रिय कपटरहित और कामनारहित गुरु प्रायः नहीं मिलते हैं। अतः शिष्य को गुरु के प्रति सावधान रहना चाहिये।

दुष्कृतिः शिक्षयत्यन्यान् गृह्णाति न स्वयं हि तत्।
कृत्वाऽकृत्यं स्वयन्तेषां साफल्यं किं विधास्यति ॥ १६ ॥

दुष्ट दूसरों को शिक्षा देता है और स्वयं उसे ग्रहण नहीं करता है वह स्वयं कुकर्म करके दूसरों को कैसे सफलता प्रदान करेगा ?

सुदूराद्दर्शनेनैव नितरां ज्ञानचक्षुषः।
गुरवस्त्ववगच्छन्ति स्वोपदेशाधिकारिणः ॥ १७ ॥

ज्ञानरूपी नेत्र जिनके खुले हुए हैं ऐसे गुरुजन दूर से देख कर ही अपने उपदेश के अधिकारी भली प्रकार से पहिचान लेते हैं।

अनेक संशयोच्छेदी विच्छेदी जगदापदाम्।
दिव्यज्ञाननिधिर्लोके गुरुरेव न संशयः ॥ १८ ॥

इस संसार में निश्चय ही अनेक संशयों का उन्मूलन करने वाले एवं संसार की आपत्तियों को दूर करने वाले गुरु ही दिव्यज्ञान के कोष हैं।

सद्गुरोरान्तिके गत्वा वेदान्तवचनादिकम्।
शृणोति मनुते यस्यां सा वृत्तिः सुविचारणा ॥ १९ ॥

सद्गुरु के निकट जाकर वेदान्तवाक्यों का जिसमें श्रवण और मनन हो उस वृत्ति को सुविचारणा कहते हैं।

लभ्यते नाबलेनात्मा तदवाप्ति च कामधुक् ।
जननी सर्वसिद्धिनां नानात्मज्ञोऽस्ति शक्तिमान् ॥ २० ॥

निर्बल आत्मज्ञ नहीं हो सकता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति ही कामनाओं की पूर्ति करने वाली एवं सम्पूर्ण सिद्धियों की जननी है जो आत्मज्ञ नहीं है वह शक्तिशाली भी नहीं है।

पश्यति भूतमात्रं य आत्मवित् स कथं भवेत् ।
कुपितः केनचिच्छाक मीर्ष्यया दुष्ट भावतः ॥ २१ ॥

क्रोधित होकर जो ईर्ष्या एवं दुष्टभाव से किसी भी प्राणी को देखता है वह आत्मवित् कैसे हो सकता है ?

जन्मजन्मान्तरेष्वाप्त दुःखानामनुभूतितः ।
आत्मभावविवेकस्य ह्युत्पत्तिर्जायते किल ॥ २२ ॥

जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त दुःखों की अनुभूति से निश्चय ही आत्मभावरूपी ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रकृत्या सद्गुणो यः स्यात् स्पष्टवक्ता च शुद्धहृत् ।
संसारपोषको न स्यात् धीरः स आत्मवित् स्वतः ॥२३॥

जो स्वभाव से ही सद्गुणी हो स्पष्टवादी एवं शुद्ध हृदय हो, संसृति का पोषक न हो, धीर हो वह स्वतः ही आत्मज्ञानी है ।

स्वात्मनि निहिता शान्ति र्नाप्यते बाह्यतः कदा ।
ब्रह्मविदात्मसन्तुष्टो जानातीमां विशेषताम् ॥ २४ ॥

शान्ति अपनी आत्मा में ही है, कभी बाहर से नहीं मिल सकती, ब्रह्मज्ञानी एवं आत्मसंतोषी ही इस विशेषता को जानता है।

विषयस्य च वार्तायाः विज्ञानाच्चिन्तनादिभिः।
लक्ष्यं निश्चिनुयादादौ ततो यत्नं समाचरेत् ॥ २५ ॥

विषय की वार्ता के विज्ञान एवं चिन्तन आदि से अपना लक्ष्य चुने और फिर उसके अनुसार प्रयत्न करे।

जनः आत्मस्वरूपन्तु आत्मनैवावगच्छति ।
परेण ज्ञायते यत्तु तत्सर्वं नश्वरं भुवि ॥ २६ ॥

लोग अपने स्वरूप को आप ही जान सकते हैं जो दूसरे के द्वारा जाना जाता है वह सब संसार में नश्वर है।

स्वयं या द्योतते शक्तिः सर्वेन्द्रियप्रकाशिका ।
सैवात्मा चेतना धारा चिच्छक्तिरपि कथ्यते ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियों को प्रकाशित कर जो शक्ति स्वयं देदीप्यमान होती है वही आत्मा एवं चेतन का आश्रय है उसे ही चिच्छक्ति भी कहते हैं।

ब्रह्माहमिति जानाति सैव जानाति सर्वथा ।
सर्वशास्त्रसुवेत्तापि तदज्ञो मूढ एव हि ॥ २८ ॥

"मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार जो सर्वथा जानता है वही सम्पूर्ण शास्त्रों में निष्णात है। जो इस भाँति नहीं जानता वह मूर्ख ही है।

यतन्ते ज्ञानिन एव चित्तैकाग्रस्य सिद्धये ।
ज्ञानिनः स्वल्पयत्नेनैव मनसो रोधने क्षमाः ॥ २९ ॥

ज्ञानी पुरुष निज की एकाग्रता के लिये ही प्रयत्न करते हैं अतः थोड़े ही श्रम से ज्ञानी पुरुष मन का नियन्त्रण करने में समर्थ हो जाते हैं ।

स्वात्मारामस्य धीरस्य चेतोऽवरुध्यते स्वयम् ।
विक्षिप्त चित्तवृत्तेस्तु स्वान्तावरोधनं वृथा ॥ ३० ॥

आत्माराम धीर पुरुष का चित्त स्वयं नियन्त्रित हो जाता है एवं जिसकी चित्तवृत्तियां विक्षिप्त हैं उसे मानसिक नियन्त्रण करने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।

मनोब्रह्मशिवोज्ञानं विष्णुः प्राणस्तथा स्मृतः ।
एवमात्मशरीरस्था मननीयास्त्रयो ह्यमी ॥ ३१ ॥

मन ब्रह्मरूप, शिव ज्ञानरूप तथा विष्णु प्राणरूप हैं इस प्रकार अपने ही शरीर में स्थित इन तीनों का मनन करना चाहिये ।

न वाञ्छति छलं कर्तुं सर्वं पश्यति चात्मवत् ।
निर्भयं भाषते सत्य मात्मज्ञानी स उच्यते ॥ ३२ ॥

जो सब को अपनी भाँति देखता है और छल करना नहीं चाहता है तथा निर्भीक होकर सत्य बोलता है वही आत्मज्ञानी है ।

आत्मनानुभवज्ञानं ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ।
सर्वत्रैकरसाखण्ड मनन्तं व्यापकं प्रभु ॥ ३३ ॥

आत्मा के द्वारा अनुभव से प्राप्त ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है वह सर्वत्र एक रस, अखण्ड अनन्त, व्यापक एवं समर्थ है।

स्वविचारानुकूलो हि भवितुं मानवोऽर्हति।
अतएवोन्नता भावाः रक्षणीयाः सदा हृदि ॥ ३४ ॥

मनुष्य अपने विचारों के अनुसार ही वनता है अतः मन में सदैव उन्नत विचारों को ही स्थान देना चाहिये।

सुखदुःखे समे ज्ञात्वा पूज्यतां याति मानवः।
एवं शक्नोति वै कर्तुं मात्मज्ञानी ह्युदारधीः ॥ ३५ ॥

मनुष्य सुख दुःख को समान जान कर ही पूज्यत्व को प्राप्त होता है और उदारवुद्धि आत्मज्ञानी ही इस प्रकार सुख दुःख को समान समझने में समर्थ है।

मय्येव शक्तयः सर्वा निहिता परमात्मना।
कस्मादपि न ताः प्रार्थ्याः मार्गणीयाः स्वतो हृदि ॥३६॥

सम्पूर्ण शक्तियां परमात्मा के द्वारा मुझ में ही निहित हैं, उनको किसी से मांगने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं उन्हें अपने हृदय में खोजना चाहिए।

साक्षिरूपेण यो भाति सर्वेषां हृदये स्थितः।
नियन्ता सर्वकष्टानां कथं स दृश्यते वहिः ॥ ३७ ॥

जो सव के हृदय में स्थित होकर साक्षीरूप दृष्टिगोचर होता है एवं सव चेष्टाओं का नियामक है वह वहिर्जगत् में कैसे दृष्टिगोचर हो सकता है।

शरीरस्येन्द्रियाणाञ्च ह्यान्तरस्य च साक्षिणि ।
परमात्मनि विज्ञाते बन्धमोक्षभय नहि ॥ ३८ ॥

शरीर, इन्द्रिय और अन्तरात्मा के साक्षी परमात्मा के जान लेने पर बन्धन और मोक्ष का भय नहीं रह पाता।

महावाक्यावगम्यं यद्दर्शितं गुरुणापि च ।
नित्यं सच्चिद्रूपञ्च ब्रह्मतत्त्वं तदेव हि ॥ ३९ ॥

नान्यत्रान्वेषणीयं तत् यत् साक्षी सर्वकर्मसु ।
तिष्ठति प्राणिनां हृत्सु सर्वत्रान्तर्बहिर्हि तत् ॥ ४० ॥

"तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से जो जाना जाय तथा जो गुरु के द्वारा बतलाया जाय एवं जो नित्य सत् चित् स्वरूप हो वही ब्रह्मतत्त्व है।

जो सम्पूर्ण कर्मों का साक्षी है उसे अन्यत्र कहीं नहीं ढूंढना चाहिये। वह प्राणीमात्रके हृदय में स्थित है और वही सब जगह अन्दर एवं बाहर विद्यमान है।

कूटस्थश्चेतनापुञ्जो ज्योतिषाज्ज्योतिरेव च ।
परमात्मा च सर्वात्मा परब्रह्मेति कथ्यते ॥ ४१ ॥

कूटस्थ, चेतनापुञ्ज, ज्योतियों की ज्योति, परमात्मा और सर्वात्मा ही परब्रह्म है।

कर्तारं जगतामेकं वदन्ति बहुधा बुधाः ।
गौडोऽथवेश्वरश्चाल्लाः जिहोवा ब्रह्मनामकम् ॥ ४२ ॥

विद्वान् लोग जगत् के रचयिता एक ब्रह्म को ही गाड, (God) ईश्वर, अल्ला, जिहोवा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

देहान्तःकरणाभावात् परमात्मेति गीयते।
सान्तःकरण एवात्र जीवात्मेति निगद्यते ॥ ४३ ॥

यह देह और अन्तः करण के अभाव मे ही परमात्मा कहलाता है। अन्तःकरण से युक्त होकर ही यह जीवात्मा कहलाता है।

सामान्यचेतनस्त्वेको द्वित्वञ्चोपाधिभेदतः ।
त्यक्त्वोपाधिन्तु जानीयादेकतां ब्रह्मजीवयोः ॥ ४४ ॥

सामान्य चेतन एक ही है उपाधि भेद से द्वित्व दृष्टिगोचर होता है। अतः उपाधि को छोड़ कर ब्रह्म और जीव की एकता को समझे।

शुद्धस्फूर्तिर्भवेद्यत्र हृदये परमात्मनः ।
कथं माया कृता छाया शक्ता तच्छादितुं भवेत् ॥ ४५ ॥

जब हृदय में परमात्मा की शुद्ध स्फूर्ति हो जाती है तो उसे माया कृत आवरण कैसे ढकने में समर्थ हो सकता है।

आत्मज्ञान्यपि संसारे दृश्यते कर्मतत्परः।
कृत्वापि लोक कार्याणि कर्मसु नैव लिप्यते ॥ ४६ ॥

आत्म ज्ञानी भी संसार में कर्म करने में तत्पर दृष्टिगोचर होता है परन्तु वह सांसारिक कार्यों को करते हुए भी उन कर्मों से लिप्त नहीं होता।

शुद्धसत्त्वगुणोपेता या भवेन्मलिनापि च ।
कूटस्थाचेतनात्तस्यामाभासो जीव उच्यते ॥ ४७ ॥

जो सत्वगुण से सम्पन्न और मलीन भी हो कूटस्थ चेतन का उस में दृष्टिगोचर होने वाला आभास ही जीव है ।

ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो यः शुद्धे सत्त्वे प्रकाशते ।
जीवः सोऽविद्यया युक्तः स्वल्पज्ञश्च सवासनः ॥ ४८ ॥

शुद्ध सत्व में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है वही अविद्या और वासना से युक्त अल्पज्ञ जीव है ।

जीवस्य ब्रह्मणश्चैक्यं शक्त्या संदृश्यते यया ।
सा शक्तिः कथ्यते ज्ञानं ज्ञानी चाभेददर्शकः ॥ ४९ ॥

जीव और ब्रह्म की एकता जिस शक्ति से दृष्टिगोचर होती है वह शक्ति ही ज्ञान है और ज्ञानी में भेददृष्टि नहीं होती है ।

उच्चादुच्चतरा शक्तिः सम्भवेज्जगति ध्रुवम् ।
उत्पद्यते भयं यस्मादीश्वरः स प्रकीर्तितः ॥ ५० ॥

संसार में निश्चय ही जो सर्वोच्च शक्तिशाली सत्ता है तथा जिससे प्राणिमात्र के हृदय में भय की उत्पत्ति हो, वही ईश्वर कहलाता है ।

क्वचित्तेऽन्वेषणीयो न त्वय्यस्ति परमेश्वरः ।
अज्ञानान्नैव जानासि भेदोपाधिं परित्यज ॥ ५१ ॥

तुझे परमात्मा को कहीं नहीं ढूंढना है वह तुझ में ही विद्यमान है तू अज्ञान से उसे नहीं पहचान सकता है। अतः अज्ञानमूलक भेदबुद्धि का परित्याग कर।

अग्निः काष्ठे तिले तैलं यथेक्षौ विद्यते रसः ।
तथैव सर्वभूतेषु चेतनो व्यापको विभुः ॥ ५२ ॥

जैसे काष्ठ में अग्नि, तिलों में तेल और ईख में रस विद्यमान है वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों में चेतन ईश्वर व्याप्त है।

मानसं विषयासक्त्या मलिनं कुरु पावनम् ।
द्रक्ष्यसि हृदये स्वेष्टं स्वमुखं दर्पणे यथा ॥ ५३ ॥

विषया सक्ति से मलीन मन को पवित्र करके हृदय में अपने इष्टदेव का वैसे ही दर्शन करेगा जैसे दर्पण में अपने मुख को देखता है।

अतर्यामीति नाम्ना तु शुद्धात्मा कथितो बुधैः ।
तदाज्ञा सर्वथा मान्या द्रष्टासौ सर्वकर्मणाम् ॥ ५४ ॥

विज्ञ पुरुष शुद्धात्मा को ही अन्तर्यामी कहते हैं उसकी आज्ञा हर प्रकार से माननीय है वही सब कर्मों का द्रष्टा है।

बोधति शास्त्रभावं यो वेत्ति च विषयान्बहून् ।
तथाप्यात्मस्वरूपस्य विना ज्ञानं विमुह्यति ॥ ५५ ॥

जो शास्त्रों के भाव को जानता है और विषयों को भी बहुत जानता है फिर भी वह आत्मस्वरूप का बोध हुए विना मोह में पड़ जाता है।

दुःखं प्रणयपात्रस्य सोढुन्न प्रणयी क्षमः ।
अत आत्मातिरिक्तस्य प्रणयो दुःखदायकः ॥ ५६ ॥

प्रेमी अपने प्रेमपात्र का दुःख सहन करने में असमर्थ है। अतः आत्मा के अतिरिक्त किसी से प्रेम करना दुःख-दायक ही होगा।

हृदय मेक मेवास्ति द्वावेतो वोढुमक्षमम् ।
प्रीतिं हि दृश्यवस्तूना मथवा चान्तरिकां वहेत् ॥ ५७ ॥

हृदय एक ही है अतः वह या तो दृश्यवस्तु से प्रीति कर सकता है या आन्तरिकवस्तु से। दोनों से एक साथ प्रीति करने में असमर्थ है।

समाहितः सुजानीयादात्मान क्षेत्रमास्थित ।
विद्युच्छक्ति सम दीप्तं हृदन्तर्यामिनं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

एकाग्र चित्त होने से ही देह में स्थित, बिजली के समान कान्तिमान् हृदय के भीतर विहार करने वाले आत्मारूपी ईश्वर को भली प्रकार से जाने।

विज्ञानरूपमात्मान विना सत्यं न दृश्यते ।
समूहं वाह्यवस्तूना मसत्यं प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

विज्ञानरूप आत्मा के विना कुछ सत्य नहीं है बाह्य वस्तुओं का समूह मेरे लिये मिथ्या है।

चैतन्यं जीवशक्तिश्च पराप्रकृतिरेव च ।
सर्वे ह्येकार्थकाः सन्ति देवी च प्रकृतिः पुनः ॥ ६० ॥

चैतन्य, जीवशक्ति, पराप्रकृति, देवी और प्रकृति ये सब ए
ही अर्थ को प्रकट करते हैं।

संकल्पवृत्ति विस्तारो बन्धनं कथितं बुधैः।
निरोधश्चित्तवृत्तीनां मोक्ष इत्यभिधीयेते ॥ ६१ ॥

विज्ञ पुरुष संकल्पवृत्ति के विस्तार को बन्धन और चि
वृत्तियों के निरोध को मोक्ष कहते हैं।

वैरक्त्यात् पुनरभ्यासात् मनः संयममेष्यति ।
सयमान्मनस एव योगसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

वैराग्य और अभ्यास से मन संयत होता है और संयत म
से ही योगसिद्धि की प्राप्ति होती है।

गतं वाऽनागतं कश्चि न्नस्मरेच्चिन्तयेन्न च ।
मनः प्रासादनिर्माणं कारणं मनसोऽस्थितिः ॥ ६३ ॥

किसी को भी भूत अथवा भविष्यत् की चिन्ता एवं स्मृ
नहीं करनी चाहिये क्योंकि मन की अस्थिति अर्थात् चञ्चल
ही मन को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न का कारण है।

उच्चैस्तु प्रार्थ्यत आत्मा मनसाऽधोऽनुताप्यते ।
मनः संसार कार्यार्थे ह्यात्मा त्विच्छति दिव्यताम् ॥६

आत्मा उन्नत मुख होकर प्रार्थना करता है और म
अवाङ् मुख होकर पश्चाताप करता है। मन सांसारिक कार्य
का इच्छुक है और आत्मा दिव्यता का इच्छुक है।

ऊर्ध्वाननप्रविष्टेन दिव्यात्मा प्रार्थ्यते दिवि ।
दुर्मनास्तु नतास्यः सन् पश्चात्तापं करोति च ॥ ६५ ॥

मुख एवं हाथों को ऊंचा करके दिव्यात्मा आकाश में प्रार्थना करता है परन्तु दुष्टभाव युक्त मन नीचा मुख करके पश्चाताप करता है।

इच्छयोत्पद्यते क्रोधः क्रोधः शत्रुर्महानतः ।
इच्छायाः संक्षयादेव कुर्यात् क्रोधविनाशनम् ॥ ६६ ॥

इच्छा (की पूर्ति में होने वाले व्याघात के कारण) से ही क्रोध पैदा होता है। जो प्राणियों का महान् शत्रु है, इसलिये व्यर्थ इच्छाओं को विनष्ट कर क्रोध का नाश करें।

प्राप्तये लोकवस्तूनां इच्छा या सैव कामना ।
मुमुक्षोर्मोक्षप्राप्त्यर्थं लालसा नैव कामना ॥ ६७ ॥

लोक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये जो इच्छा होती है वही कामना है। मुमुक्षु की मोक्ष प्राप्ति के लिये जो लालसा है वह कामना नहीं है।

भावना मनसोऽस्माकं प्रयाति मूर्तरूपताम् ।
जीवोऽन्तसमये ध्यायन् योनिं तामेव गच्छति ॥ ६८ ॥

हमारे मन की भावना ही मूर्तरूप को धारण कर लेती है अतः अन्त समय में जीव जिसका ध्यान करता है उसी योनि को प्राप्त कर लेता है।

चित्तन्तु चयनादेव कर्मणामनेकजन्मनाम् ।
चित्तं क्षयं विना नैव वासनायाः क्षयो भवेत् ॥ ६९ ॥

अनेक जन्मों के कर्मों का चयन करने से ही इसे चित्त कहते हैं अतः चित्त के क्षय के विना वासना का क्षय नहीं होता।

चिन्तयत्येकतानेन यद्भावं यच्च साधनम् ।
तमेव निश्चयं प्राणी हृत्प्रवृत्त्याधिगच्छति ॥ ७० ॥

प्राणी एकचित्त होकर जिस विचार एवं साधन का चिन्तन करता है अपने हृदय की प्रवृत्ति के अनुसार उसे निश्चय ही प्राप्त कर लेता है।

जानीयादुत्तमं स्नानं मनोमालिन्यनाशनम् ।
तथैव कथ्यते शौच मिन्द्रियग्रामनिग्रहः ॥ ७१ ॥

मन की मलीनता का नाश करना ही उत्तम स्नान है वैसे इन्द्रियसमूह का निग्रह करना ही शौच है।

मनः स्थैर्यं विना किञ्चिद् दृश्यते न स्वरूपकम् ।
तस्मान्मनो वशे कृत्वा कर्तव्यं स्वात्मदर्शनम् ॥ ७२ ॥

मन की स्थिरता के विना कुछ भी स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता इसलिये मन को वश में करके आत्मदर्शन करना चाहिये।

यथा स्थिरजलेरूपं विकृतं दृश्यते जनैः ।
तथा चित्तस्य चाञ्चल्ये दुर्लभं स्वात्मदर्शनम् ॥ ७३ ॥

जैसे लोग अस्थिर जल में अपने प्रतिविम्ब को विकृत रूप में ही देखते हैं वैसे ही चित्त चञ्चल होने पर आत्म-दर्शन दुर्लभ है।

सद्ग्रन्थाध्ययनं कृत्वा तत्त्वज्ञानपुरस्सरम् ।
मनोवृत्तिं स्थिरां कुर्यात् स्थित्वैकाकी समाहितः ॥ ७४ ॥

इन्द्रियों को अपने आधीन किये हुए सद्ग्रन्थों का अध्ययन करके तत्त्वज्ञान के साथ २ मन की वृत्ति को स्थिर करे ।

आत्मन्येवैकतानेन चेतसो योजन भवेत् ।
कस्मिंश्चाप्यन्य कार्ये वा सा निष्ठा मनसः स्थितिः ॥७५॥

जब आत्मा में एवं किसी अन्य कार्य में मन पूर्णतया लग जावे ऐसी निष्ठा ही मन की स्थिरता कहलाती है ।

अन्यस्थानात्समाकृष्य ध्यानेन परमात्मनि ।
अभ्यासाद्योजयेन्नित्यं बुद्धिमानस्थिरम्मनः ॥ ७६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अस्थिर मन को अन्य स्थानों से खींच कर नित्य अभ्यास से ध्यान करता हुआ परमात्मा में लीन करे ।

पदार्थेष्विह सर्वेषु भावनं दोषदुःखयोः ।
प्रारम्भे साधकः कृत्वा स्वमनो वशतां नयेत् ॥ ७७ ॥

साधक प्रारम्भ में सम्पूर्ण पदार्थों को दोष एवं दुःख की भावना से देख कर अपने मन को वश में करे ।

सर्वत्र परमात्मानं भावयेन्मनसा तदा ।
यदा दम्यम्मन एतत् रोधने ह्यक्षमो भवेत् ॥ ७८ ॥

साधक इस अदम्य मन को जब रोकने में असमर्थ हो तब मन से ही सर्वत्र परमात्मा की भावना करे ।

निदिध्यासनयोगेन चित्तस्यैकाग्रता भवेत् ।
सूक्ष्मवस्तु ग्रहे शक्तिः तदुत्थातनुमानसा ॥ ७९ ॥

निदिध्यासन योग से चित्त एकाग्र होता है और इसी से सूक्ष्मवस्तु को ग्रहण करने वाली तनुमानसा नामक शक्ति उत्पन्न होती है।

बुद्धि स्थैर्यान्मनः स्थैर्यं स्थितिं यान्तीन्द्रियाण्यपि ।
तस्मादादौ तु बुद्धेर्हि स्थैर्या च चिन्तयेद् बुधः ॥ ८० ॥

बुद्धि की स्थिरता से ही मन स्थिर होकर इन्द्रियां स्थिर होती हैं। अतः सर्वप्रथम बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धि को स्थिर करने का प्रयत्न करे।

बुद्धियोगाच्चिदाकाशः स्निग्धोऽपूर्वः प्रकाशते ।
हृदि तद्दर्शनादेव नरोऽमृतत्वमश्नुते ॥ ८१ ॥

बुद्धियोग से ही अपूर्व प्रेम से पूर्ण होकर चिदाकाश चमकने लगता है। हृदय में उस प्रकाश का दर्शन करने से ही मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है।

स्वभावा नीचगा धारा वहति चेतसः सदा ।
सत्संगाच्चोपदेशाद्धि भजेदूर्ध्वगतिम्मनः ॥ ८२ ॥

मन की गति स्वभाव से ही सदा नीचे की ओर होती है, उत्तम सत्संग और उपदेश से ही मन ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है।

मनस्तु द्विमुखं ज्ञेयं नीचगञ्चोर्ध्वगन्तथा ।
निवृत्तिमुर्ध्वगं धत्ते प्रवृत्तिं नीचगन्तथा ॥ ८३ ॥

मन के निम्नगामी एवं ऊर्ध्वगामी ये दो मुख हैं, निवृत्ति का आश्रय लेने पर ऊर्ध्वगामी होता है तथा प्रवृत्ति का आश्रय लेने पर निम्नगामी होता है।

जलाधारे तरंगैर्हि रहिते मानवो यथा।
शक्नोति स्वमुखं द्रष्टुं शान्तचित्ते तथा हरिम् ॥८४॥

जैसे मनुष्य तरङ्गरहित जलाशय में ही अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखने में समर्थ होता है। वैसे ही शान्तचित्त में श्रीहरि का दर्शन होता है।

द्विस्वभावं मन एतद् बन्धमोक्षस्य कारणम्।
बहिर्मुखी तु बन्धस्य मोक्षस्यान्तर्मुखीति च ॥८५॥

यह दो स्वभावों से युक्त मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। बहिर्मुखी मन बन्धन का और अन्तर्मुखी मन मोक्ष का कारण होता है।

आत्मैष एकवृत्तिः स्या न्मनस्तु बहुवृत्तिकम्।
आत्मनो हृद्यधिष्ठानं तदात्मात्वमसि ध्रुवम् ॥८६॥

आत्मा एक वृत्ति से युक्त है और मन बहुत सी वृत्तियों से युक्त है आत्मा का अधिष्ठान हृदय है और यह निश्चय ही "तत्त्वमसि" का स्वरूप है।

शुभाशुभस्य कर्तार स्वात्मानन्तु भजेन्नरः।
आत्मैव सुप्रयत्नैश्च परमात्मेति कथ्यते ॥८७॥

शुभाशुभ कर्मों के विधायक अपने आत्मा को ही मनुष्य जाने। आत्मा ही उत्तम प्रयत्नों से परमात्मा कहलाता है।

दुःखजातं विपद्यापि न स्वोद्देश्यं त्यजेज्जनः ।
स एवात्मवली ख्यातः साधयेल्लक्ष्यमात्मनः ॥ ८८ ॥

सम्पूर्ण दुःखों को सहन करके भी जो मनुष्य अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ता है वही आत्मबली है और वह अपने लक्ष्य को पूर्ण करके ही रहता है।

सुदृढात्मवलेनैव जयति मानवोऽधिकम् ।
सन्दिग्धोऽनात्मविश्वासी स्वनाशं कुरुते ध्रुवम् ॥ ८९ ॥

दृढ़ आत्मवल से ही मनुष्य विजय पाता है। जो संशयालु एवं आत्मविश्वास से हीन होता है निश्चय ही वह आत्मनाश का हेतु वनता है।

अल्पकायोऽपि श्लोकोऽयं नाल्पो भावदृशा पुनः ।
सहस्रश्लोकसारन्तु मननेन ददात्ययम् ॥ ९० ॥

यह श्लोक छोटा होते हुए भी भाव की दृष्टि से छोटा नहीं है। मनन करने से अकेला ही हजार श्लोकों के समान सारवान् है।

नैवेश्वरः कदापि स्या दनात्मज्ञाय कामधुक् ।
लब्ध्वात्मवलसाहाय्यं नरो यातीश्वरार्थताम् ॥ ९१ ॥

ईश्वर आत्मज्ञान से रहित पुरुष का मनोरथ कभी पूर्ण नहीं करता, अतः आत्मज्ञान की सहायता प्राप्त कर मनुष्य ईश्वर से सफलता प्राप्त करता है।

आत्मसस्थं मनः कृत्वा चात्मानमर्पयेत्प्रभौ ।
सर्वेषां प्राणिनां यस्तु हृदयेषु विराजते ॥ ९२ ॥

मन को आत्मा के आधीन कर के अपने आपको प्रभु को समर्पित कर दे। जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में विराजमान है।

रागद्वेषविनिर्मुक्ते मनसो दर्पणे शुचौ ।
ज्योतिर्ज्योतिःस्वरूपस्य स्वयमाभासितं भवेत् ॥ ६३ ॥

राग द्वेष से रहित, पवित्र मन रूपी दर्पण में ज्योतिःपुञ्ज की ज्योति स्वयमेव प्रतिबिम्बित होती है।

रजसस्तमसो मार्गं चित्तञ्चेदनुधावति ।
पराग्वृत्तिस्तदा ज्ञेया प्रत्यग्वृत्तिस्तदन्यथा ॥ ६४ ॥

मन यदि रजोगुण और तमोगुण की ओर अग्रसर होता हो तो उसे मन की "पराग्वृत्ति" तथा इस से भिन्न सत्वगुण की ओर अग्रसर हो तो "प्रत्यग्वृत्ति" जानो।

मनः सङ्कल्पनिवृत्तिं विनात्मचिन्तन वृथा ।
मुक्तोऽपि चित्तसकल्पात् कर्मभिर्लिप्यते पुनः ॥ ६५ ॥

मानसिक संल्कप की निवृत्ति के बिना आत्मचिन्तन करना व्यर्थ है क्योंकि चित्त में संकल्प शेष रहने से मुक्ति प्राप्त पुरुष भी फिर कर्मों से लिप्त हो जाता है।

रजसा तमसा चैव सत्वं यत्राभि भूयते ।
सत्वं तन्मालिनं ज्ञेय मशुद्धमपि कथ्यते ॥ ६६ ॥

सत्वगुण जब रजोगुण और तमोगुण से आक्रान्त होता है तब वह सत्वगुण मलीन और अशुद्ध कहलाता है।

सर्वेन्द्रियाणि स्थूलानि गृह्णन्ति स्थूलभौतिकान् ।
सूक्ष्मरूपं न गृह्णन्ति तत्त्वज्ञानादृते कदा ॥ ६७ ॥

सभी स्थूल इन्द्रियां स्थूल भौतिक पदार्थों को ग्रहण करती हैं तत्त्वज्ञान हुए विना कभी सूक्ष्मरूप को ग्रहण नहीं करती हैं।

कोऽप्यन्तर्मुखतां प्राप्य बाह्यासक्तिन्न चेष्टते ।
वृत्तयश्चिन्तयन्ति वै गुह्यामन्तर्गतां स्थितिम् ॥ ९८ ॥

मन की अन्तर्मुखता को प्राप्त कर कोई भी बाह्यासक्ति की चेष्टा नहीं करता। चित्तवृत्तियां फिर स्वयं ही छिपी हुई आन्तरिक स्थिति का चिन्तन करती हैं।

कोऽस्म्यहं परमात्मा कः किञ्चान्तरं द्वयोरिति ।
समाधत्त इमान् प्रश्नानन्तर्दृष्टि स्वभावतः ॥ ९९ ॥

जब मन अन्तर्दृष्टि होता है तो वह स्वभाव से ही "मैं कौन हूँ" "परमात्मा कौन है" हम दोनों में क्या अन्तर है? इन प्रश्नों का समाधान करने लगता है।

न भवेच्चिन्मये चित्ते विषयाणां हि कल्पना ।
परमात्मनि संयुक्ते प्रपञ्चो नावशिष्यते ॥ १००॥

चिन्मय चित्त में सांसारिक विषयों की कल्पना का कोई स्थान नहीं है क्योंकि परमात्मा में संयुक्त मन में सांसारिक प्रपञ्च अवशिष्ट नहीं रहता है।

अविद्यायाः कथन्नाशो यावच्चित्तन्न चिन्मयम् ।
अभ्यासेना प्रमत्तेन चित्तं युञ्ज्यादतश्चिदि ॥ १०१ ॥

जब तक चित्त चिन्मय अर्थात् ईश्वर में लीन नहीं होता तब तक अविद्या का नाश कैसे सम्भव है अतः ध्यान पूर्वक अभ्यास करके निज को चित् में लीन करे।

भूमिमेवावलम्ब्यैव यथोत्तिष्ठति भूगतः ।

आबद्धो मनसा प्राणी तेनैवोत्थाप्यते पुनः ॥ १०२ ॥

जैसे पृथ्वी पर गिरा हुआ देही भूमि का आश्रय लेकर ही उठ खड़ा होता है वैसे ही मन से बन्धन को प्राप्त हुआ प्राणी मन से ही पुनः उन्नति कर सकता है।

आत्मनिष्ठा समुत्पाद्या त्यक्त्वा रागादिकिल्बिषान्।

यतोऽविक्षिप्तयोगोऽयं भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥ १०३ ॥

राग आदि सम्पूर्ण पापों को छोड़कर आत्मनिष्ठा को उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि यह भुक्ति और मुक्ति को प्रदान करने वाला अविक्षिप्त योग है।

रिक्त स्थानं भरत्येव प्रतिद्वन्द्वी स्वयं सदा ।

रिक्तं कुर्यादतो नैव हृदयं सुविचारतः ॥ १०४ ॥

प्रतिद्वन्द्वी रिक्त स्थान को स्वयं ही पूर्ण कर देता है। अतः सदैव उत्तम विचारों से हृदय को रिक्त न करें।

प्रदेशः कोऽपि संसारे रिक्तो न स्यादयं विधिः ।

रिच्यते केनचिच्चेत्सः केनाप्यन्येन पूर्यते ॥ १०५ ॥

कोई स्थान कभी खाली नहीं रहता यह स्वाभाविक नियम है। यदि कोई स्थान खाली होता है तो उसकी पूर्ति किसी दूसरे के द्वारा तुरन्त हो जाती है।

संसारो भ्रममूलोऽस्ति नास्त्यत्र नैत्यिकी स्थितिः ।

भ्रमस्तु नश्यति ज्ञानाद् ज्ञानेन शाश्वती स्थितिः ॥१०६॥

भ्रान्ति नाशान्नरस्यात्र क्लान्तिनाशो भविष्यति ।

स्वशक्तौ स्वस्थितौ सर्वे भ्रमं वाञ्छन्ति नित्यशः ॥१०७॥

यह संसार भ्रमरूपी मूल पर टीका हुआ है यहां निरन्तर रहना नहीं हो सकता, ज्ञान से भ्रम का नाश होता है। अतः ज्ञान से ही सदा के लिये स्थिति होती है भ्रम का नाश होने पर संसार में मनुष्य की क्रान्ति का नाश हो जायगा अर्थात् उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जायगा। अतः अपनी शक्ति एवं स्थिति में सभी निरन्तर भ्रम की कामना करते हैं।

विकासगुणवाञ्जीवः पितृदेहे सुपालितः ।
मातृगर्भे समायाति तत्र वृद्धः प्रसूयते ॥ १०८ ॥

विकास गुण वाला जीव पिता के शरीर में अच्छी तरह पालित हुआ माता के गर्भ में आता है और वहां वृद्धि को प्राप्त हो जन्म लेता है।

जीवात्मानादिकालाद्धि स्वप्रकृत्यैव वर्तते ।
सर्वकारणदेहेषु साम्यस्थित्यैव तिष्ठति ॥ १०९ ॥

जीवात्मा अनादि काल से अपनी प्रकृति के अनुसार ही वर्ताव करता है और सभी कारण देहों में साम्यस्थिति से निवास करता है।

क्षणे क्षणे हि देहेऽस्मिन् निश्चितं परिवर्तनम् ।
जायते तेन यल्लोके स्थायी किञ्चिन्न सम्भवेत् ॥ ११० ॥

इस देह में प्रति क्षण निश्चित रूप से परिवर्तन होता रहता है। उस से संसार में जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह स्थायी नहीं हो सकता है।

भवेत्प्रवृत्तिरज्ञानात् प्रवृत्तेः कर्म सम्भवेत् ।
कर्मणो जायते जन्म जन्मदुःखस्य कारणम् ॥ १११ ॥

अज्ञान से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से कर्म होता है, कर्म से जन्म होता है और जन्म ही दुःख का कारण है।

साधनं कर्ममात्रन्तु जीवमात्रस्तु साधकः।
प्रकृतिर्गुरुरेवास्ति पुरुषस्त्विष्टलक्ष्यकम् ॥ ११२ ॥

कर्म मात्र साधन एवं जीव मात्र साधक हैं, माया ही गुरु एवं ब्रह्म इष्टलक्ष्य है।

घटोयश्च पटोवेति भेदपूर्णविचारतः।
इदम्भावस्य वैशिष्टयात् सैव मायेति चोच्यते ॥ ११३॥

यह घट है यह पट है इस प्रकार भेद पूर्ण विचार से 'इदम्भाव का जो वैशिष्ट्य' है वही माया है।

मलिनाऽशुद्धसत्त्वा या सैवाविद्यापि कथ्यते।
प्रकृतिरपरा चापि जीवस्याधारभूमिका ॥ ११४॥

जो मलीन और अशुद्ध सत्वा है वही माया कहलाती है उसे अपराप्रकृति और जीव की आधारभूमिका भी कहते हैं।

शुद्धसत्त्वगुणोपेता माया या ज्ञानरूपिणी।
स्वप्रकाशात् भवेत्साहि न भवेच्चावृता कदा ॥ ११५ ॥

जो माया शुद्ध सत्वगुण से युक्त एवं ज्ञानरूप है वह अपने प्रकाश से ही प्रकाशित होती है और कभी आवृत नहीं होती है।

मलिना शुद्धसत्त्वा च माया तु भवति द्विधा।
तेजसो ब्रह्मणश्छाया व्यापकस्यापतत्तयोः ॥ ११६ ॥

मलीन और शुद्ध सत्वा इस भाँति माया दो प्रकार की है उन दोनों में व्यापक ब्रह्म के तेज की छाया गिरी हुई है।

ममत्वाहम्पदन्त्यक्त्वा कृतो निष्काममभावतः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योश्च साम्येन बुद्धियोगः प्रकीर्त्तितः ॥११७॥

ममत्व एवं अहम्पद को छोड़ कर सफलता और असफलता को समान समझते हुए निष्कामभाव से किया हुआ काम ही बुद्धियोग कहलाता है।

अहम्मम च लोकेऽस्मि न्नज्ञानसूचकं वचः ।
तथैव त्वं त्वदीयश्च कथनं ज्ञानसूचकम् ॥ ११८ ॥

इस संसार में "मैं हूं" और "मेरा है" कहना ही अज्ञान सूचक है वैसे ही "तू है" और "तेरा है" कहना ही ज्ञानसूचक है अर्थात् मेरा कुछ नहीं सब तेरा (ईश्वर का) ही है।

अहं बुद्धेस्तु निवृत्या निर्विकल्पोदयो भवेत् ।
अतः समाधिलाभाया हम्मतेर्नाशनं वरम् ॥ ११६ ॥

"मैं हूँ" इस बुद्धि की निवृत्ति अर्थात् परित्याग करने से ही निर्विकल्प ज्ञान प्रकट होता है। अतः समाधिलाभ के लिये "अहम्" बुद्धि का परित्याग श्रेष्ठ है।

स्वात्मज्ञानं न वक्तव्यं पुंसाध्यात्मरतेन वै ।
भवन्तीष्टाः प्रकाशेन श्लाघाहङ्कारमान्यता ॥ १२० ॥

अध्यात्मज्ञान में तत्पर पुरुष को कभी अपने आत्मज्ञान को प्रकाशित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बड़ाई और अहङ्कार की भावना प्रिय होकर अपना घर कर लेती है।

अहंकारं विना नास्ति रागद्वेषस्य भावना ।
अहङ्कारस्त्ववज्ञैर्वा न्येषु स्वीयोच्चभावतः ॥ १२१ ॥

अहङ्कार बिना राग और द्वेष की भावनाओं का अस्तित्व ही नहीं है, अपने आपको उच्च मानते हुए दूसरों को हेय दृष्टि से देखना ही अहंकार है। जो हमारे 'अहम्' का आदर करेगा वह प्रिय, जो अहम् को प्रश्रय नहीं देगा हमें लम्बी नहीं हांकने देगा वहीं द्वेष्य, इसी प्रकार से 'अहम्' रागद्वेष का जनक है।

ज्ञानसाधनकाले तु विमर्शो मन उच्यते।
देहेऽहमिति संज्ञाने त्वहंकारोऽभिधीयते ॥ १२२ ॥

ज्ञानसाधना करते समय मन को विमर्श कहते हैं और इस देह में अहम्बुद्धि का होना ही अहङ्कार है।

प्रवृत्तावभिमानस्तु रक्षणीय सदा नरैः।
निवृत्तावभिमानस्तु ध्रुवन्त्याज्यो मुमुक्षुणा ॥ १२३ ॥

मनुष्यों को प्रवृत्तिमार्ग में सदैव अभिमान रखना चाहिये परन्तु मुमुक्षु को निवृत्तिमार्ग में अभिमान का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

अहङ्कारविनाशेन हृद्ग्रन्थिरेप भिद्यते।
छिद्यन्ते संशयाश्चापि याति चात्मैक्यभावनाम् ॥१२४॥

अहङ्कार का विनाश होने से ही यह हृदयग्रन्थि अर्थात् मन की गांठ खुलती है और इसके बाद ही संशयों का नाश होकर आत्मैक्य भावना का जन्म होता है।

एक एव चिदात्मा तु सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
अहङ्कारेण भिन्नोऽयं दृश्यते हि पृथक् पृथक् ॥ १२५ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही चिदात्मा है परन्तु यह अहङ्कार से भिन्न २ दृष्टिगोचर होता है।

अहङ्कारं परित्यज्य साम्यभावं व्रजेन्नरः ।
समानेनैव सार्धन्तु सख्यं भवति निश्चितम् ॥ १२६ ॥

अहङ्कार को छोड़ कर ही मनुष्य साम्यभाव को प्राप्त होता है और समान के साथ ही निश्चित रूप से मित्रता होती है।

कामं प्रचण्डवृत्तिः स्या द्देवो वा पुरुषोऽपि वा ।
निरहङ्कारसम्पर्कात् स्वाहङ्कारं त्यजेद् ध्रुवम् ॥ १२७ ॥

देवता या मनुष्य कितना ही प्रचण्डवृत्ति क्यों न हो अहङ्कारविहीन के सम्पर्क में आकर अपने अहङ्कार को निश्चय ही छोड़ देगा।

प्रसीदत्येव सर्वेशो मानवोऽप्यत्र निश्चितम् ।
त्यज्यते चेदहंकार 'नादर्शे वष्टिकङ्कणम्' ॥ १२८ ॥

अहङ्कार छोड़ देने पर सर्वेश्वर और मानव दोनों ही प्रसन्न हो जाते हैं यह निश्चित है। हस्तकङ्कण को दर्पण में देखने की आकांक्षा नहीं होती है।

आत्मार्चनं विना नैव प्रार्थना सफला कदा।
अहंकारं परित्यज्य वर्तनं स्वात्मपूजनम् ॥ १२९ ॥

आत्मपूजा के विना कभी प्रार्थना सफल नहीं होती है। अहङ्कार को छोड़ कर रहना ही स्वात्मपूजन है।

सर्वथाऽहंकृतिस्त्याज्या साधकैश्चोपदेशकैः।
सर्वत्र सर्वशास्त्रेषु मुक्तकण्ठं हि घोषितम् ॥ १३० ॥

सभी शास्त्रों में मुक्तकण्ठ होकर यही घोषणा की गई है कि साधकों और उपदेशकों को अहङ्कार का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधौ तथा लोभो मोहस्तेषां चतुर्थकः ।
प्राणिनां हृद्गता दोषा दमिताश्चेत् सुखावहाः ॥१३१॥

भवन्ति सहजा एतेऽहङ्कारस्तु स्वरूपभाक् ।
विनामोक्षन्न ते त्याज्याः शोधनीयाः प्रयत्नतः ॥१३२॥

काम, क्रोध, लोभ एवं मोह ये चार, प्राणियों के हृदय में रहने वाले दोष हैं, इनका दमन करने से सुख की प्राप्ति होती है।

ये चारों दोष जन्म से ही साथ रहते हैं परन्तु अहङ्कार तो स्वरूप का ही नाम है मोक्ष हुए विना इनका साथ नहीं छोड़ा जा सकता है। अतः प्रयत्नपूर्वक इनका शोधन करना चाहिये।

अन्तर्विकल्पशून्यो यः स्वच्छन्दो भ्रान्तवच्चरेत् ।
तत्तादृग्ज्ञानिनोऽवस्थां जानाति तत्समो बुधः ॥ १३३ ॥

जो आन्तरिक विकल्प से रहित होकर स्वच्छन्द एवं भ्रान्त की भाँति घूमता है ज्ञानी की इस प्रकार की अवस्था को उसके समान योग्य विद्वान् ही समझ सकता है।

सुखदुःखे सदा ज्ञानी लाभालाभौ न शोचति ।
शीतलो धीरचेतास्तु सन्तापरहितः समः ॥ १३४ ॥

ज्ञानी पुरुष सुख, दुःख, हानि, लाभ की चिन्ता नहीं करता वह तो शान्त एवं गम्भीर प्रकृति से सन्ताप रहित होकर सब को बराबर मानता है।

ईशमेकं हि मन्यन्ते निराकारमजं विभुम् ।
ईश्वरान्यान्नमन्यन्ते देवान्नरविनिर्मितान् ॥ १३५ ॥

ज्ञानी पुरुष निराकार, अजन्मा एवं सर्वत्र व्याप्त एक मात्र ईश्वर को ही मानते हैं। मनुष्य की बनाई हुई मूर्ति को जो ईश्वर से भिन्न हैं नहीं मानते।

शमदमौतितिक्षोप रतिःश्रद्धासमाधयः ।
षट्सम्पत्तिरिति प्रोक्ता ज्ञानिनां मुक्तिसाधने ॥ १३६ ॥

ज्ञानी पुरुषों के लिये मुक्ति की साधना में शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधि, ये छैः सम्पत्तियां आवश्यक हैं।

विवेकश्चापि वैराग्यं षट्सम्पत्तिर्मुमुक्षता ।
ज्ञानयोगस्य मुक्तौ तु चत्वारि साधनानि वै ॥ १३७ ॥

विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षता, ये चार साधन निश्चय ही ज्ञानयोगी की मुक्ति में कारण हैं।

ज्ञानिनो नहि गच्छन्ति प्राणाः लोकान्तरेष्वपि ।
स्थूल देहस्य नाशान्ते ज्ञानी सद्यो विमुच्यते ॥१३८॥

ज्ञानी पुरुष के प्राण लोकान्तर में भी नहीं जाते हैं। स्थूल देह का नाश होने पर ज्ञानी सद्योमुक्ति को प्राप्त करता है।

ज्ञानिनः सहजावस्था समाधिरिव मन्यते ।
ज्ञानी तु नित्यदृष्टित्वात् मायायत्तो भवेन्न हि ॥१३९॥

ज्ञानी की सहजावस्था ही समाधि के समान है क्योंकि ज्ञानी नित्यदृष्टि होने से माया के वशी भूत नहीं होता है।

ज्ञानी चलन् वदन् खादन् पिपर्ति स्वस्यसाधनम् ।
अभ्यासाय परं योगी सापेक्ष आसनादिषु ॥ १४० ॥

ज्ञानी चलते, बोलते, खाते हुए भी अपना साधन पूर्ण कर लेता है परन्तु योगी अभ्यास के लिये आसन आदि की अपेक्षा रखता है।

सितामास्वादते भक्तो ज्ञानीच्छति सिताकृतिम् ।
भक्तस्त्वेति शनैर्मुक्तिं ज्ञानी सद्यो विमुच्यते ॥ १४१ ॥

भक्त मिश्री का स्वाद लेता है और ज्ञानी उसे बनाना चाहता है। अतः भक्त शनैः २ मुक्ति प्राप्त करता है परन्तु ज्ञानी सद्यो-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

व्युत्थानं वा समाधिर्वा ज्ञानिनोऽपेक्ष्यते न हि ।
योगी पुनः समाध्यन्ते मायाया वशगो भवेत् ॥ १४२ ॥

ज्ञानी को व्युत्थान अथवा समाधि की आवश्यकता नहीं है परन्तु योगी तो फिर समाधि के अन्त में माया के आधीन हो जाता है।

यथावायुर्हिमेघाना मावरणं क्षिप्यति पृथक् ।
निष्कामभक्तियोगोऽपि तथोपाधीन् स्वभावतः ॥१४३॥

जैसे वायु मेघों के आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है वैसे ही निष्काम भक्तियोग भी उपाधियों को स्वभाव से ही छिन्न भिन्न कर देता है।

निष्कामभक्तियोगेन सच्चिदानन्दब्रह्मणः ।
सहजा हृद्यभिव्यक्तिं भवेदावृत्तिनाशिका ॥ १४४ ॥

निष्काम भक्तियोग से हृदय में सच्चिदानन्द ब्रह्म की (आवृत्ति का नाश करने वाली) स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है।

आत्मानन्दस्य धारेयं कुत्राप्युत्पद्यतेऽयशा ।
न चैति साधनैर्वृद्धिं हीयते न विसाधनैः ॥ १४५ ॥

आत्मानन्द की यह धारा कहीं भी विवश होकर उत्पन्न हो जाती है। न यह विविध साधनों से बढ़ती है और न साधनाभाव में घटती ही है।

अविद्याग्रन्थिभेदस्तु यावन्नैव भवेदिह ।
तावद्योगी मुमुक्षुर्वा जन्मादेर्भोगमेष्यति ॥ १४६ ॥

इस संसार में जब तक अज्ञानरूपी ग्रन्थि का भेदन नहीं होता है तब तक योगी हो या मुमुक्षु जन्म मरण आदि के भोग भोगने ही पड़ेंगे।

यज्ञो दानं तपः कर्म चेतसः शुद्धि हेतवे ।
साधनं भगवत्प्राप्ते स्त्वनासक्तिश्च कर्मसु ॥ १४७ ॥

मन की शुद्धि के लिये यज्ञ, दान, तपस्या आदि शुभ कर्म किये जाते हैं परन्तु भगवत्प्राप्ति का साधन तो कर्मों में अनासक्ति ही है।

शुद्धाभ्यां ज्ञानकर्माभ्यां लोकः प्राप्नोति सद्गतिम् ।
उभाभ्यां खे यथा पक्षी पक्षाभ्यामुद्गतो भवेत् ॥१४८॥

शुद्ध ज्ञान एवं कर्म से ही मनुष्य सद्गति (ऊर्ध्वगति) को प्राप्त करता है। जैसे दोनों पंखों से ही पक्षी आकाश में ऊंचा उड़ सकता है।

नैव निन्दति वा स्तौति भाग्यप्राप्तं भुनक्ति च ।
सुखदुःखे समे ज्ञात्वा निष्कामः शान्तिमाप्नुयात् ॥१४९॥

निष्काम पुरुष सुख दुःख को बराबर मानकर शान्ति को प्राप्त करता है वह भाग्य से प्राप्त सुख दुःख को प्रेम से भोगता है कभी उनकी निन्दा स्तुति नहीं करता है।

स्वोद्देश्यपूर्त्तयेनैव न लाभाय फलाय न ।
कुरुते कर्ममात्रञ्चेत् कर्मसम्पादनाय वै ॥ १५० ॥

यदि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये या लाभ के लिये या फल के लिये कर्म न करके केवल काम करने के लिये ही काम किया जाय तो—

निष्कामकर्मभावोऽयमादृतो यः सुहृद्वरैः ।
संसारार्णवदुःखानां मूलोन्मूलकमोक्षदः ॥ १५१ ॥

यही निष्कामकर्मभाव सज्जन पुरुषों से आदर पाने योग्य होकर भवसागर के दुःखों का मूलोच्छेदन कर मुक्ति को प्रदान करता है।

गुणवृत्याद्यवच्छिन्नं ब्रह्मदर्शनरोधकम् ।
संसारासक्तिदम्मोहं त्यक्त्वैव संसृतिन्तरेत् ॥ १५२ ॥

गुणवृत्ति आदि से भिन्न, ब्रह्मदर्शन में रोड़ा अटकाने वाले, संसार में आसक्ति उत्पन्न करने वाले मोह को छोड़कर ही संसार समुद्र को पार करे।

दृश्यमानस्तु संसारः संसृष्टो नामरूपतः ।
जीवोऽपि नामरूपाभ्यां बद्धो भवति नान्यथा ॥ १५३॥

यह दृश्यमान संसार नामरूप से ही आवृत्त, घुला मिला या रचित है वैसे ही जीव भी नामरूप से आवृत्त होकर बन्धन को प्राप्त होता है और नामरूप से मुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त होता है।

कामनया कृतं कर्म कारणं बन्धनस्य हि ।
परन्तु यज्ञकर्त्तव्यं नैव स्याद् बन्धकारणम् ॥ १५४ ॥

कामना से किया हुआ प्रत्येक कार्य वन्धन का कारण होता है परन्तु यज्ञादि कार्य वन्धन का कारण नहीं होता।

हार्दिके नैव भावेन वध्यते कर्मकृज्जनः।
तेनैव मुच्यते चापि यथा शल्यचिकित्सकः ॥ १५५ ॥

चीर फाड़ करने वाले डाक्टर की भाँति काम करने वाला पुरुष हार्दिक भाव से ही वन्धन और मोक्ष पाता है *।

प्रयत्नो जीवमात्रस्य दुःखनिवृत्तिहेतवे।
परन्त्वत्यन्तसौख्याप्ति र्नरदेहात् प्रजायते ॥ १५६ ॥

दुःख निवृत्ति के लिये जीव मात्र का प्रयत्न है परन्तु अत्यन्त सुख की प्राप्ति मनुष्य देह के विना नहीं होती है।

आत्यन्तिकं सुखं ज्ञेयं वुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
जानीयादिन्द्रियग्राह्यं सुखं संसारभोगजम् ॥ १५७ ॥

आत्यन्तिक सुख (मोक्ष) का ग्रहण वुद्धि से ही हो सकता है इन्द्रियों से नहीं, इन्द्रियों से केवल सांसारिक सुख का ही ग्रहण हो सकता है, ऐसा जानो।

कर्तव्यपालनं तोषः कृतौ भक्त्या सुखार्थिभिः।
शान्तये मुक्तये चैव पर्याप्तावत्र सर्वथा ॥ १५८॥

सुखेच्छु के द्वारा यहाँ भक्तिपूर्वक कर्तव्य पालन और सन्तोष धारण करना ये दोनों कर्म ही सव प्रकार से शान्ति और मुक्ति के लिये पर्याप्त हैं।

---

* यों तो चीरफाड ऐसा काम है जिसे करनेवाले को दण्ड मिलना चाहिये परन्तु डाक्टर को इससे आदर ही मिलता है इस में प्रमुख कारण उसका शुद्ध हार्दिक भाव ही है।

निष्कामभावतः सुष्ठु क्रियते कर्मणां गतिः ।
सा स्याद् दैहिका सिद्धिः दुस्साध्या प्रायशो जनैः ॥

निष्काम भाव से जो निरन्तर सुन्दर काम किये ज
वह ऐहलौकिक सिद्धि है जो प्राय: मनुष्यों से दुःसाध्य है

नाहं प्रभुर्नमे किञ्चित् नैव किञ्चित् करोम्यहम् ।
एवं ज्ञानोदयाज्जीवः कर्मभिर्नैव लिप्यते ॥ १६० ॥

जीव में "मैं स्वामी नहीं हूं" "मेरा कुछ नहीं है" और
कुछ नहीं कर रहा हूं" इस प्रकार का ज्ञान उदय होने पर
कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

कर्मणां करणादेव लोकयात्रा भविष्यति ।
कर्मणाञ्च फलत्यागात् चिन्तानाशं समेष्यति ॥ १

कर्म करने से ही लोकयात्रा होगी और कर्मों का
त्याग देने से चिन्ता का नाश होगा ।

जीवन्मुक्तिरुपादेया न हेया जीवनक्रियाः ।
दोषाऽऽसक्तेस्तु यस्त्यागः स त्यागो वस्तुतो मतः ॥

जीवन की क्रिया को न छोड़ कर जीवन्मुक्ति को अप
चाहिये । दोषों में आसक्ति का जो त्याग है वही सच्चा त्याग

जन्मिनां हि ध्रुवो मृत्युः सर्वे पश्यन्ति नित्यशः ।
कुत्र केन प्रकारेण स भवेदिति खिद्यते ॥१६३॥

जन्म लेने वालों की अवश्यमेव मृत्यु होती है । य
प्रति दिन देखते हैं परन्तु वह कहां और किस प्रकार
इसलिये दुःखी होना पड़ता है ।

सुखस्यावज्ञयैवात्र मानवः सुखमश्नुते ।
सुखस्य कारणं दुःखं दुःखस्य कारणं सुखम् ॥१६४॥

सुख की अवज्ञा करके ही मनुष्य इस दुनियां में सुख भोगा करता है यहां सुख का कारण दुःख तथा दुःख का कारण सुख है * ।

ज्ञातव्यं विदुपा दुःख मापन्नं सुखमेव हि ।
मनसो भावना ह्येव भेदिका सुखदुःखयोः ॥ १६५ ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिये कि जो दुःख आपड़े उसे सुख ही माने क्योंकि सुख और दुःख में भेद करने वाली मन की भावना ही है ।

न सुखं सुखमेवास्ति न दुःखं दुःखमेव च ।
साम्यावस्था सुरक्षायै चक्रोऽयं वर्तते सदा ॥ १६६ ॥

वास्तव में सुख न सुख ही है और न दुःख दुःख ही यह चक्र तो सदा साम्यावस्था की सुरक्षा के लिये घूमता रहता है ।

---

* यह एक विलक्षण सी या लोकविरूद्ध बात है, पर है बिल्कुल यथार्थ, 'मैं सुखी होऊं' यह एक इच्छा है, इसकी पूर्ति के लिए स्वरूपानुकूल प्रयास मनुष्य को करने होते हैं । आपाततः उन प्रयासों का फल रमणीय होते हुए भी दुःखद होता है, आंशिक सुख की तथाकथित प्राप्ति होने पर मनुष्य दूसरे पूर्ण सुख की कामना करता है, इस प्रकार तृष्णा का विस्तार होता है और मनुष्य चिन्तादि दुःख अधिकाधिक भोगता है, यदि सुखों से सुखकर पदार्थों से—मनुष्य विरक्त हो जाता है तो सन्तोषामृत का पान कर यथार्थ सुख लाभ करता है । अतः सच्चा सुख निवृत्ति में है प्रवृत्ति में नहीं ।

नश्यति विद्ययाऽविद्या मन्यन्ते इति शाङ्कराः ।
तान्त्रिकप्रक्रियायान्तु विमर्शो हि द्विधोन्यते ॥१६७॥

विद्या से अविद्या अर्थात् माया नष्ट हो जाती है ऐसा जगद् गुरु शंकराचार्य के मतानुयायी मानते हैं परन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया में विमर्श (संसार) ही दो प्रकार का है।

रात्रावेकान्तशायी यो यथा स्वप्नमनेकधा ।
दृष्ट्वापि जागरूकः सन् किञ्चित्तत्र न पश्यति ॥१६८॥
तथाऽवाच्यं च मिथ्येद स्वप्नवदृश्यते जगत् ।
त्रिकालेचाऽनुमानेऽपि न नाशो यस्य तद्धि सत् ॥१६९॥

जैसे एकान्त में शयन करने वाला रात्रि में अनेक प्रकार के स्वप्न देख कर भी जागने पर वहां कुछ नहीं देखता है वैसे ही यह जगत् स्वप्न की भांति दीखता है वास्तव में अवाच्य एवं मिथ्या है जिसका तीनों कालों एवं अनुमान में भी नाश न हो वही सत् है।

स्वात्मन्येव स्थिता शान्ति मूढैरन्विष्यते बहिः ।
शान्तं स्वमानसं कृत्वा शान्तिं लोकोऽधिगच्छति। १७०॥

शान्ति अपनी आत्मा में ही है मूर्ख उसे बाहर खोजते फिरते हैं अपने मन को शान्त करके ही मनुष्य शान्ति लाभ कर सकता है।

मूढो वाञ्छति सारूप्यं ब्रह्मणो योगकर्मणा ।
ततो नाप्नोति सारूप्यं धीरोऽनिच्छन् हि प्राप्तयान् ॥१७१॥

मूर्ख पुरुष योगकर्म से ब्रह्म का सारूप्य प्राप्त करना चाहता है परन्तु उससे सारूप्य नहीं प्राप्त होता। धीर पुरुष न चाहते हुए भी सारूप्य को प्राप्त कर लेता है।

अनासक्तस्य पुंसस्तु स्पृहाविगलिता भवेत् ।
भवन्ति न प्रियास्तस्य धनमित्रकुटुम्बिनः ॥ १७२ ॥

आसक्तिरहित पुरुष की इच्छा नष्ट हो जाती है उसे धन मित्र और कुटुम्वी प्रिय नहीं लगते ।

अकिञ्चनं धनं येषां दुःखन्तेषां भवेन्नु किम् ।
विहाय सर्वथासक्ति मिहैव मुक्तिमाप्नुयात् ॥ १७३ ॥

जो धन को अकिञ्चन समझते हैं उन्हें कुछ दुःख नहीं होता है इसलिये आसक्ति को सर्वथा त्याग कर यहीं मुक्ति को प्राप्त करे ।

सत्वापत्तिसमारूढो जीवन्मुक्तोऽभिधीयते ।
देहाभिमानसंन्यासाद् विदेहः कथ्यते बुधैः ॥ १७४ ॥

विज्ञजन सत्व गुण की प्राप्ति में तत्पर को जीवन्मुक्त एवं देहाभिमान से शून्य को विदेह कहते हैं ।

ज्ञानाभिमान सम्मूढा तत्वज्ञानविवर्जिता ।
आवर्णे वञ्चने दत्ता न दत्ता ज्ञानसंग्रहे ॥ १७५ ॥

ज्ञान के वृथा अभिमान से भ्रान्त, तत्त्वज्ञान से रहित एवं घात करने और ठगने में चतुर मनुष्य ज्ञानसंग्रह में चतुर नहीं हो सकते हैं ।

नानाविधानि कार्याणि कुर्वन्ति भ्रमिता जनाः ।
केवलं जीवितुं लोके किञ्चिन्न परमार्थतः ॥ १७६ ॥

भ्रान्त पुरुष केवल जीने के लिये ही नाना प्रकार के कार्य करते रहते हैं । परमार्थ की दृष्टि से कुछ भी नहीं करते ।

सत्यं जानात्यसत्यं यो भ्रमति चान्धवद्भुवि ।
ज्ञान्यहमिति जानाति मूढोऽपि संशयात्मकः ॥१७७॥

जो संशयात्मा सत्य को असत्य जान कर अन्धे की भांति पृथ्वी पर घूमता है वह मूर्ख होते हुए भी मैं ज्ञानी हूँ ऐसा समझने लगता है।

भ्रामितश्चाटुवाक्यैर्हि वाग्भिराकर्षकैश्चितः ।
स्वल्पज्ञानो यथा बालो वितथं मन्यते हि सत् ॥१७८॥

जैसे अल्पज्ञ बालक चाटुकारिता एवं प्रलोभन के वचनों से भ्रान्त होकर झूठ को भी सच मान लेता है।

सत्वाधिक्यान्मनुष्यत्वे कर्तव्यो मानवेन वै ।
आसुरी सम्पदो नाशः सग्रहो दिव्यसम्पदः ॥१७९॥

मनुष्य को अपने में सत्व गुण की वृद्धि से आसुरी सम्पत्ति का नाश कर दिव्यसम्पत्ति का संग्रह करना चाहिये।

सर्वेषां साधको यस्तु स्वयं सिद्धः प्रकाशते ।
नाकाङ्क्षति जडी सिद्धिं मुक्तो मुक्तिश्च नेच्छति ॥१८०॥

जो सब का साधक है और स्वयं सिद्ध होकर देदीप्यमान हो जाता है वह जड़सिद्धि की कामना नहीं करता और न मुक्त होने पर मुक्ति की ही कामना करता है।

समीपे यस्य यन्नास्ति स करोति तदर्जनम् ।
ब्रह्मण्यहं मयि ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्वेषणं भ्रमः ॥ १८१ ॥

जिसके पास जो वस्तु न हो उसको उसे उपार्जन करना पड़ता है। मैं ब्रह्म में हूँ ब्रह्म मुझ में है फिर ब्रह्म को खोजना भ्रम ही तो है।

सत्ये सत्यपि लोकस्य यदा हानिर्विजायते ।
तत्सत्यं च्यवते स्वस्मात् सत्यं सत्यं हितञ्च यत् ॥१८२॥

सत्य होने पर (सत्य वात कहने पर) भी जब संसार की हानि हो तो वह सत्य अपने स्थान से गिर जाता है सत्य वही सत्य है जो हितकारक हो।

स्वज्ञातश्रुतदृष्टानां याथातथ्येन भाषणम् ।
परस्मै वचन भ्रान्ति वैयर्थ्यरहितं हि सत् ॥ १८३ ॥

अपने द्वारा जैसा जाना सुना व देखा गया हो उसे ठीक वैसे ही कहना और जिसमें दूसरों के लिये भ्रम उत्पन्न करने वाले व्यर्थ वाक्य न हों उसे सत्य कहते हैं।

चक्षुर्भ्यां दृश्यते नैव वन्ध्यापुत्रादिवद् भुवि ।
तदसद्वत् परं लोके दृष्टं यद्वा श्रुतं हि सत् ॥ १८४ ॥

जो वन्ध्यापुत्र की भांति भूमि पर आंखों से न देखा जा सके वही असत् है और जो संसार में देखा वा सुना जा सके वही सत् है।

आत्मन ऐक्यभावत्वात् सर्वेषां प्राणिनां सदा ।
कल्याणं स्वसुखं विद्याद् दुःखञ्चापि स्वदुःखवत् ॥१८५॥
धृत्वैवं हृदिभावं यो लोकसेवां करोति चेत् ।
विश्वम्भरोऽपि संसारे तथैव तं बिभर्ति हि ॥ १८६ ॥

सभी प्राणियों की आत्मा को एक मान कर उनके सुख को अपना सुख और उनके दुःख को अपना दुःख समझे। जो मनुष्य इस प्रकार के भाव हृदय में धारण कर लोक सेवा में तत्पर हो जाता है, अखिल विश्व का पालन पोषण करने वाला ईश्वर भी संसार में उसका उसी प्रकार पोषण करता है।

चिदात्माकर्मभिर्बद्धो जीव इत्यभिधीयते ।
विमुक्तः कर्मभिः सैव शिव इत्युच्यते बुधैः ॥ १८७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष चिदात्मा को कर्मों मे बन्धन को प्राप्त होने पर "जीव" और उसी को कर्मों से मुक्त हो जाने पर "शिव" ऐसा कहते हैं ।

यथावाञ्छं भवेदत्र साधको बुद्धिकौशलात् ।
तपस्यया तपस्वी स्यात् साधुर्भवति साधनात् ॥१८८॥

साधक बुद्धि कौशल से ही मनोरथ के अनुसार तपस्या करने से 'तपस्वी' एवं साधना करने से 'साधु' हो जाता है ।

भेदनं ब्रह्मग्रन्थेस्तु मधुकैटभनाशनम् ।
तदेव विष्णुग्रन्थेस्तु महिषासुरमारणम् ॥ १८९ ॥

ब्रह्मग्रन्थि का भेदन ही मधुकैटभ का वध है और विष्णुग्रन्थि का भेदन ही महिषासुर का वध है ।

कर्मणाञ्च फलध्वंसो ब्रह्मग्रन्थेस्तु भेदनात् ।
नरेण क्रियते येन स वै सत्ये प्रतिष्ठितः ॥ १९० ॥

ब्रह्मग्रन्थि का भेदन कर जो मनुष्य कर्मफल का विनाश कर लेता है वह निश्चय ही सत्यलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

सर्वथा पातिव्रत्यादि सुगुणैर्भूषिते कुले ।
कन्यका रक्ष्यते यद्वत् तद्वद्विद्यापि रक्ष्यते ॥ १९१ ॥

जैसे पातिव्रत्य आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित कुल में कन्या की हर प्रकार से रक्षा की जाती है वैसे ही विद्या भी रक्षणीय है अर्थात् विद्या व्यर्थविवाद के लिये न होकर ज्ञान के लिये ही है ।

देशकालाद्यवच्छिन्नां व्यष्टिरूपां त्यजेत्स्थितिम् ।
येनोपायेन संसारे तं विधिं साधकोऽभ्यसेत् ॥१६२॥

देश, काल आदि से ही अवच्छिन्न व्यष्टिरूप स्थिति का संसार में जिस उपाय से विनाश हो जाय, साधक उसी उपाय का निरन्तर अभ्यास करे (अर्थात् जीवोपाधि भेद मिट जाय)।

स्वीयानेक प्रयत्नैर्यः स्वीयात्मबलजागरम् ।
कुरुते कर्मठो नित्यं सैवात्र शक्तिपूजकः ॥ १६३ ॥

जो पुरुष अनेक प्रयत्नों से नित्य आत्मबल का जागरण करता है वही कर्मनिष्ठ यहां शक्तिपूजक है।

शक्तिं यो नार्चते वाचा सामग्र्या च हृदा तथा ।
न कुर्याज्जागरं स्वस्मिन् स्वशक्तेः स निराश्रयः ॥१६४॥

जो पुरुष मन, वचन और सामग्री (कर्म) से शक्ति का अर्चन नहीं करता तथा अपने आप में आत्मशक्ति का जागरण नहीं करता वह आश्रयविहीन है।

आत्मायं वृणुते यं हि तपसा वा पूर्वकर्मणा ।
स एव लभते लब्धु मात्मभावन्न चान्यथा ॥ १६५ ॥

तपस्या अथवा पूर्वजन्मकृत कर्मों के प्रभाव से यह आत्मा जिसका वरण करता है वही आत्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है अन्यथा नहीं।

ईश्वरस्य भयान्नैव दुःखं जगति सम्भवेत् ।
ईश्वरस्य भयन्त्वेतत् 'सर्वेषां हितचिन्तनम्' ॥ १६६ ॥

ईश्वर से भयभीत रहने पर संसार में दुःख नहीं होता है सम्पूर्ण प्राणि मात्र का हितचिन्तन ही तो यह ईश्वरभीति है।

सन्मार्गग्रहणार्थन्तु भयमेकं हि सद्गुरुः ।
तेनैव लौकिकी सिद्धि मोंक्षसिद्धिश्च जायते ॥ १९७ ॥

सन्मार्ग ग्रहण करने के लिये भय ही एक मात्र सद्गुरु है उसी से लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि मिलती है ।

परस्मायथवास्वस्मै यत्किञ्चिद्भयदं भवेत ।
बिभेतु मानवस्तस्मा चोचेत्कुर्याद्यथेप्सितम् ॥१९८॥

अपने लिये या दूसरे के लिये जो कुछ भी भयदायक हो मनुष्य को चाहिये कि उस से डरे यदि ऐसा न कर सके तो स्वेच्छानुसार करे ।

भयं सर्वोच्चशक्तेस्तु रक्षणीयं सदा हृदि ।
परमेश्वर भीत्यैव मानवः सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १९९ ॥

सर्वोच्च शक्ति का भय सदैव हृदय में रखना चाहिये. परमेश्वर के डर से ही मनुष्य को सिद्धि मिलती है ।

कुतोऽहं कारणात् कस्मात् कस्मै कार्याय चागतः ।
किमहञ्चेति कर्तव्या चित्ते चिन्ताविवेकिभिः ॥ २०० ॥

विवेकशील पुरुषों को "मैं कौन हूं" "किस कारण से और किस कार्य के लिये आया हूँ" "मैं क्या हूँ" ऐसा विचार चित्त में करते रहना चाहिये ।

कूटस्थो निर्विकारः स स्वयम्भूर्विभुरीश्वरः ।
सर्वेष्वेकत्वभावेन अहंरूपेण तिष्ठति ॥ २०१ ॥

वह कूटस्थ, अविकारी, स्वयम्भू, सर्वव्यापक ईश्वर सब में एकत्वभाव से अहंरूप होकर निवास करता है ।

सर्वेषां प्राणिनामात्मा त्वहं शब्देन कथ्यते।
अहं कः किं गुणोपेतः कथं प्राप्यश्च चिन्तय ॥२०२॥

अहम् शब्द सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा का वाचक है। अहम् कौन है? किन गुणों से युक्त है? और कैसे प्राप्त हो सकता है? इसे विचारो।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धि देंहाङ्गानि च कर्म च।
कथ्यन्ते ममशब्देन वक्तारं त्वं विचिन्तय ॥ २०३ ॥

इन्द्रियां, मन, बुद्धि, देह के अङ्ग और कर्म, मम शब्द के वाचक हैं, मम शब्द कहने वाले का विचार करो।

कोऽस्म्यहमिति वाक्यस्य विवेकं चिन्तयेद हृदि।
न कुर्याद भौतिकीं चिन्ता मशान्तेः कारणं हि सा ॥२०४॥

मैं कौन हूँ? इस वाक्य के ज्ञान का हृदय में चिन्तन करे, कभी भौतिक चिन्ता न करे क्योंकि वही अशान्ति का कारण है।

विशेषा यस्य सम्पत्ति र्वाहुल्यात्तस्य चिन्तनम्।
अशान्तहृद्धनी हर्म्ये निश्चिन्तो विपिने सुखी ॥ २०५ ॥

जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो उसको चिन्ताएँ भी अधिक होती हैं। धनी महल में भी अशान्त चित्त रहता है निश्चिन्त व्यक्ति जङ्गल में भी सुखी रहता है।

स्वर्गलोकं वाञ्छेत् दुःखन्नानुभवेद्यदि।
एवं जानाति कूटस्थं ज्ञानी सोऽगाधवोधतः ॥ २०६ ॥

यदि दुःख का अनुभव न हो तो स्वर्गलोक की कामना ही कैसे हो इस प्रकार गम्भीर ज्ञान से ज्ञानी कूटस्थ को पहिचान लेता है।

कस्यचित्पूजनात् स्वस्य पूजनश्चावगम्यते ।
स्वीयामनित्यतां ज्ञात्वा नित्यात्मा पूज्यते हृदा ॥२०७॥

किसी दूसरे का पूजन करने में अपना स्वयं का पूजन जाना जाता है। अतः देह की अनित्यता को जानकर हृदय में नित्य आत्मा का पूजन किया जाता है।

पठनादेव सज्ज्ञानं नरो नाप्नोति कश्चन ।
दर्शनादुपदेशाच्च कर्मणां सौष्ठवाद्विना ॥ २०८ ॥

शुभ कर्मों के अनुष्ठान, दर्शन और उपदेश के बिना पढ़ने से ही कोई मनुष्य सज्ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता है।

योगी देहाभिमानस्तु जानाति कर्मनिष्ठताम् ।
मृत्युभयविनिर्मुक्तो जीवति सुखपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

देहाभिमान से युक्त योगी कर्मनिष्ठा को जानता है और वही मृत्यु के भय से रहित होकर सुख पूर्वक जीता है।

सौहार्दं प्राणिमात्रेषु द्वेषभावस्य नाशनम् ।
एतदेवास्ति विज्ञस्य ज्ञानाप्तेरुत्तमं फलम् ॥ २१० ॥

प्राणीमात्र से प्रेम करके द्वेषभाव का मूलोच्छेद करना ही ज्ञानी पुरुष की ज्ञानप्राप्ति का उत्तम फल है।

मुक्तिरेवान्तिमं लक्ष्यं पुरुषार्थचतुष्टये ।
प्राप्तिः शिवपदस्यैव जीवनस्य प्रयोजनम् ॥ २११ ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय में मुक्ति ही अन्तिम लक्ष्य है और शिवपद की प्राप्ति ही जीवन का परम प्रयोजन है ।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वखन्यामध्यात्मविद्यायाम्
आत्मतत्त्वनिरूपणन्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अध्यात्मविद्यायाम्

निगमागमनिरूपणम्

निगमो वेदपर्यायः स्वरविद्याप्रसारकः ।
आगमो लौकिकं शास्त्रं निगमादागतं यतः ॥ १ ॥

'निगम शब्द वेद का ही पर्यायवाची है, यह स्वर विद्या का प्रसारक है। लौकिकशास्त्र का नाम आगम है, आगम का अर्थ 'आने वाला' है इस शास्त्र का मूल वेद है। अतः वेद से आने से यह आगम कहलाया है। (लौकिक शास्त्रों का प्रामाण्य वेदमूलक है, वेदविरोधी होने पर आगम व्यर्थ एवं अनुपादेय है)।

विनार्थावगतिञ्चेन्ना पठनं कुरुते श्रमम् ।
तच्छ्रमो व्यर्थतां याति रासभे ग्रन्थभारवत् ॥ २ ॥

यदि मनुष्य विना अर्थ समझे पढ़ने का परिश्रम करता है तो वह परिश्रम व्यर्थ ही जाता है और गधे पर ग्रन्थों के भार की भाँति बोझ ही रहता है।

आगमः पार्थिवं शास्त्रं तस्मिंश्छन्दः प्रधानता ।
नगमे सूर्यशास्त्रे तु स्वरस्यैव प्रधानता ॥ ३ ॥

आगम का सम्बन्ध पृथ्वी और पृथ्वीपरक प्राणियों से है, अतः इस पार्थिवशास्त्र में शक्ति को ही प्रधानता दी गई है। निगम सूर्यशास्त्र है। यह अलौकिक है और दिव्यसत्तानुप्राणित है। इसमें स्वर की ही प्रधानता है।

इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार निगम से आगम अनुप्राणित है उसी प्रकार सूर्य से यह पृथ्वी भी अनुप्राणित है। सूर्य स्वयं भ्राजमान तेजोमय है। पृथ्वी पर तो लब्धप्रकाश है अर्थात् सूर्य से प्रकाश प्राप्त करने वाली है।

गुणानां या पराकाष्ठा यदङ्गे सा हि वर्तते।
तदङ्गी कथ्यते देवो दिव्येवासौ न वै भुवि ॥ ४ ॥

देवानां गुणलाभाय यतन्ते भावना भुवि।
परन्तु पार्थिवा ह्येते देवत्वं प्राप्नुयुः कथम्? ॥ ५ ॥

गुणों की पराकाष्ठा जिस अङ्ग में रहती है उस अङ्ग को धारण करने वाला देव कहलाता है। वह स्वर्ग में ही रहता है पृथ्वी पर नहीं, देव गुण की प्राप्ति के लिये मनुष्य पृथ्वी पर प्रयत्न करते हैं परन्तु ये पार्थिव देवत्व को कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

वेदो ब्रह्ममुखादेव स्वयं प्रादुरभूदतः।
वेदतत्वं सदा सत्य न्निर्गमान्निगमो मतः ॥ ६ ॥

(निर्गमात् निगमः इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही वेद का नाम निगम है तथा वेदतत्व सत्स्वरूप है क्योंकि यह (वेद) स्वयं ही ब्रह्ममुख से प्रादुर्भूत हुआ। 'वेदा निश्वसितं यस्य' जैसी उक्तियों द्वारा वेद—एवं भगवान् के मध्य एकरूप्य बताया गया है, विना श्वास प्राणी की सत्ता असम्भव होने की भाँति

विना वेद भगवत्सत्ता भी अचिन्त्य गति है, ब्रह्म के रूपविशेष ब्रह्माजी के मुख से प्रारम्भ में वेद मूलक प्राण व ध्वनि उच्चरित हुई *।

न वेदपठनादेव कथोपाख्यान तोऽपि न ।
नोपदेशाच्च पाण्डित्यं पाण्डित्यन्त्वागमाद्भवेत् ॥ ७॥

केवल मात्र वेद के वाचन से या कथा उपाख्यान आदि के श्रवण से अथवा दूसरों को उपदेश देने से पाण्डित्य की प्राप्ति नहीं होती है, पाण्डित्य प्राप्ति तो आगम से होती है। "पाण्डित्यं हि परिच्छेदः" जैसी व्याख्यात्मक सूक्तियों से तथा "पण्डा बुद्धि सञ्जाता अस्येति पण्डितस्तस्य भावः" की समाख्या से पाण्डित्य का अर्थ है व्यवहारकौशल, व्यवहार कुशलता. पार्थिवधर्म होने से स्मृति, नीति आदि पार्थिवशास्त्रों से ही प्राप्त न होगी न कि आध्यात्मिकशास्त्र निगमादि से।

मोक्षेच्छायाः समुत्पत्तौ स्वकल्याणेच्छुको जनः।
गच्छेदागममार्गे हि सर्वाऽधिकृत संगमे ॥ ८ ॥

अपने कल्याण का इच्छुक मनुष्य मोक्षप्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होने पर भेदभाव से रहित आगम मार्ग में ही प्रवेश करे।

आगमस्तन्त्रशास्त्र स्या दागमज्ञश्च तन्त्रवित् ।
शास्त्रञ्च शिवपार्वत्यो स्तन्त्रमित्यभिधीयते ॥९॥

तन्त्रशास्त्र को आगम और तन्त्र जानने वाले को आगमज्ञ कहते हैं। शिव पार्वती से सम्बन्धित शास्त्र को तन्त्र कहते हैं।

---

* ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

विमर्शोऽपि च तन्त्रेऽस्ति निदानं जगतो यतः ।
विचारेण हि संसारो जायते नात्र संशयः ॥ १० ॥

तन्त्र में संसार का मूल कारण विमर्श भी है क्योंकि विचार से ही संसार उत्पन्न होता है इस में कोई संशय नहीं है ।

तन्त्रन्तु द्विविधं प्रोक्तं वामदक्षिणभेदतः ।
दक्षिणः सात्विकाः स्मार्ता वामास्तु तामसा मताः ॥ ११ ॥

पञ्चदेवान् यथा शास्त्रं पूजयन्ति हि दक्षिणः ।
पञ्चमकारचर्चायां वामादक्षास्तथैव च ॥ १२ ॥

तन्त्र वाम और दक्षिण भेद से दो प्रकार का है । सत्वगुण से युक्त एवं स्मृतियों को मानने वाले तो दक्षिणमार्गी हैं और तामसीवृत्ति से युक्त वाममार्गी हैं, दक्षिणमार्गी शास्त्रानुसार पंचदेवों (गणपति, दुर्गा, सूर्य, विष्णु, शिव) की उपासना करते हैं और वाममार्गी पंचमकारों की चर्चा में चतुर होते हैं ।

निवेदयामि सङ्केतान् गूढार्थ परिचायकान् ।
मकारैः पञ्चसंख्याकैः प्रोक्तान्वामयोगिनाम् ॥ १३ ॥

वाममार्गियों से कहे गये गूढ़ार्थ के परिचायक सङ्केतों को पांच मकारों से निवेदन करता हूं ।

मद्यं मांसञ्च मीनञ्च मुद्रा मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकम्प्राहु र्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥ १४ ॥

मद्य, मॉस, मीन, मुद्रा, मैथुन ये पांच मकार योगियों को मुक्ति देने वाले हैं ।

तन्त्रे श्लोको यथा प्रोक्त स्तथैव लिखितो मया।
तद्गूढार्थम्प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रे विशेषतः ॥ १५ ॥

तन्त्र में यह श्लोक जैसा कहा है मैंने वैसा ही लिखा है। उसका गूढ़ अर्थ मैं योगशास्त्र में विशेषरूप से कहूंगा।

तस्माद्धि प्रतिबिम्बाच्च क्षोभः प्राकृतिकोऽभवत् ।
ब्रह्माण्डेऽसौऽभवच्छब्दः सर्वादावोमिति श्रुतः ॥ १६ ॥

उस प्रतिबिम्ब से प्राकृतिक क्षोभ उत्पन्न हुआ, यही शब्द ब्रह्माण्ड में सर्व प्रथम ओ३म् इस प्रकार विख्यात हुआ।

कम्पनं प्रकृतेराद्या ह्यिल्लोलाद्यदभूत्पुरा ।
सृष्ट्यादौ तत्समुद्भूत शब्दो हि प्रणवो मतः ॥ १७ ॥

सृष्टि के आदि में प्रकृति की सर्वप्रथम लहर से जो कम्पन हुआ उस से उत्पन्न शब्द ही प्रणव (ओङ्कार) माना गया है।

प्रणवस्य तु विश्लेषात् यज्ज्ञातन्तल्लिखाम्यहम् ।
विचार्य प्रणिधानेन जिज्ञासा वर्तते यदि ॥ १८ ॥

प्रणव का विश्लेषण करने से जो ज्ञान हुआ उसे मैं लिख रहा हूं यदि जिज्ञासा हो तो प्रणिधान के द्वारा विचार करना चाहिए।

प्रणवो वाचकः स्फोटः शब्दब्रह्माप्यसौ भवेत् ।
वाच्यसत्ता "परब्रह्म" स्वप्रकाशप्रकाशितम् ॥ १९ ॥

प्रणव, स्फोट और शब्द ब्रह्म एक ही अर्थ के वाचक हैं इनकी वाच्यसत्ता परब्रह्म है जो अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है।

धातोर्हि णुस्तुतावस्मात् सिद्धोऽस्ति प्रणवोऽनघः ।
तेन प्रणवजापेन योगी सायुज्यमाप्नुयात् ॥ २० ॥

"णु स्तुतौ" इस धातु से सत्स्वरूप प्रणव शब्द सिद्ध होता है उस प्रणव अर्थात् ओ३ङ्कार का जप करने से योगी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

शब्दे स्थूलतरोऽयन्तु शैवीं स्थितिमाश्रितः ।
समष्टिस्त्र्यक्षराणां हि प्रणवे शास्त्रसम्मता ॥ २१ ॥

यह स्थूलरूप से शैवीस्थिति का आश्रय लिये हुए है इस प्रणव शब्द में तीन अक्षरों की समष्टि ही शास्त्र सम्मत है।

प्रणवस्याद्यवर्णस्य स्मृत्या शुद्ध्यति मानसम् ।
प्रसीदति द्वितीयस्य ध्वनिरारभतेऽन्तिमात् ॥ २२ ॥

ओङ्कार के प्रथम वर्ण की स्मृति से मन शुद्ध होता है। द्वितीय वर्ण की स्मृति से मन प्रसन्न होता है और अन्तिम वर्ण की स्मृति से ध्वनि का आरम्भ होता है।

उकारः प्राणविन्दुर्हि वैष्णवीं स्थितिमाश्रितः ।
पाति विश्वं समुत्पन्नं स्थूलशब्दः प्रकीर्तितः ॥ २३ ॥

अहं विन्दुर्मकारोऽस्ति विश्वं संहरतेऽन्ततः ।
एवं हि प्रणवोऽयन्तु जगदाद्यन्तकारणम् ॥ २४ ॥

उकार ही प्राणविन्दु है जो स्थूलशब्द कहलाता है और वैष्णवीस्थिति के सहारे उत्पन्न हुए विश्व का पालन करता है अहं विन्दु ही मकार है जो अन्ततोगत्वा विश्व का संहार

करता है। इस प्रकार यह प्रणव जगत् के आदि और अन्त का कारण है।

आदिवर्णादकारात्तु ज्ञातव्या मानसी स्थितिः ।
स एव सृष्टिबीजञ्च मनोबिन्दुः स एव हि ॥ २५ ॥

कुरुते ब्रह्मकार्यं सः सर्गं सृजति कल्पनात् ।
स्वभावेनाप्युकारञ्च स्वस्मिन्नाकर्षति ध्रुवम् ॥ २६ ॥

आदिवर्ण अकार से मानसिकस्थिति का ज्ञान करना चाहिये, वही सृष्टिबीज है और वही मनोबिन्दु है।

वह ब्रह्म का कार्य करता है और कल्पना से सृष्टि की रचना करता है और उकार को स्वभाव से भी निश्चय ही अपनी ओर आकर्षित करता है।

धनूरूपन्तु प्रणवोऽस्ति शरोऽन्तःकरणं स्मृतम् ।
वेधने ब्रह्मलक्ष्यस्य शब्दे हि तन्मयो भवेत् ॥ २७ ॥

प्रणव धनुषरूप और अन्तःकरण बाणरूप हैं। अतः ब्रह्म-रूपी लक्ष्य को बींधने में शब्द में ही तन्मय हो जावे।

मूलाधारोत्थितो नादः सहस्रारे विलीयते ।
तन्नादालम्बनादेव शब्दतत्त्वं हि व्यज्यते ॥ २८ ॥

मूलाधार से उत्पन्न होकर नाद सहस्रारचक्र में लीन हो जाता है उस नाद का आश्रय लेने से ही शब्दतत्त्व प्रकट होता है।

गतिं विना न नादः स्याद् गतिर्नास्त्युष्णतां विना ।
गत्या सार्द्धं प्रकाशः स्यात् त्रयाणामस्त्यपेक्षता ॥ २९ ॥

गति के विना नाद नहीं हो सकता, उष्णता के विना गति नहीं हो सकती, गति के साथ ही प्रकाश भी रहता है। ये तोनों परस्पर सापेक्ष हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

कार्यारम्भो भवेद्यत्र तत्रावश्यं हि कम्पनम् ।
यत्र स्यात्कम्पनन्तत्र नूनं शब्दसमुद्भवः ॥ ३० ॥

जहाँ कार्य का आरम्भ होता है वहाँ अवश्य ही कम्पन होता है और जहाँ कम्पन है वहाँ अवश्यमेव शब्द की उत्पत्ति होगी।

ब्रह्माण्डोत्पत्ति पूर्वं य इच्छास्फोटोऽभवद्दिवि ।
महानादोऽभवत्तस्मात् क्रियाशक्तिरियं स्मृता ॥ ३१ ॥

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व जो आकाश में इच्छास्फोट हुआ उस से महानाद हुआ, यही क्रियाशक्ति कहलाती है।

चतुर्थार्धाक्षरध्यानात् प्रकाशो दृश्यते हृदि ।
विषयवासना शून्ये हृद्येव तिष्ठति प्रभुः ॥ ३२ ॥

चतुर्थ अर्धाक्षर का ध्यान करने से हृदय में प्रकाश दृष्टिगोचर होता है विषयवासना से शून्य हृदय में ही ईश्वर का निवास होता है।

सृष्ट्यादौ प्रणवादेव स्वरोत्पत्तिरभूत्पुरा ।
पश्चात्तु व्यञ्जनोत्पत्ति मूलाधारात्क्रमादभूत् ॥३३॥

सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम प्रणव से ही स्वरों की उत्पत्ति हुई इसके अनन्तर क्रमशः मूलाधारचक्र से व्यञ्जनों की उत्पत्ति हुई ।

शब्देशक्तिर्निगूढास्ति मन्त्रेऽप्यास्तं तथैव सा।
वक्तुरुच्चारणस्यैव तारतम्येन बुध्यते ॥ ३४ ॥

शब्द में महती शक्ति छिपी हुई है, मन्त्र में भी वह वैसे ही है, जो वक्ता के उच्चारण के ही तारतम्य से जानी जाती है।

जैसे साधारण बात भी उच्च स्वर से जोशीले शब्दों में ललकार (नारा) देकर कहने से सुनने वालों के दिल पर विशेष ही प्रभाव करती है।

व्यज्यतेऽनेकधा चेय मनेकाक्षर योगतः।
कादि क्षान्ता समूढास्ते वर्णा व्यञ्जनसंज्ञकाः ॥ ३५ ॥

यह मातृका अनेक अक्षरों के योग से अनेक प्रकार से व्यक्त (प्रकट)होती है। अतः क से क्ष पर्यन्त वर्णों को व्यञ्जन कहते हैं।

जीवमात्रस्य जिह्वायां सदेयं शक्तिरक्षरा।
क्रीडत्यक्षररूपेण मातृका सा मताबुधैः ॥ ३६ ॥

यह शक्ति जीवमात्र की जिह्वा पर सदा अक्षर रूप से खेलती रहती है। अतः इसे विद्वान् लोग अक्षरमातृका कहते हैं।

अ आ मौलिमुखौ प्रोक्तौ इ ई द्वे चक्षुषी तथा।
उ ऊ ज्ञेयौ च कर्णौ द्वौ ऋ ॠ नासापुटे स्मृते ॥ ३७ ॥

अ आ मस्तक और मुख के वाचक हैं तथा इ ई दोनों आंखें हैं उ ऊ दोनों कान जानो और ऋ ॠ दोनों नासापुट हैं।

ऌ ॡ तथा कपोलौ द्वौ ए ऐ चौष्ठद्वयौ क्रमात्।
ओ औ च दन्तपंक्ती द्वे अं अस्तालु च जिह्वकौ ॥ ३८ ॥

लृ, लॄ दोनों कपोल, ए ऐ दोनों ओष्ठ, ओ औ दोनों
पंक्तियाँ और अं अः तालु और जिह्वा हैं।

क्रमादेतान् विजानीयात् स्वरानपरनामतः।
ध्वन्यते स्वयमेवातः स्वर इत्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

इन्हीं का दूसरा नाम स्वर है इनकी ध्वनि स्वयमेव
है। अतः इन्हें स्वर कहते हैं। स्वयं राजन्त इति स्वराः।

स्वरशुद्धिं विना वेदोच्चारणं हि निरर्थकम्।
वर्णशुद्धिं विनाऽप्येव मागमोच्चारणं वृथा ॥ ४० ॥

(वेदों में स्वर की ही प्रधानता है, स्वरशुद्धि के विना
। उच्चारण निरर्थक है, इसी प्रकार वर्णशुद्धि विना आ
का उच्चारण भी वृथा ही है (स्वर में विकृति होने
मन्त्र केवल निरर्थक ही नहीं हो जाता है अपितु यदा
अनिष्टार्थकर भी हो जाता है, (मन्त्रो हीन) स्वरतो वर्ण
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह, स वाग्वज्रो यजमानं हि
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽ पराधात्)। इसी प्रकार भार्या रक्षतु
स्थान पर भार्या भक्षतु के जैसी वर्णशुद्धि भी अनिष्टक
हो सकती है।

सूर्यसत्तां विना नैव पृथिवी प्रतितिष्ठति।
व्यञ्जनं स्वरराहित्या न्नोच्चारितम्भवेत्तथा ॥ ४१ ॥

यथा पृथ्वी सूर्य की सत्ता विना अपनी स्थिति नहीं
सकती है वैसे ही स्वर के विना व्यञ्जनों की उच्चारणात्मक स्थि
कदापि नहीं रह सकती है।

सृष्ट्यारम्भे य उत्पन्नो नादोऽसावोमिति स्मृतः ।
शब्दब्रह्मापि सैवास्ति जायन्ते मातृकास्ततः ॥ ४२ ॥

सृष्टि के आरम्भ में जो नाद उत्पन्न हुआ उसे ही ओ३म् एवं ब्रह्म कहते हैं इससे मातृकाएं उत्पन्न होती हैं।

ओङ्कारतः समुत्पन्ना द्विपञ्चाशद्धि मातृकाः ।
तास्वक्षरमया ज्ञेया पञ्चाशच्चैव मातृकाः ॥ ४३ ॥

ओङ्कार से बावन ५२ मातृकाएं उत्पन्न हुई, इनमें से ५० पचास मातृकाएं तो अक्षरमयी हैं।

तिष्ठन्त्यव्यक्त रूपेण प्रणवोत्पन्नमातृकाः ।
सहस्रारेऽकुल स्थानेचक्रे पञ्चाशदेव हि ॥ ४४ ॥

प्रणव से उत्पन्न ५० पचास मातृकाएँ ही सहस्रार चक्र में अकुल स्थान पर निवास करती हैं।

एतदेवाकुलस्थानं शक्तेश्चापि शिवस्य च ।
व्यक्तरूपेण शक्तिस्तु शिवोऽव्यक्तोऽत्रतिष्ठति ॥ ४५ ॥

यही शिव और शक्ति का आकुल स्थान है यहाँ शिव अव्यक्त रूप से एवं शक्ति व्यक्त (प्रकट) रूप से निवास करती है।

सांख्यशास्त्रे प्रधानं य दविद्या सैव मूलतः ।
सैव मायास्ति वेदान्ते तन्त्रे त्रिपुरसुन्दरी ॥ ४६ ॥

वास्तव में अविद्या को ही सांख्यशास्य में प्रधान, वेदांत में माया तथा तन्त्र में त्रिपुरसुन्दरी कहते हैं।

पार्वती शक्ति योन्यादि नामभिस्तान्त्रिकैर्जनै ।
यन्त्रं शक्तेस्त्रिकोणन्तु कथ्यतं श्रूयतेऽपिवा ॥ ४७ ॥

पार्वती, शक्ति, योनि आदि नामों के कारण तान्त्रिक लोग शक्ति का त्रिकोण यन्त्र भी कहते सुनते हैं।

पूजायां प्रायशो गीता पूज्या षोढशमातृकाः ।
सैषा हि षोडशी पूजा ज्ञानशक्तिप्रदायिनी ॥ ४८ ॥

पूजा में प्रायः षोडशमातृका पूज्य कही गई हैं वही यह ज्ञानशक्ति का प्रदान करने वाली षोडशी पूजा है।

सन्ध्येति कथ्यते तन्त्रे या कन्या एकवार्षिकी।
सरस्वती द्विवर्षीया त्रिधामूर्तिस्त्रिवार्षिकी ॥ ४९ ॥

तन्त्र में एक वर्ष की कन्या सन्ध्या, दो वर्ष की सरस्वती और तीन वर्ष की त्रिधामूर्ति कहलाती है।

कालिकेति चतुर्वर्षा सुभगा पञ्चवार्षिकी।
षड्वार्षिकी ह्युमा ज्ञेया मालिनी सप्तवार्षिकी ॥ ५० ॥

चार वर्ष की कालिका, पाँच वर्ष की सुभगा, छेः वर्ष की उमा तथा सात वर्ष की मालिनी जानो।

कुब्जेति चाष्टवर्षीया कालसन्दर्भनामिका ।
सैव स्यान्नववर्षीया तदग्रे चापराजिता ॥ ५१ ॥

आठ वर्ष की कुब्जा, नौ वर्ष की कालसन्दर्भनामिका तथा दस वर्ष की अपराजिता होती है।

पञ्चोत्तरदशवर्षीया चेत्रज्ञेति मता बुधैः ।
अम्बिका षोडशाब्दा च यावन्न ऋतुदर्शनम् ॥ ५३ ॥

जब तक ऋतुमती न हो तब तक पन्द्रह वर्ष की कन्या का नाम तो क्षेत्रज्ञा और सोलह वर्ष की कन्या का नाम अम्बिका होता है ।

न चर्तोरुद्गमो यासा मित्थं भृता कुमारिका ।
पूज्याः प्रतिपदारभ्य पूर्णिमान्तं क्रमाज्जनैः ॥ ५४ ॥

लोगों को जो रजस्वला न हुई हों ऐसी कन्याओं का प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक पूजन करना चाहिये ।

प्रत्येकाकारमन्त्रस्य सङ्कल्पो मन्त्र एव हि ।
भावनयैव सङ्कल्पः संस्काराद्भावनोद्गमः ॥ ५५ ॥

किसी भी तरह के मन्त्र का सङ्कल्प ही मन्त्र है भावना के अनुसार संकल्प होता है और भावना की संस्कार से उत्पत्ति होती है ।

सङ्कल्पेन विना कोऽपि नैवाकारोऽनुमीयते ।
आकारोवस्तुतस्त्वत्र सङ्कल्पस्य प्रतिक्रिया ॥ ५६ ॥

संकल्प के विना किसी भी आकार का अनुमान नहीं लगता, वास्तव में आकार यहां संकल्प का ही दूसरा रूप है ।

प्रथमः सर्वयोगेषु मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः ।
सोऽहं जापेन जापैर्वा विविधैरितरैर्भवेत् ॥ ५७ ॥

सम्पूर्ण योगों में मन्त्रयोग सर्व प्रथम है जो सोऽहम् का जप करने से अथवा अन्य विविध जपों के करने से मन्त्रयोग सिद्ध होता है ।

एकादशी च रुद्राणी द्वादशी भैरवी तथा ।
त्रयोदशी महालक्ष्मी तदग्रे पीठनायिका ॥ ५२ ॥

ग्यारह वर्ष की रुद्राणी, बारह वर्ष की भैरवी, तेरह वर्ष की महालक्ष्मी और चौदह वर्ष की पीठनायिका है ।

कृतानि नामरूपाभ्यां साधनानि विवेकिभिः ।
मन्त्रयोगगतान्येव मन्यन्ते मूलसाम्यतः ॥ ५८ ॥

मूल सब का एक होने से ज्ञानीपुरुष नाम रूप के भेद से बने हुए साधनों को मन्त्रयोग में ही मानते हैं ।

मन्त्रो मन्त्र इति प्रोक्तो मननात्त्रायते यतः ।
साधको मन्त्रजापाद्धि रक्षितो जायते ध्रुवम् ॥ ५९ ॥

मनन करने से रक्षा करने के कारण ही मन्त्र को मन्त्र कहते हैं । अतः साधक मन्त्र जप करने से निश्चय ही रक्षित हो जाता है ।

स्वमन्त्रन्न वदेदन्यं नान्यशिक्षां हृदि स्मरेत् ।
गुरुम्मत्वात्मसर्वस्वं गुरवे सर्वमर्पयेत् ॥ ६० ॥

अपना मन्त्र दूसरे को न बतलावे और न दूसरे की शिक्षा का हृदय में स्मरण ही करे । केवल गुरु को ही अपना सर्वस्व मान कर सब कुछ गुरु के ही अर्पण कर दे ।

मन्त्रादि जपकाले यो मुद्रार्थमीरितो विधिः ।
सुखदः स्वास्थ्यदः स स्यात् विज्ञानीवुधसम्मतः ॥६१॥

मन्त्रादि के जप के समय मुद्रा के लिये जो विधि बतलाई गई है वह सुख और स्वास्थ्य को देने वाली है और विज्ञान-वेत्ताओं द्वारा सम्मत है।

मन्त्रे शक्तिर्विशेषास्ति मनःशक्ति विवर्द्धिका।
गुप्त एवात उच्चार्यः प्रकटो न प्रभाववान् ॥ ६२॥

मन्त्र में चित्त की शक्ति को बढ़ाने वाली विशेष शक्ति विद्यमान है। इसलिये मन्त्र का उच्चारण गुप्त ही करना चाहिये। प्रकट उच्चारण करने पर प्रभावयुक्त नहीं रहता।

गायत्रीमन्त्रमाश्रित्य कृत्स्नमेतल्लिखाम्यहम्।
अन्यत्रापि च यत्किञ्चित् सर्वं तस्य हि विस्तरः ॥६३॥

गायत्री मन्त्र का आश्रय लेकर ही मैं यह सब कुछ लिखता हूं और कहीं भी जो कुछ है सब उसका ही विस्तार है।

गायत्र्यां भणितं यत्तत् शब्दः सर्वार्थमूलयम्।
तद्भर्गः सवितुस्तस्यां सर्वेषां लक्ष्यमेव हि ॥ ६४॥

गायत्री मन्त्र में जो तत् शब्द है वही सर्वार्थमूलक है उस में जो सूर्य का तेज है वही तत् शब्द का वाच्य है और वही सब का लक्ष्य है।

भूम्यंशाकर्षकः सूर्यः सर्वेषां सविता तथा।
सर्वाराध्यो हि देवोऽयं प्रत्यक्षश्च तमोपहः ॥ ६५॥

सूर्यदेव ही भूमि के अंश का आकर्षक तथा सब को उत्पन्न करने वाला है यह सूर्य ही सब के द्वारा पूज्य, प्रत्यक्ष देव और अन्धकार को नष्ट करने वाला है।

वहि र्वै नारिकेलस्य भृङ्गो भ्रमति नान्तरे ।
वेदवाक्यर्थबोधस्य तथैव परिडतो वहिः ॥ ६६ ॥

जैसे भ्रमर नारियल के भीतर प्रवेश न करने से बाहर ही घूमता रहता है वैसे ही परिडतजन भी वेदवाक्य के वास्तविक अर्थ (सार) को न समझ कर बाहरी अर्थ का विस्तार करते हैं।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्वखन्यां अध्यात्मविद्यायां
निगमागमनिरूपणो नाम त्रयोदशोऽध्यायः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अध्यात्मविद्यायाम्

भक्तियोगनिरूपणम्

भक्तितो नाशमेवैति ह्यहङ्कारो हि देहिनाम् ।
लोकोत्तरपथपान्थानां भक्तिरेवादि भूमिका ॥ १ ॥

भक्ति से देहधारियों का अहङ्कार अवश्यमेव नष्ट हो जाता है लोकोत्तरपथ के पथिकों के लिये भक्ति ही प्रथम अवलम्बन है ।

तादृशो मानवो भूया च्छ्रद्धा यस्यास्ति यादृशी ।
आप्नोतुं स्वेष्टसिद्धिं वै श्रद्धासोपानमादिमम् ॥ २ ॥

जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह मनुष्य वैसा ही हो जाता है। अतः अपने इष्ट की सिद्धि के लिये श्रद्धा ही प्रथम सोपान है ।

नश्यति प्राणिनां लोके हंकारो नमनाद् ध्रुवम् ।
अत एव नमस्कारः सदा सद्भिः समादृतः ॥ ३ ॥

संसार में प्राणिमात्र का अहङ्कार प्रणाम करने से निश्चय ही नष्ट हो जाता है इसीलिये सज्जन पुरुष सदा नमस्कार का आदर करते हैं ।

हृल्लग्नाञ्जलिना प्रेम्णा भवन्तं प्रणमाम्यहम् ।
कायेन मनसा वाचा द्योतितुम्मे त्वदीयताम् ॥ ४ ॥

मैं तन मन एवं वचन से आपका हूं इस बात को प्रकट करने के लिये अञ्जलि को हृदय से लगा कर प्रेमपूर्वक आपको प्रणाम करता हूं।

भक्तियोगेन तीव्रेण हरेश्च दययेरितः ।
भक्तो भूयात् सर्वथैव सर्वभावसमर्पकः ॥ ५ ॥

तीव्र भक्तियोग से तथा हरि की दया से प्रेरित होकर भक्त सर्वथा ही अपने सम्पूर्ण भावों को प्रभु के समर्पित कर देता है।

भक्तभगवतोर्मध्ये किंचिन्नावरणं वरम् ।
व्यवधाणुप्रमाणापि दृश्यते गिरिसन्निभा ॥ ६ ॥

भक्त और भगवान् के बीच में कुछ भी आवरण (पर्दा) नहीं रहना चाहिये क्योंकि दो प्रेमियों के बीच में अणु के सम्मान व्यवधान भी पर्वत के समान ज्ञात होता है। जैसे प्रीति जहां पर्दा नहीं पर्दा जहां न प्रीत—

अविच्छिन्नम्मनोध्यानं भक्तिबीजमुदाहृतम् ।
दिव्यानन्दाङ्कुरो येन भक्तचित्तेऽभिजायते ॥ ७ ॥

निरन्तर मानसिक ध्यान ही भक्ति का बीज है जिस बीज से भक्त के चित्त में दिव्य आनन्द रूपी अंकुर की उत्पत्ति होती है। वही भक्ति का बीज है।

जगन्नायकहरावेव यदाविष्टं भवेन्मनः ।
तदा भक्तिप्रभावेण द्रवीभूतो नरो भवेत् ॥ ८ ॥

जब मन जगत् के नायक भगवान् में लग जाता है तब मनुष्य भक्ति के प्रभाव से द्रवीभूत हो जाता है अर्थात् विह्वल और विनम्र हो जाता है।

येन केन प्रकारेण कस्यापि नामचिन्तनात् ।
स्फूर्ति हि तद्गुणा कृत्योः कर्तुर्हृद्यनुभूयते ॥ ६ ॥

जिस किसी भांति से भी किसी के भी नाम का स्मरण और चिन्तन करने से चिन्तनकर्ता के हृदय में उसके गुण एवं आकृति की स्फूर्ति का अनुभव होता ही है अर्थात् नाम स्मरण से नामी की मूर्ति की स्फ़ूर्ति भक्त के हृदय में हो ही जाती है।

भक्तेरनुगतं ज्ञानं लक्ष्यस्य साधकं भवेत् ।
अस्मितावर्धकं ज्ञानं केवलं नैव शोभते ॥ १० ॥

भक्ति से युक्त होकर ही ज्ञान, लक्ष्य का साधक होता है केवल अस्मितावर्धक ज्ञान शोभा नहीं देता अर्थात् भक्तिरस से रहित केवल तर्कादि के शुष्क ज्ञान से भक्त के हृदय की तृप्ति नहीं होती है।

प्रभौ वा स्वेष्टदेवे वा यासक्तिः कामनां विना ।
सा भक्तिर्वर्णिता शास्त्रे ह्यनुरागोऽपि तादृशः ॥ ११॥

ईश्वर या अपने इष्ट देव में जो निष्काम आसक्ति होती है उसे ही शास्त्र में भक्ति कहा है सच्चा अनुराग भी वैसा ही होता है। इश्के हकीकी इस ही का नाम है ।

पराकाष्ठां दशां लोके भक्तिर्यदाधिरोहति ।
तदा भक्तमनोऽद्वैत भावापन्नं भवेद्ध्रुवं ॥ १२॥

संसार में मनुष्य की भगवद्भक्ति जब पराकाष्ठ दशा (अन्तिमसीमा) तक पहुँच जाती है तो भक्त के हृदय का द्वैतभाव मिट जाता है और वह हरि में तल्लीन हो जाता है।

भक्त्याधिक्याद्धि भक्तस्या हंकृतिर्नैव विद्यते।
सर्वथा दिव्यभावोऽतो भक्तो हि भुवि राजते ॥ १३ ॥

भक्ति की अधिकता से भक्त में अहङ्कार नहीं रहता है अतः सर्वथा दिव्यभाव से युक्त भक्त निश्चय ही पृथ्वी पर सुशोभित होता है। अर्थात् भक्त का हृदय दया से पूरित होता है और वह अपने आपको बड़ा नहीं समझता है।

हृदये ज्ञानिभक्तस्य हरेः स्फूर्तिः क्षणे भवेत्।
दिवसे सप्तके पक्षे खट्वाङ्गस्य यथाऽभवत् ॥ १४ ॥

खट्वाङ्ग की भाँति ज्ञानी भक्त के हृदय में भगवान् की स्फूर्ति क्षण, दिन, सप्ताह अथवा पक्ष में अवश्यमेव होकर रहेगी। जैसे इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न खट्वाङ्ग नामक राजर्षि के हृदय में आयु के मुहूर्त मात्र शेष रह जाने पर भी हरि की स्फूर्ति हो गई थी।

नामिनो जपने ध्याने शक्तिराकर्षिका मता।
नामी तु स्मरणाद्ध्याना दवश्यं हृद्गतो भवेत् ॥ १५ ॥

जप और ध्यान में नामी का आकर्षण करने की शक्ति मानी गई है। इसलिये तो स्मरण एवं ध्यान करने से नामी अवश्यमेव हृदय में निवास कर लेता है।

सर्वकर्मसमारम्भे कर्म्मणाञ्च समापने।
रजन्यां दिवसे वापि स्वेष्टदेवं हृदि स्मरेत्।

सभी कर्मों के प्रारम्भ में एवं अन्त में चाहे रात हो या दिन अपने इष्टदेव का हृदय में स्मरण करे।

प्रार्थनाऽऽवश्यकीया हि प्रभोराकर्पणाय वै।
नम्रभावेन कर्त्तव्या सिद्धिस्त्वीशानुकम्पया ॥ १७ ॥

ईश्वर का आकर्पण करने के लिये नम्रभाव से प्रार्थना अवश्यमेव करनी चाहिये क्योंकि ईशकृपा से ही तो सिद्धि होती है।

शान्त्यागारात्प्रभोरेव शश्वती शान्तिराप्यते।
प्रभुस्तु प्राप्यते ध्याना दिन्द्रियाणाञ्च निग्रहात् ॥ १८ ॥

शान्ति निकेतन ईश्वर से ही शाश्वत् शान्ति मिलती है और ध्यान एवं इन्द्रियनिग्रह से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मज्ञान होता है।

लौकिकः कामनायुक्तः सदोपो नाशकोऽशुचिः
परिच्छिन्नश्च निर्देश्योः नातः सेव्यो मुमुक्षुभिः ॥ १९ ॥

लौकिक सुख, कामना एवं दोपों से परिपूर्ण, विनाशक, अपवित्र, सीमित एवं निन्दनीय (अंगुलि से बताने योग्य) है अतः मुमुक्षु पुरुषों को उसका सेवन नहीं करना चाहिये।

आनंदोऽलौकिको यस्तु सोऽगाधो जीवनप्रदः।
निर्दोपोपगतस्वार्थो मेयोऽनिर्देश्य एव च ॥ २० ॥

और जो अलौकिक आनन्द है वह अगाध, जीवनदाता, निर्दोष, स्वार्थरहित, अमेय एवं प्रशंसनीय होता है ऐसे आनन्द का रसास्वादन तो मुमुक्षुजन ही लेते हैं।

ज्ञायतेऽनुभवेनैव न तर्काद्यैरिहेश्वरः ।
सारस्तु योगोभिर्लीढः शेषास्तक्रं पिबन्ति च ॥ २१ ॥

ईश्वर का ज्ञान तर्कादि से न होकर अनुभव से ही होता है अतः सार (घृत) तो योगियों ने ही चक्खा है बाकी तो सब छाछ (मट्ठा) पीते हैं अर्थात् सारहीन विवादों में लगे रहते हैं ।

उद्धाराय स्वभक्तानां तारणाय च दुष्कृताम् ।
सर्वेषां प्राणिनां हृत्सु राजते भगवान् स्वयम् ॥ २२ ॥

अपने भक्तों का उद्धार करने के लिये एवं पापियों को भवसागर से पार करने के लिये सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्वयम् भगवान् विराजमान हैं ।

पापोपीश्वरः कीर्त्तना स्तस्यध्यानात्तथा स्मृतेः ।
निर्णिज्य स्वमनो दोपा न्तरितुं शक्यते भवे ॥२३॥

पापी भी ईश्वर का कीर्तन ध्यान तथा स्मरण करने से अपने मन के दोपों को दूर कर के भवसागर को पार कर सकता है ।

प्रेमभावातिरेकेण करोति भक्तिरुद्यतम् ।
समर्पणाय भक्तं वै स्वहृदः स्वेष्टपादयोः ॥ २४ ॥

भक्ति ही प्रेम भाव के आधिक्य से भक्त को अपने इष्ट देव के चरण कमलों में अपना हृदय समर्पित करने लिये उद्यत करती है ।

आत्मवाचो तु 'मैं' शब्द स्वस्यामभ्रंश एव मा ।
असापेवेश्वरः प्रोक्त रन्तरात्मनि संस्थितः ॥ २५ ॥

आत्मा का वाचक जो "मैं" शब्द है उसका अपभ्रंश ही "मा" है और वही अन्तरात्मा में स्थित ईश्वर कहलाता है।

अर्थात् मा २ कह कर भी ईश्वर को पुकारता जाता है।

ईशः पुल्लिङ्गसंज्ञोऽपि मातृशब्देन गीयते ।
पूज्य श्री रामकृष्णेन यथा मामेति संस्तुतः ॥२६॥

ईश्वर पुल्लिङ्ग होते हुए भी माता शब्द से पुकारा जाता है जैसे पूज्यपाद महाराज श्री रामकृष्ण स्वामी ने मा २ कह कर ईश्वर की स्तुति की है † ।

स्वार्थमूला नृणां लोके भक्तिर्भवति चञ्चला ।
स्थिराभक्तिस्तु सेवस्या द्या भूयात् परमेश्वरे ॥२७॥

संसार में लोगों की स्वार्थमूलक एवं अस्थिर भक्ति होती है परमेश्वर में जो भक्ति होती है वही स्थिर होती है।

विरहानलसन्तप्तो हङ्काराद्धि विमुच्यते ।
तद्भावाच्च विनिर्मुक्तो भक्तो यातीष्टदेवताम् ॥ २८ ॥

विरहाग्नि से संतप्त मनुष्य का अहङ्कार नष्ट होजाता है अहङ्कारभाव से मुक्त होकर ही भक्त इष्टदेव को प्राप्त करता है।

कर्तव्यं प्रेमभावेन सेवायै स्वसमर्पणम् ।
स्वकृतं कर्म कर्तव्यं अर्पित प्रभवे मुदा ॥ २९ ॥

प्रेमभाव से सेवा के लिये आत्मसमर्पण कर देना चाहिए और अपने किये हुए कर्म को भी प्रसन्नता से भगवान् को अर्पित कर देना चाहिये।

---

† स्वामी श्री रामकृष्णजी महाराज ईश्वर को मा २ कह कर पुकारा करते थे।

न भवेत्तार्किको भक्तः तर्काधारो मतो हि स ।
तर्के तु स्थिरताभावः भक्तौ स्थैर्यमपेक्ष्यते ॥ ३० ॥

तार्किक पुरुष तो तर्क के आधार को ही मानता है और तर्क में स्थिरता का अभाव है अतः तार्किक भक्त नहीं हो सकता, भक्ति में तो स्थिरता की अपेक्षा होती है ।

समत्वं मरणामीति र्दयावत्त्वोपकारिता ।
नित्यास्पदमभीषां यः प्रभोर्भक्तः स एव हि ॥ ३१ ॥

जिस मे समता, मौत से न डरना, दयालुता एवं उपकारिता का नित्य निवास हो वही प्रभु का भक्त है ।

सात्विकी भक्तिरेवस्या द्देवानां तुष्टिकारिका ।
दिव्यभावयुता देवा न देवा पाञ्चभौतिकाः ॥ ३२ ॥

सात्विकी भक्ति से ही देवता प्रसन्न होते हैं दिव्यभाव से युक्त ही देवता होते हैं देवता पाञ्चभौतिक नहीं होते ।

भक्तिमार्गपराकाष्ठा पूर्णमद्वैतभावना ।
गोपीकृष्णमहारासे यथा सावलोक्यते ॥ ३३ ॥

पूर्ण अद्वैत की भावना ही भक्तिमार्ग की पराकाष्ठा है ऐसी पराकाष्ठा गोपियों के साथ कृष्ण के महारास में दृष्टिगोचर होती है ।

लोके भक्तिर्द्विधा प्रोक्ता वैधी रागानुगा तथा ।
शास्त्रैर्नियमिता वैधी निर्बन्धा च द्वितीयका ॥ ३४ ॥

संसार में भक्ति दो प्रकार की होती है वैधी और रागानुगा । शास्त्रों के नियमों के अनुसार की जाने वाली पहली

भक्ति तो वैधी और शास्त्रबन्धन से रहित किसी के प्रेम के बदले में की जाने वाली दूसरी 'रागानुगा' नाम की भक्ति है।

भक्तिशब्देन नोच्येते अनुरागश्च प्रेम च।
हरावेवानुरागो हि भक्तिशब्देन सम्मतः ॥ ३५ ॥

सांसारिक अनुराग और प्रेम को भक्ति नहीं कहते हैं। भगवान् में जो अनुराग होता है वही भक्ति कहलाती है।

भार्यात्मजादिनिष्ठोऽपि स्नेहोऽनुराग उच्यते।
सद्भिः मोहादिमूलत्वाद् दूषकैः दूषितः सदा ॥ ३६ ॥

स्त्री एवं पुत्र आदि से किया जाने वाला प्रेम भी अनुराग कहलाता है परन्तु मोह आदि का मूलकारण होने से सज्जन पुरुष सदा इसकी निन्दा करते हैं।

विद्यतेऽनन्यता यस्मिन् सस्नेहो भक्तिभावतः।
पित्रोर्देवे गुरावीशे प्रशस्यः स तथाविधः ॥ ३७ ॥

जिसमें अनन्यता हो वह भक्तिभाव से उत्पन्न होने वाला स्नेह है ऐसा अनन्य स्नेह पिता, देवता, गुरु एवं ईश्वर से होने पर प्रशंसनीय होता है *।

दृश्यते व्यभिचारित्व मन्ययोगेषु वस्तुतः।
भक्तियोगे तु तन्नास्ति स्वामिसेवापरायणे ॥ ३८ ॥

* भक्ति भाव से उत्पन्न हुआ स्नेह जैसा माता, पिता, गुरु देवता और ईश्वर में वैसा अन्य किसी में न हो उसको अनन्यभक्तिस्नेह कहते हैं।

यद्यपि अन्य योगों में व्यभिचारी भाव दृष्टिगोचर होता है परन्तु स्वामी की सेवा में परायण भक्तियोग में उसका नितान्त अभाव है *।

शुद्धं प्रेम भवेद्यस्य हृदये भक्त एव स ।
नश्यति निर्गुणं नैव सगुणं प्रेम नश्यति ॥ ३९ ॥

जिस के हृदय में शुद्ध प्रेम हो वही सच्चा भक्त है निष्काम प्रेम कभी क्षीण नहीं होता परन्तु सकाम प्रेम कामना की पूर्ति न होने पर नष्ट हो जाता है अर्थात् पूज्यभाव का प्रेम तो स्थायी रहता है और स्वार्थ का प्रेम अवश्य नष्ट हो जाता है।

समाने स्नेहशब्देन वात्सल्येन कनिष्ठके ।
महति भक्तिशब्देन प्रेमैवैकं प्रयुज्यते ॥ ४० ॥

एक ही प्रेम समान के साथ होने पर स्नेह, छोटों के साथ होने पर वात्सल्य एवं बड़ों के साथ होने पर भक्ति कहलाता है।

स्वेष्टमग्नो यदा लोको गायत्युच्चैर्लयानुगम् ।
प्रभोरेव गुणग्रामं स्थैर्यं याति मनस्तदा ॥ ४१ ॥

मनुष्य जब अपने इष्टदेव के ध्यान में मग्न होकर उनके गुणसमूह का ही उच्चस्वर से लय के साथ गान करता है तब मन अपने इष्टदर्शन में स्थिर हो जाता है अर्थात् जब कोई भी मनुष्य प्रेमभाव से प्रसन्न होकर आलापसहित उच्चस्वर से प्रभुगान करता है तो उसका मन एकाग्र हो जाता है और अमृतरस पान में मग्न हो जाता है।

---

* एक को छोड़कर दूसरे में होने वाले प्रेम भाव का नाम व्यभिचारी प्रेमभाव है, स्वामी के भक्तियोग में ऐसा दोष होता ही नहीं है।

यद्यपि रसशब्दस्य ब्रह्मानन्दोऽर्थं इष्यते ।
परमाकृष्यते लोकैः काम्यभोगसुखेष्वपि ॥ ४२ ॥

यद्यपि रस का शब्दार्थ ब्रह्मानन्द है परन्तु लोग इसका अर्थ काम्य भोगों के सुखों में भी खींचतान करके करते हैं।

वेदरूपस्तु कृष्णोऽस्ति श्रुतिरूपाश्च गोपिकाः ।
वेदज्ञानरसानन्दं वर्षन्ति तास्त्वनेकधा ॥ ४३ ॥

कृष्ण वेदरूप है और गोपियां ऋचा रूप हैं अतः वे वेद ज्ञान रूप रस के आनन्द की नाना प्रकार से वर्षा करती हैं।

आकर्षणात्तु कृष्णोऽस्ति रसस्यपूर्णमाश्रयः ।
पर कामरसाभासो दृश्यतेऽत्राविवेकिभिः ॥ ४४ ॥

आकर्षण करने से ही रस के पूर्ण आश्रय को 'कृष्ण' कहते हैं परन्तु अज्ञानी पुरुषों को कृष्ण में कामरस का आभास दृष्टिगोचर होता है *।

राधया सहितः कृष्णो राधाकृष्णस्तु गीयते ।
राधारकारराहित्या दाधाकृष्णो भवत्यहो ॥ ४५ ॥

राधा के सहित कृष्ण ही राधाकृष्ण कहलाता है जरा राधा के र को हटाइये (र्+आधाकृष्ण) आधा कृष्ण ही शेष रह जायगा।

राध्या वा राधिका राधा कृष्णस्य शास्वती प्रिया ।
कृष्णावतार सिद्धीना माद्या सिद्धिस्तु राधिका ॥ ४६ ॥

* कर्षति इति कृष्णः ।

राध्या, राधिका अथवा राधा, कृष्ण की शास्वत् प्रेमिका है। कृष्णावतार की सिद्धियों में प्रथमसिद्धि राधिका है।

आद्यं ज्योतिर्हि सैवास्ति महाविद्यापि सोच्यते।
शक्तिश्च प्रकृतिः सैव योगमायापि सा मता ॥ ४७ ॥

इसे ही आद्याज्योति, महाविद्या, शक्ति, प्रकृति और योग-माया भी कहते हैं।

सीता राधा च गौरी च पार्वती च सरस्वती।
लक्ष्मीरिमाः समस्ता वै महाशक्त्य ईरिताः ॥ ४८ ॥

सीता, राधा, गौरी, पार्वती, सरस्वती, लक्ष्मी ये समस्त महाशक्तियां है।

एकश्चेदुच्यते कृष्णो ह्यर्ध एव निरर्थकः।
शक्त्या च सहितः पूर्णः राधाकृष्णं भजेदतः ॥४९॥

यदि अकेले कृष्ण नाम का उच्चारण किया जाता है तो वह आधा एवं निरर्थक है वह तो शक्ति के सान्निध्य से ही पूर्ण होता है अतः राधाकृष्ण का भजन करना चाहिये।

यज्ज्ञानं कथितं तत्तु सर्वत्र हरिदर्शनम्।
हरेर्ध्यानन्तु जानीयान्मनोवृत्तेः प्रणाशनम् ॥ ५० ॥

यह जो ज्ञान बतलाया है वह सर्वत्र हरि का दर्शन करना ही है ईश्वर का ध्यान ही मनोवृत्ति का नाशक है।

सर्वताभावतः स्वस्य परमात्मसमर्पणम्।
ईश्वरप्रणिधानन्तत् समाधिः साध्यते ततः ॥ ५१ ॥

सर्वतोभाव से अपने आप को परमात्मा के समर्पित कर देना ही ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। फिर प्रणिधान से ही समाधि लगती है।

जायते जीव आनन्दात तेनैव वृद्धिमेति च ।
आनन्देहि लयञ्चेति तेनानन्दाय चेष्टते ॥ ५२ ॥

जीव आनन्द से उत्पन्न होता है उसी से वृद्धि को प्राप्त करता है और उस आनन्द में ही लीन हो जाता है इसलिये आनन्द के लिये चेष्टा करता है।

सच्चिदानन्दरूपस्य जीवोंऽशः परमात्मनः ।
तद्वियोगी तदानन्दा वाप्तये व्याकुलः पुनः ॥ ५३ ॥

जीव सच्चिदानन्द परमात्मा का ही अंश है उस परमात्मा का उपाधिरूप वियोग होने पर फिर उस का संयोगरूप आनन्द पाने के लिये छटपटाता रहता है।

श्रवणं कीर्तन चिन्ता पादसेवनमर्चनम् ।
वन्दनं दास्यसख्ये च तथा चात्मनिवेदनम् ॥ ५४ ॥
स्वल्पायासेन साध्या वै भक्तिर्हि नवधा कलौ ।
एतासामेकया वापि जीवस्तरति संसृतिम् ॥ ५५ ॥

इस कलियुग में श्रवण, कीर्तन, चिन्तन, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप नौ प्रकार की भक्ति थोड़े ही परिश्रम से साध्य है अथवा इनमें से किसी एक का भी साधन कर जीवात्मा संसारसमुद्र को पार कर लेता है।

अभ्यासं नवधाभक्ते रेवं भक्तः करोति चेत् ।
सालोक्यादि चतुर्भेदां मुक्तिं प्राप्नोति मानवः ॥ ५६ ॥

जो भक्त मनुष्य इस प्रकार नवधाभक्ति का अभ्यास करता है वह सालोक्य आदि चार भेदों से युक्त मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

श्वासस्य गतिभिस्सार्धं हरेर्नाम स्मरेद् हृदा ।
एकतानेन नित्यं यः सोऽवश्यं हरिमाप्नुयात् ॥ ५७ ॥

जो नित्य एकाग्र चित्त से श्वास की गति के साथ हरि के नाम का स्मरण करता है वह अवश्य हरि को प्राप्त कर लेता है।

रामं दाशरथिं भक्तो यो भजेद् ब्रह्मरूपिणम् ।
साक्षात् सर्वगतं ज्ञात्वा सोऽस्ति शांतरसाश्रितः ॥ ५८ ॥

जो भक्त ब्रह्मरूप एवं साक्षात् सर्वान्तर्यामी जानकर दशरथ पुत्र श्रीराम का भजन करता है वही 'शान्तभाव' से युक्त है।

श्रीरामं करुणासिन्धुं भक्तरक्षक भावतः ।
भक्तो यो भजते सैव दासभावरसाश्रितः ॥ ५९ ॥

जो भक्त, करुणासिन्धु श्रीराम का 'भक्त रक्षकभाव से' भजन करता है, वही दासभाव से युक्त है।

श्रीरघुनन्दनं यो हि भजते मित्रभावतः ।
यथार्जुनो घनश्यामं सख्यभावाश्रितो हि सः ॥ ६० ॥

जो श्री रघुनन्दन का 'कृष्ण का अर्जुन की भांति' मित्र-भाव से भजन करता है वह सख्यभाव से युक्त होता है।

कोटिकन्दर्पदर्पघ्नं यो वै श्रीरघुनन्दनम् ।
भजतीव प्रियं पत्नी माधुर्यभावभागसौ ॥ ६१ ॥

जो कोटि काम देवों के अभिमान का चूर्ण करने वाले प्रिय रघुनन्दन का 'पत्नी रूप में भजन करता है' वही माधुर्य भाव से से युक्त होता है।

सुन्दरं कोमलाङ्गं यः परमानन्ददं भजेत् ।
यथार्भकं पिता स्वेष्टं स वात्सल्यरसाश्रितः ॥ ६२ ॥

जो सुन्दर, कोमल अङ्गयुक्त परम आनन्द देने वाले रघु-नन्दन का 'पिता जैसे प्रिय पुत्र से प्रेम करता है', उसी प्रकार प्रेम करता हुआ भजन करता है वही वात्सल्यरस से युक्त होता है।

यथा हि भक्तराजेन ध्रुवेणाद्या सुसाधिता ।
तथा रागानुगाभक्ति गोंपीभिः समुपासिता ॥ ६३ ॥

जैसे भक्तराज ध्रुव ने प्राथमिक भक्ति की उपासना की थी वैसे ही गोपियों ने भी रागानुगामिनी भक्ति की थी।

सन्ति सर्वे समाविष्टाः प्राणिनां भावजारसाः ।
एषु पञ्चेष्वत एव भक्तिः पञ्चरसाश्रिता ॥ ६४ ॥

प्राणिमात्र के सम्पूर्ण भावों से उत्पन्न होने वाले रस इन पांच भावों में ही समाविष्ट हो जाते हैं अतः भक्ति इन पांच रसों से ही युक्त है।

हरिभक्तिसमानैव गुरौ भक्तिर्यदा भवेत् ।
तदैव सिद्धिमायान्ति सर्वकर्माणि भक्तितः ॥ ६५ ॥

हरि की भक्ति के समान ही जब गुरु में भी किसी की भक्ति हो जाती है तब उस भक्ति के प्रभाव से भक्त के सम्पूर्ण काम सिद्ध हो जाते हैं।

नानुभूतिर्विभक्तीनां भवेद्यस्यां स्थितौ यदा ।
सर्वत्र समदृष्टिः स्यात् सद्भक्तिर्जायते तदा ॥ ६६ ॥

जिस स्थिति में भेदभाव और पृथक्ता का आवरण मन में न रहे और सब को समदृष्टि से देखने लगे तव समझना चाहिये कि सद्भक्ति उत्पन्न हो गई है।

मनसो निग्रहे नूनं भक्तेश्च साधने तथा ।
सर्वथा फलदात्री तु प्रपत्तिः शरणागतिः ॥ ६७ ॥

मन को वश में करने के लिये तथा भक्ति के साधन के लिये निश्चय ही प्रपत्ति अर्थात् शरणागति सर्वथा फल देने वाली है।

जानन्नर्थमजानन्वा यो भजेद् दृढभावतः ।
इष्टं स प्राप्नुयान्नूनं अर्थः किङ्करतामियात् ॥ ६८ ॥

जो अर्थ को समझकर अथवा विना समझे दृढ़ भाव से भजन करता है वह इष्ट को अवश्यमेव प्राप्त कर लेता है। अर्थ उसका किङ्कर अर्थात् सेवक वन जाता है अर्थात् शुद्ध भाव की दृढ़भक्ति विना समझे भी सिद्धि देने वाली है।

सन्निहितो हि सर्वेषा मात्मा तु भगवान् स्वयम् ।
विश्वासो दुर्लभस्तस्मिन् तदर्थं सर्वसाधनम् ॥ ६९ ॥

सब के अत्यन्त निकट रहने वाला आत्मा ही स्वयं भगवान् है परन्तु उसमें विश्वास होना दुर्लभ है और इस ही में विश्वास उत्पन्न करने के लिये सब साधनायें की जाती हैं अर्थात् शुद्धात्मा (परमात्मा) ही ईश्वर है।

न बुद्ध्या नोपदेशेन तर्काद्वा श्रवणादपि ।
लभ्यते नान्तरात्मायं हरेरेव कृपां विना ॥ ७० ॥

भगवान् की कृपा के विना बुद्धि से उपदेश से तथा तर्क व श्रवण आदि से भी इस अन्तरात्मा की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् भक्तवत्सल भगवान् की कृपा के विना अन्य उपायों से मनुष्य को आत्मज्ञान (आत्मावलम्बन) की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है।

सर्वापत्तिविनाशाय प्रधाना भगवत्कृपा ।
सा कृपा परनाम्नास्ति सदिच्छा लक्ष्यसाधने ॥ ७१ ॥

सम्पूर्ण आपत्तियों के विनाश के लिये भगवान् की कृपा प्रधान साधन है।

किसी लक्ष्य के सिद्ध करने के वास्ते जो हमारे हृदय में सदिच्छा अर्थात् दृढ़ इच्छा (पक्के शौक) की उत्पत्ति है उस ही का दूसरा नाम सदिच्छा (सच्ची लगन) है जो कि विना ईश्वर की कृपा के हो ही नहीं सकती है।

पराऽप्रपत्तिभावेन कर्तव्य स्वावलम्बनम् ।
उन्नते कारणन्तद्धि तदेव देवपूजनम् ॥ ७२ ॥

परावलम्बन के भाव को त्याग कर स्वावलम्बन करना चाहिये। वही उन्नति का कारण है और वही देवपूजन है।

स्वेष्टदेवे गुरौ चापि विश्वासस्यदृढास्थिति ।
भक्तेः प्रथमसोपानं सर्वथा बुधसम्मतम् ॥ ७३ ॥

अपने इष्टदेव और गुरु में अपने विश्वास का दृढ़ हो जाना ही भक्ति का प्रथम सोपान है। विश्वास ही प्रेम और भक्ति की पहली सीढ़ी है।

दुःखितो परदुःखेन ह्यवश्यं स्वस्य दुःखवत् ।
भवाम्यहं स्वभावेन कापट्यं नो भवेद्यदि ॥ ७४ ॥

यदि कपटभाव मन में न हो तो मैं स्वभाव से ही अपने :ख की भाँति दूसरे के दुःख से अवश्यमेव दुःखी हो ता हूं * ।

प्राप्तं नैवेश्वरः शक्यो विश्वासे दृढतां विना ।
प्राप्यते दृढविश्वासो दैवाच्च ज्ञानसञ्चयात् ॥ ७५ ॥

दृढ़विश्वास के विना ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है रन्तु उस दृढ़ विश्वास की प्राप्ति भी भाग्य से और ज्ञानसञ्चय ी होती है ।

सध्याननामजापेन भावे दार्ढ्यं यदा भवेत् ।
सैवेश्वरकृपा ज्ञेया दृढेच्छा सर्वसिद्धिदा ॥ ७६ ॥

ध्यानपूर्वक नाम जप करने से जब भाव में दृढ़ता हो जावे, ही ईश्वर की कृपा जानो क्योंकि दृढ़ इच्छा ही सम्पूर्ण सिद्धियों को जन्म देने वाली है ।

सुजाते दृढविश्वासे विश्वाससाधको भवेत् ।
नश्यत्यहम्मतिस्तेन योगसारोऽयमेव हि ॥ ७७ ॥

दृढ़विश्वास उत्पन्न हो जाने पर अहम्बुद्धि का विनाश हो ाता है तथा विश्वास ही सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करता है ीर यही योग का सार है † ।

ऐसा ही सब मनुष्यों के हृदय में आत्मैक्य का भाव होता है ।

† दृढ विश्वास ही सब कामों का साधक है ।

लोकैषणा विहीना तु निष्कामा भक्तिरुच्यते ।
सकामा स्वार्थभक्ति स्यात् संसारे भोगसाधिका ॥ ७८ ॥

निष्काम भक्ति लोकैषणा से रहित होती है और सकाम भक्ति स्वार्थ से युक्त एवं सांसारिक भोगों का प्रदान करने वाली होती है † ।

कल्पयेदन्तरिक्षे हि रूपं भगवतस्सदा ।
पूर्वं ध्यायेत्तदङ्गानि सर्वांमूर्त्तिन्ततः परम् ॥ ७९ ॥

सदा भगवान् के रूप की अन्तरिक्ष में कल्पना करे और सर्व प्रथम अङ्गों का ध्यान करे तत्पश्चात् सम्पूर्ण मूर्ति का ध्यान करे ।

नाम्नैव ध्यायते कोऽपि नानामा कश्चिदुच्यते ।
नाम्नैवाकृष्यते नामी जपेन्नामानि सन्ततः ॥ ८० ॥

नाम से ही किसी का ध्यान होता है विना नाम के कोई पुकारा नहीं जाता। नामी का नाम से ही आकर्षण होता है अतः निरन्तर नाम जप करे ।

न जात्याः सम्प्रदायाच्च न लिङ्गन्न च सेवनात् ।
भक्तस्तु केवलं भूयान् मनोभावसमर्पणात् ॥ ८१ ॥

जाति भेद, सम्प्रदाय भेद, वेष भूषा एवं सेवा आदि से भक्त नहीं बन सकता है भक्त तो केवल मनोभाव के समर्पण से ही होता है ।

---

† संसार में वित्तैषणा, सुतैषणा एवं लोकैषणा से बचकर निकलना महान् कठिन कार्य है यों तो भक्त प्रथम दो एषणाओं से जैसे तैसे छूट जाता है परन्तु लोकैषणा मनरूपी गुफा में छिपी रह जाती है अतः यहां उसका निर्देश किया गया है ।

ज्ञानी स्वात्मबलं श्रित्वा मुक्तिमेवाधिगच्छति ।
प्रत्यक्षं कुरुते भक्तो हरिं स्वात्मसमर्पणात् ॥ ८२ ॥

ज्ञानी तो आत्मबल के सहारे मुक्ति को ही प्राप्त करता है परन्तु भक्त भगवान् को आत्मसमर्पण करके प्रत्यक्ष कर लेता है।

यथालस्यकरत्वाद्धि निकृष्टोऽस्ति तमोगुणः ।
परन्तु दुष्करारम्भे ह्यालस्यं सुफलप्रदम् ॥ ८३ ॥

यों तो तमोगुण आलस्य का जन्मदाता होने से निकृष्ट है परन्तु दुष्ट कार्य के प्रारम्भ करते समय यह आलस्य ही उत्तम फल प्रदान करता है।

कर्तव्यं परमार्थाय देहरक्षणहेतवे ।
भोगेच्छया न कर्तव्यं खानपानञ्च मैथुनम् ॥ ८४ ॥

देह की रक्षा के हेतु एवं परमार्थ के लिये ही खान, पान एवं मैथुन करे, भोगविलास की इच्छा से नहीं ।

केवलं स्वीय पत्न्यां हि पित्रर्णमुक्तिहेतुकम् ।
विहितं मैथुनं यद्वै कपोतबलिरुच्यते ॥ ८५ ॥

केवल अपनी पत्नी में ही पितृऋण से छुटकारा पाने के लिये किया गया मैथुन 'कपोतबलि' कहलाता है।

केवलं देहरक्षाया अन्नं सात्विकमाहरेत् ।
जिह्वालौल्यं विहायैतत् छागलाक्षणिको बलिः ॥ ८६ ॥

जिह्वालौल्य (चटोरापन) का परित्याग कर जो केवल मात्र देह की रक्षा के लिये सात्विक अन्न का भोजन किया जाता है वही 'छागबलि' कहलाती है।

सुगुणश्रुतिसञ्जातः पूर्वरागोऽभिधीयते ।
दर्शनानन्तरं यः स्यात् सोऽनुरागः समीरितः ॥ ८७ ॥

उत्तम गुणों के श्रवण से उत्पन्न राग पूर्वराग कहलाता है और दर्शन कर लेने के अनन्तर जो राग होता है वह अनुराग कहलाता है।

भावानन्द निमग्नत्वात् भाविन्यो निखिला दशाः ।
व्यञ्जयित्र्यै भक्तिमूर्त्यै मीरायै प्रणतिर्मम ॥ ८८ ॥

भावानन्द में लीन होने पर उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण अवस्थाओं को प्रकट करने वाली भक्तिस्वरूपा श्री मीरांबाई को मेरा प्रेमपूर्वक प्रणाम है * ।

सहजः सुगमः स्वर्ग्यो भक्तेः पन्थाः सदैव हि ।
विज्ञाज्ञबालवृद्धादि सर्वेभ्यः सुगमः सदा ॥ ८९ ॥

भक्तिमार्ग सदैव प्राकृतिक, सुगम स्वर्ग में पहुँचाने वाला, ज्ञानी, अल्पज्ञ, बालक, वृद्ध आदि सभी के लिये सदा सुगम है।

अशान्तिक्लेशभीतानां विपदाविलचेतसाम् ।
ईश्वर एव मन्तव्यः प्राणिनामन्तिमाश्रयः ॥ ९० ॥

अशान्ति एवं क्लेश से भयभीत तथा आपत्तियों के कारण मलीन मानस वाले प्राणियों का अन्तिम आश्रय ईश्वर ही है ऐसा मानो † ।

---

* भवावेश में नृत्य गान करते हुए श्री मीरबांई ही अलौकिक आनन्द का अनुभव प्रकट करने में समर्थ हुई थी वरना उसका तो गूंगे के गुड़ की भांति खाने वाले को ही पता लगता है वर्णन नहीं किया जा सकता है।

† जब मनुष्य क्लेश और अशान्ति से भयभीत हो जाते हैं एवं विपत्तियों से विह्वल और किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाते हैं । उस वक्त उनको

यस्य कस्यापि यस्मिन् स्यात् दम्भभावविवर्जिता ।
निष्कामा शुद्धभावोत्था या भक्तिः सा दृढाभवेत् । ६१॥

जिस किसी की भी जिस किसी में दम्भभाव से रहित शुद्ध भाव से उत्पन्न जो निष्काम भक्ति होती है वह दृढ़ होती है ।

पुंस्त्रीनंपुसकाख्यानां कस्माच्चिदपि नामतः ।
अलिङ्गो भगवान् पूज्यः श्रद्धया भक्तमानवैः ॥ ६२ ॥

भक्तपुरुषों को श्रद्धापूर्वक पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक लिङ्गों में से किसी भी नाम से अलिङ्ग (लिङ्ग भेद से रहित) भगवान् का पूजन करना चाहिये ।

अनन्यभावतः सर्वो मन्येत स्वेष्टदेवताम् ।
न कस्याप्यन्यदेवस्य परम्भूयादसूयकः ॥ ६३ ॥

सभी अपने इष्टदेव को अनन्य भाव से मानते रहें परन्तु किसी अन्य देव की निन्दा न करें ।

संसारवस्तुभोगेच्छा परित्यागिजनं स्वयम् ।
प्रसन्न ईश्वरो भूया द्भावेऽपि चेदुदारता ॥ ६३ ॥

जिस पुरुष ने स्वयं संसार की वस्तुओं के उपभोग की इच्छा का परित्याग कर दिया है उसके भाव में उदारता होने पर भगवान् उस पर प्रसन्न हो जाता है ।

धैर्यदान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता है । प्राणियों का अन्तिम आश्रय तो अगाध शान्तिसागर ईश्वर ही को मानना चाहिये । यह नास्तिकों का भी शरणदाता है ।

भावादेव सुसिद्धिः स्यात् मन्त्रयन्त्रजपादिषु ।
तपो होमादिका व्यर्थाः क्रिया भावविवर्जिताः ॥ ९५ ॥

मन्त्र यन्त्र एवं जप आदि में भाव से ही सिद्धि होती है अतः भाव रहित होने पर तप होम आदि सम्पूर्ण क्रियाएं व्यर्थ हैं।

बाह्यान्तरप्रकारेण पूजनं द्विविधं मतम् ।
आन्तरं मनसाकार्यं बाह्य विविधवस्तुभिः ॥ ९६ ॥
अनभ्यस्ते बहिर्यागेऽन्तर्यागोः सुदुष्करः ।
तस्मादादौ बहिः साध्यः पजादिकरणान्वितः ॥ ९७ ॥
सन्ति पञ्च तदङ्गानि जपो होमश्च तर्पणम् ।
शास्त्रांतरेषु ख्यातानि मार्जनं ब्रह्मभोजनम् ॥ ९८ ॥

बाह्य एवं अन्तर भेद से पूजन दो प्रकार का है आन्तर पूजन मन से एवं बाह्य पूजन विविध वस्तुओं से होता है। बहिर्याग का अभ्यास किये बिना आन्तरयाग नहीं हो सकता अतः पहले पूजा आदि की सामग्री से युक्त बहिर्याग करना चाहिये। इस बहिर्याग के जप, होम, तर्पण, मार्जन एवं ब्रह्म-भोजन ये ५ पांच अंग है इनका वर्णन दूसरे शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

अन्तर्यागस्य पञ्चैवा प्येवमङ्गानि सन्ति हि ।
पटल पद्धतिर्वर्म स्तोत्रं सहस्रनामकम् ॥ ९९ ॥

अन्तर्याग के भी पटल, पद्धति, वर्म, स्तोत्र, सहस्रनाम ये पॉच अङ्ग हैं।

अन्तर्यागो बहिर्यागो द्वौ यागौ पूजने हितौ ।
विस्तराद् वर्णनन्त्वत्र ग्रंथवृद्धिभयप्रदम् ॥ १०० ॥

अन्तर्याग एवं बहिर्याग ये दोनों याग पूजन में लाभदायक हैं परन्तु यहाँ उनका विस्तार से वर्णन करना ग्रन्थवृद्धि रूप भय को प्रदान करने वाला है ।

अन्तिमं नवधाभक्तौ ख्यातमात्मनिवेदनम् ।
सर्वेषां शेषभेदानां समावेशोऽत्र सम्भवेत् ॥ १०१ ॥

नवधाभक्ति का जो अन्तिम भेद आत्मनिवेदन है यही विशेष प्रसिद्ध है भक्ति के अवशिष्ट आठ भेदों का समावेश इस ही आत्मनिवेदन के अन्दर हो सकता है ।

भक्त्यैव स्वामिनः शक्तिं समाकर्षति मानवः ।
भक्तिभावन्ततः प्राप्य सर्वमान्यो भवेत्सुधीः ॥ १०२ ॥

मनुष्य भक्ति के द्वारा ही अपने स्वामी की शक्ति को खींच लेता है अर्थात् अत्युग्र पुरुष या भगवान् को अपने वश में कर लेता है अतः सुबुद्धिजन को चाहिए कि भक्ति के भाव को रख करके ही सर्वमान्य हो जावे ।

भगवद्भक्तिरसं पीत्वा भवन्तु प्रेममूर्च्छिताः ।
इत्थं हि प्राप्नुयुः सिद्धीः सिद्धिकामा नरा भुवि ॥१०३॥

भगवद्भक्तिरूपी रस को पीकर मनुष्य प्रेममूर्च्छित होवे जो लोग सिद्धियों की कामना रखते हैं संसार में इस प्रकार वह सिद्धियों को प्राप्त करें । शम् ॥

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वखन्यां अध्यात्मविद्यायां
भक्तियोगनिरूपणन्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

* योगशास्त्रम् (पूर्वार्धः) *

त्रिकोशैरावृतो जीवः संसारे सम्प्रजायते ।
वर्ष्मैव कारणं सूक्ष्मं स्थूलश्च कोष उच्यते ॥ १ ॥

यही जीवात्मा तीन कोशों से घिरी हुई ही जन्म लेती है कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीर ही कोष कहलाते हैं ।

विहाराहारसङ्कल्पाः यस्य स्युः संयताः सदा ।
सम्यग्योगी भवेत्सैव सयमेन विना वृथा ॥ २ ॥

जिसके आहार, विहार और सङ्कल्प सदा संयत रहते हैं वही पूर्ण योगी होता है । संयम विना योगसाधन वृथा है ।

स्वस्थः शान्तोपरागः स्यात् चित्तवृत्तिनिरोधनः ।
अभ्यासाच्चापि वैराग्यात् चित्तवृत्तिश्च रुध्यते ॥ ३ ॥

मनोवृत्ति के निरोध के जरिये मनुष्य स्वस्थ तथा निर्मल-वृत्ति होता है और मनोवृत्ति का निरोध अभ्यास तथा सांसारिक विषय भोगों की एषणाओं में विरक्ति से होता है ।

चित्तस्पन्दनराहित्या देवात्मदर्शनं भवेत् ।
योगादेव च तद्भूया च्छान्तस्य विरतस्य च ॥ ४ ॥

चित्त के स्पन्दनशून्य होने से ही आत्मदर्शन (आत्म-स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति का योग) होता है । शान्त एवं विषय-भोगों से पराङ्मुख लोगों का चित्त ही यौगिक क्रियाओं से स्पन्दनशून्य (स्थिर) होता है ।

निरुद्ध्य चित्तवृत्तीर्यः करोति स्वेष्टसाधनाम् ।
लक्ष्यप्राप्तिस्तदा भूयात् सत्तमः क्लिष्टसाधने ॥ ५ ॥

जो मनोवृत्तियों को वश में करके ही अपनी इष्टप्राप्ति की साधना करता है उसे ही लक्ष्यप्राप्ति होती है और वही योग जैसे शुष्क नीरस व कठोर कार्य के करने में समर्थ है ।

निरुद्ध वाह्यवृत्तीद मलं द्रष्टुम्मनोऽन्तरम् ।
पश्यत्तद् वाह्यवस्तूनि किञ्चित् पश्यति नान्तरे ॥ ६ ॥

रुकी हुई वाह्यवृत्ति वाला यह मन ही अध्यात्मदर्शन करने में समर्थ होता है । जब तक यह वाह्य पदार्थों को देखता रहता है तब तक अन्तर्दर्शन किसी भी भाँति नहीं कर सकता है ।

काठिन्येन मनोरोधः क्रियते योगकर्मसु ।
मूढस्य रागिणोनुस्तु क्रियाः सर्वा हि निष्फलाः ॥ ७ ॥

योग क्रियाओं के सम्पादन में मनोरोध बड़ी कठिनता से होता है । विशेष कर अज्ञानी और विषयाभिलाषी मनुष्य की तो सारी क्रियाएं व्यर्थ जाती हैं † ।

---

† योग का अर्थ ही "जोड़" है जब तक हमें अभीप्सित विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तथा दूसरे सम्बन्धों से हमारा छुटकारा नहीं होगा तब तक इस से 'योग' कैसे हो सकेगा ।

बाह्यवृत्तीर्निरुद्ध्यैव दृष्ट्वान्तश्चक्षुषा हृदि ।
शुद्धान्तर्मानवोऽवश्यं द्रक्ष्यति हृत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

सांसारिक पदार्थों से दृष्टि हटा कर अन्तश्चक्षु (ज्ञान नेत्र) से हृदय में झांकने पर ही शुद्ध चेता मानव हृदय को आलोकित करने वाली आत्मज्योति से साक्षात्कार कर सकेगा ।

मनसः स्वच्छता ह्येषा अभ्यासादनुभूयते ।
दीपवद् हृदयज्योति ध्यानारूढेन योगिना ॥ ९ ॥

दीप तुल्य प्रकाशित हृदयज्योति रूप यह मन की स्वच्छता ध्यानावस्थित योगी के अनुभव में ही चिराभ्यास से आती है ।

नियमात्सर्वकार्याणि विधातव्यानि मानवैः ।
शौचं स्नानादने पानं ध्यानं गानञ्च वर्तनम् ॥ १० ॥

शौच स्नान भोजन पान ध्यान गायन आदि सभी व्यवहार नियम-पूर्वक किये जाने चाहिये ।

सूर्यादयो ग्रहाः सर्वे चलन्ति नियमे स्थिता ।
फलन्ति नियमाद् वृक्षाः सर्वत्र नियमोऽग्रणीः ॥ ११ ॥

सूर्यादि ग्रह अपने कक्षावृत्त में नियम में स्थित रह कर ही भ्रमण करते हैं । वृक्ष ऋतु के अनुसार ही नियम पूर्वक फलते-फूलते हैं । इस प्रकार प्रकृति में सभी स्थानों पर नियम ही नियामक है ।

चलन्ति नियमादेव वाष्पगन्त्र्यादिकानि वै ।
नियमेन च्युतो यस्तु च्युतो भूयान्न संशयः ॥ १२ ॥

रेलगाड़ी आदि यन्त्र-वाहन नियम से ही चलते हैं। जो नियम से च्युत हो जाता है वह अवश्य च्युत हो जाता है। जैसे पटरी से उतरने पर रेलगाड़ी।

उन्मादश्च हृद्रोगाः श्वासरोगादयस्तथा।
सम्भवन्ति महारोगाः साधने नियमक्षतौ ॥ १३ ॥

उन्माद (पागलपन) हृदय रोग तथा श्वास सभी भयानक २ रोग साधना के नियम में क्षति होने पर साधकों के लग जाते हैं।

सम्प्रदायाश्च पन्थानो भुवने विविधा मताः।
दृश्यन्तेऽयुक्तबोधाद्धि योगतस्त्वेक एव हि ॥ १४ ॥

संसार में तरह २ के सम्प्रदाय पन्थ तथा मत अयुक्त बोध (मिथ्याज्ञान) से ही प्रतीत होते हैं, वस्तुतः "योग" (आत्म-परमात्म प्राप्तिकारक उपाय) एक ही है।

वस्तुस्वरूपबोधाय योगो हि परमं बलम्।
युज्यते योगतः सर्वं भिद्यते चाप्ययोगतः ॥ १५ ॥

वस्तु के वास्तविक रूप के बोध के लिये योग की ही एकमात्र अपेक्षा है। योग से सभी कुछ ठीक होता है तथा अयोग से सभी कुछ बिगड़ जाता है।

समाध्यर्थाद् युजेर्धातो र्योगशब्दः सुसिद्ध्यति।
चित्तवृत्तिनिरोधोऽतो योगेनैव भवेद् ध्रुवम् ॥ १६ ॥

समाधि (चित्तवृत्ति निरोध) अर्थ वाले युजिर् धातु से ही 'योग' शब्द की निष्पत्ति हुई है। अतः योग से निश्चित ही चित्तवृत्ति का निरोध होता है †।

---

† महर्षि पतञ्जलि ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोध." मे योग व चित्त निरोध मे समानाधिकरण द्वारा इस पद को भाव-व्युत्पन्न माना है अर्थात्

यावन्तः परमार्थस्य सन्त्युपायाः महीतले ।
तेषु सर्वेषु चित्तस्य स्थैर्यं प्राथमिकी क्रिया ॥ १७॥
चित्तस्थैर्यं विना लोके किञ्चित् कार्यन्न सिद्धयति ।
चित्तस्यैकाग्रतोपायाः उक्ताः शास्त्रेष्वनेकधाः ॥ १८ ॥

इस पृथ्वी पर परम-तत्त्व की प्राप्ति के जितने भी उपाय हैं इन सब में चित्त की स्थिरता सर्व प्रथम क्रिया है। चित्त के स्थिर हुए विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है, इसलिये शास्त्रकारों ने चित्त की एकाग्रता के अनेक उपाय शास्त्रों में बताये हैं।

अभ्यासाच्चापि वैराग्याद् ध्यानादभिमतस्य च ।
प्राणायामाज्जपाच्चैव चित्तवृत्तिर्निरुध्यते ॥ १९ ॥

प्रत्याहाररूप अभ्यास से, वैराग्य की भावनाओं से अभीष्ट पदार्थ पर मन को केन्द्रित करने से, प्राणायाम से तथा मन्त्रादि के जप से चित्तवृत्ति का निरोध होता है।

मनसा लिप्यते जीवो बुद्धया चैव विमुच्यते ।
राजयोगो विचारेण चित्तवृत्तेस्तु रोधनम् ॥ २० ॥

जीवात्मा मन के साहचर्य से ही संसार में लिप्त होता है तथा बुद्धि (ज्ञान) के सहारे इस से मुक्ति पाता है अतः

योग किसी अवस्था विशेष का नाम है जिसमें सभी चित्तवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। प्रस्तुत पद्य में 'योगेन' इस तृतीयान्त पद द्वारा योग शब्द करण व्युत्पन्न माना गया है जिसका अर्थ हुआ ऐसा उपाय जिससे चित्तवृत्ति निरोध हो, यहां योग क्रियात्मक (Active) संज्ञा है, यह योग के सर्व साधारण में प्रचलित प्रयोग के अनुसार है।

विचार ही जगत् अस्तित्व अनस्त्विवत्व में कारण हुआ। विचारों द्वारा मनोवृत्तियों का निरोध करना ही राजयोग है।

त्रयाणामेव योगानां राजयोगोऽन्तिमं फलम् ।
ज्ञानयोगो महायोगो योगाऽस्त्याध्यात्मिकोऽप्ययम् ॥२१॥

अवशिष्ट तीनों योगों (मन्त्र योग, लययोग, हठयोग) का अन्तिम फल ही राजयोग है, यही ज्ञानयोग है, महायोग है और आध्यात्मिक योग भी यही है।

निरोधेन तु प्राणानां मनसोरोधनं भवेत् ।
यस्मिन् योगविधाने तद् हठयोगोऽभिधीयते ॥ २२ ॥

द्वारा मनोऽवरोधस्य प्राणो यत्र निरुध्यते ।
हठाद् भिन्नक्रम एव राजयोगप्रकीर्तितः ॥ २३ ॥

जिस विधान में प्राणों के निरोध से मन का निरोध हो वह विधान "हठयोग" कहलाता है, किन्तु जहाँ मनोनिरोध द्वारा प्राणों का निरोध किया जाता है हठयोग से भिन्नता लिया हुआ यह विधान राजयोग कहलाता है।

सर्वेषां कर्मणां सिद्धे जन्मसिद्धेश्च देहिनाम् ।
सिद्धेरध्यात्मविद्याया मूलं योगः प्रकीर्तितम् ॥ २४ ॥

प्राणियों के समस्त कार्यों की सिद्धि जन्मसिद्धि तथा अध्यात्मविद्या की सिद्धि का मूल योग ही माना गया है।

साधनाज्जायते सिद्धि र्यथा वृद्धिर्हि वर्षणात् ।
न योगस्तर्कसाध्योऽस्ति क्रियासाध्योऽस्ति केवलम् ॥२५॥

जिस प्रकार वर्षा से वृद्धि होती है वैसे ही साधन से
ाद्धि होती है। योग तर्क द्वारा साध्य नहीं है यह तो केवल
ृया से ही साध्य है।

कर्त्तव्या गुरुसङ्केता द्योगस्य सकलाक्रियाः ।
गुप्ता इति विनाज्ञानं करणा त्सम्भवा त्क्षतिः ॥ २६ ॥

योग की सम्पूर्ण क्रियाएँ गुरु के निर्देश से ही करे। ये
त्यन्त गुप्त होती है, अतः विना जाने इन क्रियाओं को मनमाने
ग से करने पर हानि की पूरी सम्भावना रहती है।

अपरिग्रह सत्ये चाप्य हिंसाऽस्तेयमेव च ।
ब्रह्मचर्यञ्च पञ्चैते यमाः शास्त्रेषु वर्णिताः ॥ २७ ॥

अपरिग्रह (किसी से कुछ भी न लेना) सत्य (मनः वाक्
ार्यक्रम में एकरूपता) अहिंसा (प्राणिमात्र के लिए मन में भी
ोहभाव पैदा न होना) अस्तेय (चोरी न करना) तथा
ह्मचर्य ये शास्त्रों में ५ यम गिनाये गये हैं।

बाह्येन्द्रियाधिपत्याय साधनं यम उच्चते ।
आभ्यन्तरवशीकर्तृ साधनं नियमस्तथा ॥ २८ ॥

बाह्येन्द्रियों को वश में करने के लिए "साधन का नाम यम
ै तथा अन्तरिन्द्रियों को वश में करने के साधन का
ाम नियम है।

स्वाध्यायश्च तपः शौचं सन्तोषश्चेश्वरे तथा ।
प्रणिधानं च पञ्चैते नियमाः शास्त्रवर्णिताः ॥ २९ ॥

स्वाध्याय तप शौच सन्तोष ईश्वरप्रणिधान, ये शास्त्रों में
ताए गए ५ नियम हैं।

अल्पाहारो यमेपूक्तः मुख्यत्वेन नहीतरः ।
नियमानामहिंसापि तथैवोक्ता विवेकिभिः ॥ ३० ॥

यमों मे अल्पाहार (नियमित भोजन) को ही प्रधानता दी गई है किसी अन्य को नहीं । उसी प्रकार विवेकियों ने नियमों मे अहिंसा को प्रधानता दी है ।

योगेच्छुराचरेत्पूर्वं यमाँश्च नियमाँस्तथा ।
प्राणयामादिकं व्यर्थं तयोराचरणं विना ॥ ३१ ॥

योगमार्ग का इच्छुक व्यक्ति पहले यम तथा नियमों का आचरण करे । इन दोनो के आचरण के विना आगे की क्रिया प्राणायाम आदि व्यर्थ हैं ।

चाञ्चल्याद् बध्यते जीवो धैर्ययोगाच्च मुच्यते ।
शरीरं धैर्ययुक्तन्तत् कर्तुं साधनमासनम् ॥ ३२ ॥

जीवात्मा मन की चञ्चलता से बंधता है तथा धैर्य से इस बन्धन से छूट जाता है । अतः शरीर को धैर्ययुक्त करने के लिये उत्तम साधन आसन ही है ।

स्थूलस्यास्य शरीरस्य योगोपयोगिसाधनम् ।
आसनं कथ्यते विज्ञैः सुखस्थित्योपवेशनम् ॥ ३३ ॥

इस स्थूल शरीर को योगोपयोगी बनाने का साधन आसन है जिसका अर्थ सुखपूर्वक बैठना है ।

यस्तिष्ठेद्यामपर्यन्त मेकासने सुखं स्थिरः ।
जानीयादासने सिद्धिं संजातां तत्कृते किल ॥ ३४ ॥

जो व्यक्ति एक आसन पर बराबर १ पहर तक सुखपूर्वक स्थिर रह सकता है उसकी आसनसिद्धि हो गई ऐसा समझो ।

आस्ते स्थिरतया यत्र सुखेनैव तदासनम् ।
मेरुदण्डः शिरोग्रीवा भवेयुरुन्नता स्थिराः ॥ ३५ ॥

जिस स्थिति में स्थिरतापूर्वक सुख से बैठा जा सकता है वही आसन है । इसमें मेरुदण्ड, मस्तक तथा गर्दन ऊंचे तथा स्थिर रहने चाहिये ।

शरीरस्थस्य प्राणस्य योगोपयोगिसाधनम् ।
प्राणायामश्चतुर्थं तत् वहिरङ्गं प्रकीर्तितम् ॥ ३६ ॥

शरीर तथा प्राणों को योग के उपयुक्त वनाने का चतुर्थ साधन प्राणयाम है जो वाह्य अंग है ।

प्राणायामसमारम्भात् पूर्वन्तु साधकोचिता ।
योगाङ्गत्रयपूर्तिर्हि कर्तव्या सिद्धिमिच्छता ॥३७॥

प्राणायाम का आरम्भ करने से पूर्व साधकों के उपयुक्त योग के शेष तीन अंग यम, नियम व आसन की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए । तभी सिद्धि की प्राप्ति होगी ।

अन्तराकर्पणं वायो श्वास इत्यभिधीयते ।
श्वासानिलस्य प्रश्वासो वहिर्निस्सारणं मतः ॥ ३८ ॥

वायु को अन्दर खींचना श्वास कहलाता है तथा श्वास वायु को वाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है ।

रुध्यते हि प्रयत्नेन श्वासप्रश्वासयोर्गतिः ।
यस्मिन् विधौ विधिः सैव प्राणयामोऽभिधीयते ॥ ३९ ॥

जिस विधि से श्वास-प्रश्वास की गति प्रयत्न पूर्वक रोक दी जाती है वह विधि प्राणयाम कहलाती है ।

अन्तराकर्षणं वायो वाह्यतो वामनासया ।
रोधनन्तस्य चैवान्तः पूरक इति कथ्यते ॥ ४० ॥

वहिश्चेत् क्षिप्यते वायुः सैव दक्षिणनासया ।
रुध्यते वहिरेवासौ रेचक इति गीयते ॥ ४१॥

प्रविशेद् वाह्यतोनान्त नान्तरान्निस्सरेद् वहिः ।
वायुर्यस्मिन् विधौ सैव कुम्भक इति गद्यते ॥ ४२ ॥

वायें नासापुट से वायु को अन्दर खींचकर रोकना पूरक कहलाता है, उसी वायु को दाहिने नासापुट से वाहर निकाले जाने पर उस क्रिया को रेचक कहते हैं। इसमें वायु वाहर ही रोकी जाती है। वायु न तो वाहर से भीतर जावे और न भीतर से वाहर ही आवे इस क्रिया को कुम्भक कहते हैं।

पूरके चतुरावृत्य षोडशकृत्वश्च कुम्भके ।
जपं कुर्यात् सुधी मन्त्रमष्टवारञ्च रेचके ॥ ४३ ॥

पूरक में चार वार कुम्भक में सोलह वार तथा रेचक में आठ वार योगी मन्त्र का जाप करे।

पूरकाद् द्विगुणश्चैव कालो रेचकायाभिकांक्षितः ।
रेचकाद् द्विगुणश्चैव कुम्भकाय तथेरितः ॥ ४४ ॥

पूरक में लगे समय से दुगुनी मात्रा रेचक के लिए अपेक्षित है रेचक से दुगुनी कुम्भक के लिए अपेक्षित मानी गई है।

नासाया वामदक्षाभ्यां रन्ध्राभ्याञ्च यथाक्रमम् ।
वायोराकर्षणं त्यागो नाडीशोधनमुच्यते ॥ ४५ ॥

नासिका के वाम नासापुट से वायु खींचना तथा विना विलम्ब किए तत्काल ही दाहिने नासापुट से वाहर निकाल डालना नाड़ीशोधन कहलाता है।

पिङ्गलयान्तराकृष्टः श्वासः सद्यो यदेडया ।
मुच्यते राजयोगस्य सोपानं प्रथमं हि तत् ॥ ४६ ॥

पिङ्गला से अन्दर आकृष्ट श्वास इडा द्वारा तत्काल वाहर निकाल दिया जाता है नाडीशीधन की यह क्रिया राजयोग का प्रथम सोपान है।

प्राणानां विधिनानेन रोधनाच्छोधनं भवेत् ।
दोषाणामिन्द्रियाणान्तु धातूनां हि यथाग्निना ॥ ४७ ॥

इस विधि से प्राणवायु को रोकने से प्राणों का तथा इन्द्रियदोषों का उसी प्रकार से शोधन हो जाता है जिस प्रकार अग्नि से धातुओं का शोधन हुआ करता है।

आधारः प्राणवायोस्तु मतोऽपानस्तथाधृतः ।
व्याने व्यानोऽप्युदानेऽप्य मुदानश्च समानके ॥ ४८ ॥

प्राणवायु का आधार अपान है, अपान व्यान पर व्यान उदान पर तथा उदान समान पर अवलम्बित है।

प्राणापानसमानाख्यो हृद्गुदनाभिदेशगः ।
उदानः कण्ठगोवायु र्व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ४९ ॥

प्राणवायु की स्थिति हृदय में अपान की गुदा मे समान की नाभि में है उदान कण्ठगामी है तथा व्यानवायु समस्त शरीर-व्यापी होता है ।

कारणात् प्राणवायोर्हि जीवो भ्रमति संसृतौ ।
प्राप्यते तन्निरोधाद्वै योगिभिर्दीर्घजीवनम् ॥ ५० ॥

प्राणवायु के कारण ही जीवात्मा संसार मे भटकती है इसका निरोध करने से योगियों को दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है।

श्वासस्य रोधने चापि चालने परिवर्तने ।
स्वेच्छया यः समर्थः स्यात् नाडीजेता स कथ्यते ॥५१॥

जो मनुष्य श्वास के रोकने मे श्वास के सञ्चालन में तथा श्वास के परिवर्तन में यथेच्छ समर्थ है वह नाड़ीजेता कहलाता है ।

वहिर्मुखस्य चित्तस्य वृत्तयोन्तर्मुखीकृताः ।
यथा यस्मिन् भवन्त्येव प्रत्याहारस्तु तद्विधः ॥५२॥

चित्त की वहिमुख वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने वाली विधि प्रत्याहार कहलाता है ।

प्रत्याहार का शब्दार्थ प्रत्यकर्षण, पीछा खींचना या संक्षिप्त करना होता है मन विभिन्न २ वाह्यवृत्तियों में रमा हुआ होता है उसे उनसे पराङ्मुख करना तथा किसी एक वृत्ति पर केन्द्रित करना ही प्रत्याहार है।

धारणाऽभ्यासकालेतु स्वेष्टदेवं यथायथम् ।
ध्यायते स्वेष्टरूपेण ध्यानन्तत्कथ्यते वुधैः ॥ ५३ ॥

धारणा का अभ्यास करते समय विधिपूर्वक अपने इष्टरूप में देवता का स्मरण करना ध्यान कहलाता है।

जानाति चेद्यदा ध्याता ध्यानं ध्येयं पृथक् पृथक् ।
एकान्तवृत्तिसंलग्नः तद् ध्यानं समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥

जब ध्यानशील साधक ध्येय और ध्यान का पृथक् २ ज्ञान रखते हुए किसी ध्येय विशेष पर वृत्ति को केन्द्रित कर लेता है तब उसके ध्यान की क्रिया पूर्ण होती है।

ध्यानमादौ तु मूर्त्ते हि प्रशस्यमल्पधीमतां ।
पश्चादान्तरिके ध्याने प्यभ्यसेच्छनकैश्चिरम् ॥ ५५ ॥

प्रारम्भ में तो सामान्यु बुद्धि के लोगों के लिए मूर्ति पर ध्यान जमाना ही उत्तम है बाद में धीरे धीरे चिरकाल तक आन्तरिक विषय पर ध्यान करने का भी अभ्यास करे।

नेत्रयोर्मध्यगे भागे ललाटस्यान्तरे नरः ।
चैतन्यं त्रिकुटौ ध्यायेत् सर्वशक्तिप्रदायकम् ॥ ५६ ॥

नेत्रों के बीचों बीच ललाट के आन्तरिक प्रदेश त्रिकुटी में चैतन्य का ध्यान करे। यह ध्यान सब प्रकार की शक्ति देने वाला है।

ज्ञानं साध्यं त्रिपुटचैव न ज्ञानं त्रिपुटीं विना ।
ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वोधस्य त्रिपुटयां स्याद्विवेचनम् ॥ ५७ ॥

सच्चा ज्ञान त्रिकुटी में ही साध्य है त्रिपुटी विना ज्ञान नहीं है, ज्ञाता ज्ञेय तथा ज्ञान का विवेचन त्रिपुटी में ही सम्भव है।

प्रत्याहारेण चित्तञ्चे न्नीतमन्तः सुतिष्ठति ।
ह्येकस्थाने विधिः सैव धारणा कथ्यते बुधैः ॥ ५८ ॥

प्रत्याहार द्वारा समाकृष्ट चित्त का हृदय में ही एक विषय पर लगा रहना धारणा कहलाता है १ ।

---

१ प्रत्याहाहार एक क्रिया क्रियाशील रूप है जब कि धारणा उसी क्रिया का एक चिरस्थायी निष्क्रिय रूप है। पशु को उसके ठाँण (स्थान) तक

स्वात्मानं योजयेद् ध्याने परमात्मन्यभेदतः ।
सर्वथात्मलयो यत्र समाधिः सोऽष्टमोऽङ्गकः ॥ ५६ ॥

विना किसी भेद के आत्मा को परमात्मा में ध्यानमग्न करदे ध्यान की यह अवस्था जहाँ आत्मा का पूरी तरह लय हो जाता है समाधि कहलाती है, यही राजयोग का अन्तिम अंग है ॥

समाधिर्द्विविधो ज्ञेयो निर्विकल्पस्तु सिद्धिदः ।
सविकल्पस्तु सामान्यः योगोऽयं वर्णितोऽष्टधा ॥ ६० ॥

निर्विकल्प तथा सविकल्प रूप में समाधि दो प्रकार की होती है। इनमें निर्विकल्प समाधि ही सिद्धिदायक होती है सविकल्प तो सामान्य होती है। इस प्रकार आठ प्रकार का यह राजयोग बताया गया है।

अष्टावङ्गानि योगस्य विधिवत्साधितानि न ।
योगस्य साधने येन व्यर्थस्तस्य श्रमोऽखिलः ॥ ६१ ॥

जिसने योग के इन आठों अंगो का विधिपूर्वक साधन नहीं किया है उस व्यक्ति का योगसाधन में किया गया समस्त श्रम व्यर्थ है।

समाधावेकभावः स्या द्वित्वन्तत्र न विद्यते ।
द्वितीयो विद्यते यत्र समाधिः सा न कथ्यते ॥ ६२ ॥

समाधि में पूर्ण अद्वैतभाव रहता है । वहां द्वित्व को कतई स्थान नहीं है, जहां द्वित्व उपस्थित है वह समाधि ही नहीं है।

गोंच लाने की हठात् क्रिया प्रत्याहार है, उसी पशु का स्थान पर खड़े रहना धारणा है। धारणा में मन एक स्थान पर डट जाना है।

समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभावोऽभिधीयते ।
समाधिर्हठयोगस्य महाबोधो निगद्यते ॥ ६३ ॥

समाधिर्लययोगस्य कथ्यते च महालयः ।
असम्प्रज्ञातसमाधौ भवन्त्येते सहायकाः ॥ ६४ ॥

मन्त्र योग की समाधि महाभाव, हठयोग की समाधि महाबोध, लययोग की समाधि महालय कहलाती है, ये सभी असम्प्रज्ञात समाधि में सहायक होती हैं।

एते यत्र समाप्यन्ते उपर्युक्ताः समाधयः ।
राजयोगाधिकारस्तु तत्रैवारभ्यते किल ॥ ६५ ॥

ऊपर बताई हुई ये समाधियां जहां समाप्त होती हैं वहीं राजयोग का अधिकार प्रारम्भ होता है।

दूरदेशस्थितां वार्तां मृत्योश्च समयन्तथा ।
अतीन्द्रियं विशिष्टञ्च ज्ञेयं वेत्ति समाधिमान् ॥ ६६ ॥

समाधिरत योगी दूर देशों में घटने वाली घटनाओं को मृत्यु के समय को एवं अन्य अतीन्द्रिय व विशिष्ट ज्ञेय को जान लेता है।

भवन्त्यविकृता देहाः समाधिस्थितयोगिनाम् ।
वृद्धिविकृतिनाशाद्यै रतस्ते कालभक्षकाः ॥ ६७ ॥

समाधिस्थित योगियों का शरीर वृद्धि, विकार, नाश आदि से विकृत नहीं होता है उनके शरीर पर कालकृत प्रभाव नहीं होता है अतः वे काल के भी भक्षक होते हैं।

संसृतिश्चित्तचाञ्चल्यं मुक्तिस्तु स्थैर्यमुच्यते ।
सर्वसङ्कल्पराहित्यं समाधिश्चेरितो वुधैः ॥ ६८ ॥

चित्त की चञ्चलता ही संसार है तथा चित्त का स्थिर होना ही मुक्ति है, सम्पूर्ण प्रकारों के सङ्कल्पों से मन का सूना होना समाधि है, यही विद्वानों का मत है।

समाधेरेव चाभ्यासात् सुखन्त्वात्यन्तिकं भवेत् ।
वियोगो दुःखसंयोगाद् भवत्यस्मिन्न संशयः ॥ ६९ ॥

समाधि के अभ्यास से ही आत्यन्तिक सुख होता है। समाधि में मनुष्य का दुःखों के संश्लेप से छुटकारा हो जाता है।

समाधावीक्षते योगी सर्वमेव चराचरम् ।
स्वस्मिन् स्वंश्रद्धया तस्मिन् चित्तेन तद् गतेन च ॥७०॥

योगी समाधि की स्थिति में अपने आप में सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखता है तथा भगवद्गत चित्त वह स्वयं को भगवान् में स्थित पाता है।

योगाङ्गानामनुष्ठानं विधेयं स्वांतपूर्तये ।
पूतेन मानसेनैव योगसिद्धिरवाप्यते ॥ ७१ ॥

मनःशुद्धि के लिये योग के विभिन्न अङ्गों का अनुष्ठान करे क्योंकि पवित्र मन से ही योगसिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

रागद्वेषादिनिर्मुक्तः क्रियाः कुर्वन् हि लौकिकाः ।
अनासक्त्या न बद्धः स्यात् कर्मभिर्गुरुपूजकः ॥७२॥

गुरुविश्वासी श्रद्धालु साधक रागद्वेष से मुक्त होकर लौकिक क्रिया करता हुआ अनासक्ति कारण कभी भी कर्मबद्ध नहीं होता है।

ब्रह्मणो दर्शनेच्छा तु यदा स्यात् प्राणिनो हृदि ।
तदैव सद्गुरोराप्ति र्भवेदेव न संशयः ॥ ७३ ॥

जब भी प्राणी के मन में ब्रह्मसाक्षात्कार की इच्छा होगी तत्काल ही उसे सद्गुरु की प्राप्ति हो जावेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

पश्चाद्धि सद्गुरो राप्तेः सर्वस्वं साधकोऽर्पयेत् ।
गुरवे ब्रह्मकल्पाय स्वदेहं मानसं धनम् ॥ ७४ ॥

सद्गुरु की प्राप्ति होने पर साधक ब्रह्मतुल्य गुरुदेव के चरणों में अपना तन मन धन सब कुछ न्योछावर कर दे ।

योगस्तु प्रायशः शास्त्रे शब्दजालेन वर्णितः ।
सद्योगस्य विधात्री तु गुरोरस्त्यधिका कृपा ॥ ७५ ॥

प्रायः शास्त्रों में यौगिक क्रियाओं का वर्णन शब्दाडम्बर के साथ हुआ है । गुरुदेव की एक मात्र कृपा ही सच्चा योग करने वाली है ।

विश्वचिन्तापरित्यागी योगी प्रोक्तः सदानघः ।
संसारी चिन्तयत्येव नान्तर्दृष्टिः कदाचन ॥ ७६ ॥

योगी सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त एवं निष्पाप होता है, उधर संसारी पुरुष कभी भी अन्तर्दृष्टि से आत्मचिन्तन नहीं करता है ।

वैद्यश्चिकित्सको व्याधे राधेस्त्वाध्यात्मिको गुरुः ।
आधिव्याधिविनिर्मुक्तो योगी भवितुमर्हति ॥ ७७ ॥

वैद्य शारीरिक रोगों का चिकित्सक होता है और गुरु आध्यात्मिक रोगों का। आधिव्याधिवर्जित मनुष्य ही योगी बन सकता है।

विधिज्ञः सद्गुरुर्ज्ञानी क्रियासु कुशलश्च यः ।
तत्समक्षे क्रियां कुर्यात् हानिशङ्का ततोऽन्यथा ॥ ७८ ॥

जो विधियों का ज्ञाता, ज्ञानी क्रियाकुशल एवं सद्गुरु हो उसी के समक्ष यौगिक क्रिया करे अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि की शंका अधिक है।

दृष्ट्वा परकृतं योगं मूढोऽप्यनुकरोति चेत् ।
अनेकान् दैहिकान् रोगान् प्राप्नुयात्स गुरुं विना ॥७९॥

जो मूढ़पुरुष दूसरों को योगसाधन में प्रवृत्त देखकर स्वयं विना सोचे समझे गुरु की सहायता न लेते हुए नकल करने लगता है वह भांति २ के शारीरिक रोगों का शिकार होजाता है।

मनसा कर्मणा वाचा पालयेच्छासनं गुरोः ।
युक्त्यैव गुरुणादिष्टः कुर्यात्कार्यं समाहितः ॥ ८० ॥

साधक मन वचन कर्म से गुरु के आदेश का पालन करे तथा गुरु द्वारा आदेश पाकर ही सावधानी से युक्तिपूर्वक कार्य करे।

स्वाधिकारस्य सीमान्ता गुरोरिच्छानुसारिणी ।
क्रियते सद्हृदा सेवा सैवास्ति पारमार्थिकी ॥ ८१ ॥

अपनी शक्ति की अन्तिम सीमा तक गुरुदेव की इच्छा के अनुसार सच्चे हृदय से जो सेवा की जाती है वही परमार्थिक सेवा है।

एषैवान्तरिकी सेवा कथिता योगविज्जनैः ।
श्रवणं पठनं वाण्या वाह्यसेवा प्रकीर्तिता ॥ ८२ ॥

योगविद् जनों ने इसे ही वास्तविक सेवा बताया है, केवल वाणी से श्रवण या पठन करना तो वाह्यसेवा है।

सद्गुरोरीश्वरस्यार्थं सर्वं त्यक्तुं समुद्यतः ।
सत्येन वर्ततेऽभीतो निष्कामः परमार्थवान् ॥ ८३ ॥

जो सद्गुरुरूप ईश्वर के लिए सब कुछ छोड़ने को उद्यत रहता है निडर रूप से सत्य पर अवस्थित रहता है तथा निष्काम है वह परमार्थी है।

स्वात्मशक्तिविकासार्थं शरीरं साधनं मतम् ।
तदधीने हि तच्छक्तेः कर्तव्याः सर्वशक्तयः ॥ ८४ ॥

आत्मशक्ति के विकास के लिये शरीर ही उत्कृष्ट साधन है। अतः उसी शक्ति के अधीन अन्य सब शक्तियां कर देनी चाहिए।

प्राप्ते सत्यपि वोधे यो न योगं साधयेद्यदि ।
शब्दज्ञानेन सन्तुष्टः कुयोगी कथ्यते वुधैः ॥ ८५ ॥

जो मनुष्य ज्ञान प्राप्त होने पर भी योगसाधना नहीं करता है तथा शब्दज्ञान से (वर्णन मात्र से) सन्तुष्ट हो जाता है विद्वान् उसे कुयोगी कहते हैं।

प्राणानामेव चोत्क्रान्ति मृत्युशब्देन कथ्यते ।
देहे प्राणस्थितिरेव ह्यमृतत्वाय कल्पते ॥ ८६ ॥

शरीर से प्राणवायु का निकल जाना मृत्यु कहलाता है तथा प्राणों का बना रहना ही अमृतत्व है।

हार्थिका पिङ्गलानाडी तथैवेडा च ठार्थिका।
हस्य ठस्यात्र संयोगो हठयोगोऽभिधीयते ॥ ८७ ॥

"ह" का अर्थ पिङ्गला तथा "ठ" का अर्थ ईडा होता है अतः 'ह व ठ' का योग अर्थात् इडा पिङ्गला का योग हठयोग कहलाता है।

प्राणायामक्रमाभ्यासात् सुषुम्नायां यथा भवेत्।
सूर्यचन्द्रस्वरैकत्वं 'हठः' सैव निगद्यते ॥ ८८ ॥

प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्ना में सूर्यचन्द्र स्वर (इडा पिङ्गला) का एकत्रित होना हठयोग कहलाता है।

क्रियाणां स्थूलदेहस्य मनोवृत्तेश्च रोधनात्।
प्राप्यत आयुषो दैर्घ्यं निर्णयो योगिनामयम् ॥ ८९ ॥

स्थूल शरीर की क्रियाओं के तथा मन की वृत्तियों के रोक देने से आयु की वृद्धि होती है यह योगियों का निर्णय है।

चित्तवृतिनिरोधाय प्रभाविनी मनःक्रिया।
शरीरात्क्रियते यस्मिन् हठयोगो निगद्यते ॥ ९० ॥

चित्त वृत्तियों को रोकने के लिए मन पर प्रभाव डालने वाली शरीर से साध्य क्रिया वाला योग हठ योग कहलाता है।

इदं स्थूलशरीरन्तु सूक्ष्मदेहाद्विरच्यते।
परं स्थूलशरीरस्य क्रिया सूक्ष्मे प्रभावकृत् ॥ ९१ ॥

यद्यपि यह स्थूल देह सूक्ष्मदेह से पृथक् है तथापि इस स्थूल देह की क्रियाएँ सूक्ष्म पर प्रभाव डालती हैं।

सिंहं भद्रं तथा पद्मं सिद्धञ्चेत्यासनानि वै ।
चतुरशीतिलक्षस्य श्रेष्ठान्यत्र सुखस्थितिः ॥ ९२ ॥

सिंहासन, भद्रासन, पद्मासन तथा सिद्धासन ही चौरासी लाख आसनों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि सुखपूर्वकस्थिति इन्हीं से हो सकती है।

विजानीयादासने सिद्धिं यदास्यान्निश्चला स्थितिः ।
बन्धं विना न कर्तव्यः प्राणायामः कदाचन ॥ ९३ ॥

जब सर्वथा निश्चल स्थिति होने लगे तब आसन की सिद्धि समझो। कभी भी विना बन्ध प्राणायाम न किया जावे।

अन्तर्लक्ष्यवहिर्दृष्ट्या चक्षुषोः स्पन्दनं विना ।
शाम्भवीमुद्रया योगी साक्षाच्छिवमयो भवेत् ॥९४ ॥

निर्निमेष खुली आंखें होते हुए भी हृदय में लक्ष्य रखने वाली दृष्टि से सम्पन्न शाम्भवीमुद्रा से, योगी साक्षात् शिव-स्वरूप हो जाता है।

गुदायाः दृढसंकोचे मूलबन्धः प्रकीर्तितः ।
कण्ठे चिबुकदाढर्याद्धि बन्धो जालन्धरो मतः ॥९५॥

गुदा के दृढ़ सिकोड़ने से मूलबन्ध होता है तथा कण्ठ में ठुड्डी को दृढ़ता से जमा देने से जालन्धरबन्ध होता है।

मूलोड्डीयानबन्धौ वै तथा जालन्धरोऽपि च ।
त्रिबन्धा हि प्रयोक्तव्याः प्राणायामत्रिके सदा ॥९६॥

मूल, जालन्धर और उड्डीयान ये तीनों बन्ध तीनों प्राणायामों के समय उपयोग में लाने चाहिए।

योगिभिर्विजनो देश आत्मैवात्र विनिश्चितः ।
सर्वत्र सर्वदा सैव नास्ति किञ्चिद् हि तद्विना ॥ ९७ ॥

अयं वै विजनो देशो ध्यानाभ्यासाय योगिनाम् ।
विनैतन्नान्यतः स्थानमात्मैव विजनस्थली ॥ ९८ ॥

योगियों द्वारा निर्जन प्रदेश आत्मा ही माना गया है क्योंकि आत्मा सभी जगह और सदा ही व्याप्त रहता है उसके विना कुछ भी नहीं है।

यह आत्मा ही योगियों के ध्यान व अभ्यास के लिए निर्जन स्थल है, आत्मा विना किसी की सत्ता न रहने से आत्मा ही निर्जन स्थल माना गया है।

कार्याणां मनसो नित्यं पृथग्भूत्वा निरीक्षणात् ।
नित्यानित्यविवेकेन द्रष्टा याति समुन्नतिम् ॥ ९९ ॥

आत्मा मन से पृथक् रहकर उसके कार्यों को देखते हुए नित्य अनित्य का विवेक कर वास्तविक स्वरूप में स्थित होकर उन्नति को प्राप्त होता है।

रजस्तमोगुणौ येन जितावात्मानुभूतये ।
तपः संयमयोगाद्यैस्त्रिकालज्ञो भवेत्तदा ॥ १०० ॥

जो तपस्या संयम और योग आदि से आत्मस्वरूप की अनुभूति के लक्ष्य से, रजोगुण और तमोगुण को जीत लेता है वह त्रिकालज्ञ हो जाता है।

अहमज्ञानिनो जापः सोहन्तु ज्ञानिनो जपः ।
कोऽहं पृच्छति जिज्ञासु ज्ञानी सोऽहं स्वयं जपेत् ॥१०१॥

अहम् (हम् हम्) अज्ञानी का जप होता है। सोऽहम् ज्ञानी का जप होता है। जिज्ञासु का जप "कोऽहम्" (मैं कौन हूँ, मैं कौन हूं प्रश्न की आवृत्ति) होता है। ज्ञानी स्वयम् सोऽहम् जपता है *।

तत्वमसीति शब्दस्यानुभूतिर्हृदये भवेत् ।
साधकस्येयमेवास्ति योगस्य सिद्धिरन्तिमा ॥ १०२ ॥

साधक के हृदय में "तत्त्वमसि" महावाक्य के अर्थ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे यही योग की अन्तिम सिद्धि है।

भावास्त्रयोऽनुभूयन्ते प्राणिभिर्मनसो भुवि ।
सर्वे सन्ति प्रतीयन्ते प्रियम्मेऽमुकवस्तु च ॥१०३॥

सभी प्राणियों के हृदय में प्रायः इन तीन भावों की अनुभूति होती है। १ सब हैं २ प्रतीत होते हैं ३ तथा मुझे अमुक वस्तु प्रिय है।

मनो नादात्मकं कुर्यात् तथा किञ्चिन्न चिन्तयेत् ।
लीने चित्ते शिवस्थाने न भवेद्विषयस्मृतिः ॥१०४॥

मन को नादात्मक वना ले (अनाहत नाद श्रवण में मन को लीन कर दे) इसके अतिरिक्त और कुछ भी न विचारे। शिव स्थान शब्दब्रह्म में चित्त के लीन होने पर (चित्त की विषय-चयन शक्ति के क्षीण हो जाने पर) विषयों की स्मृति ही नहीं होती है।

* प्रायः अज्ञानी के व्यवहार में "मैं" का प्राधान्य रहता है, जिज्ञासु के व्यवहार में "मैं कौन हूँ" का प्राधान्य रहता है तथा "वह ब्रह्म मैं हूँ" की निरन्तर अनुभूति ज्ञानी को रहती है।

इन्द्रियाणां मनः स्वामी मनसो मारुतः स्मृतः ।
प्राणानान्तु लयः स्वामी लयो नादं समाश्रितः ॥१०५॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन है तथा मन का स्वामी प्राण है, प्राणों का अधिपति लय है और लय नाद के सहारे है।

रसास्वादेन सन्तुष्टः ब्रह्मानन्दं विना यतिः ।
यदि भूयात्तदा तद्वै समाधौ विघ्नवद्भवेत् ॥ १०६ ॥

योगी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुए बिना ही यदि रञ्च मात्र रसास्वाद से ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसकी यह अवस्था समाधि में विघ्न बन जाती है।

यदा विक्षेपनिवृत्तिः समाधौ योगिनो भवेत् ।
तदानन्दानुभूतिर्या रसास्वादेति सोच्यते ॥ १०७ ॥

जब समाधि में सभी प्रकार के विक्षेप (आवरण) दूर हो जाते हैं उस समय योगी को जो आनन्द का अनुभव होता है वही रसास्वाद है।

सम्बोधयेल्लयाच्चित्तं कुर्यादन्तर्मुखन्ततः ।
चित्तं संस्थाप्य तत्रैव विक्षिप्तिं शमयेदपि ॥ १०८ ॥

लय से चित्त को जागृत करे तदनन्तर इसे अन्तर्मुख करे तथा चित्त को वहीं स्थापित कर विक्षितता का शमन करे।

निद्र्यालस्यभावेन वृत्त्यभावस्त्वसल्लयः ।
तस्यां सुषुप्त्यवस्थायामीश्वरो नानुभूयते ॥ १०९ ॥

निद्रा से अथवा आलस्य के आधिक्य से वृत्ति का अभाव 'लय' नहीं माना जाता है यह तो असत् लय है, ऐसी सुषुप्ति की अवस्था में ईश्वर का अनुभव नहीं होता है।

योगस्य साधनेऽवस्थां श्चतुर्वा हि प्रकीर्तिताः ।
भवेयुः सिद्धिदा ह्येताः क्रमप्राप्ताः सुयोगिना ॥११०॥

योगसाधन में अवस्थाएँ चार प्रकार की मानी गई हैं। सुयोगी द्वारा क्रमशः प्राप्त की हुई ही ये अवस्थाएँ सिद्धि-दायक होती है।

प्रथमा जागृतावस्था स्वप्नावस्था ततोऽपरा ।
तृतीया च सुषुप्तिः स्यात्तुरीया चान्तिमा मता ॥१११॥

प्रथम जागृतावस्था दूसरी स्वप्नावस्था तीसरी सुषुप्ति तथा चौथी (बिना नाम की केवल क्रम के आधार पर) तुरीया होती है।

यमादीनां प्रयत्नेन विना चित्तस्य यो लयः ।
निद्रासौ कथ्यते लोकैः समाधिरन्यथा मतः ॥ ११२ ॥

यम नियम आदि के प्रयत्न के बिना ही होने वाली लय 'निद्रा' है जो अभाव प्रत्ययात्मक एक वृत्ति है। समाधि इससे भिन्न होती है।

एकस्मिन्नेव लक्ष्ये या त्रयाणामेकता भवेत् ।
ध्यानस्य धारणायाश्च समाधेस्संयमश्चसा ॥ ११३ ॥

ध्यान धारणा और समाधि इन तीनों की एक ही लक्ष्य में होने वाली एकत्र अवस्था ही संयम है।

ध्यायेदान्तरिकध्यानी हृत्पंकजमधोमुखम् ।
अष्टाभिस्तु दलैर्युक्तं ध्यानेनोर्ध्वमुखीकृतम् ॥११४॥

आन्तरिकध्यानी अष्टदल वाले स्वभाव से नीचे मुख वाले किन्तु ध्यान से ऊँचा मुख किये हुए हृदयकमल का ध्यान करे। हृत्कमल स्वभावतः उल्टा होता है यौगिक प्रक्रियाओं से इसे सीधा किया जाता है।

सूर्यचन्द्राग्निसंकाशां प्रफुल्लां सुन्दरां तथा।
सर्वानन्दकरां तस्मिन् कल्पयेत्पंकजे द्युतिम् ॥११५॥

उस समय उस कमल में सूर्य चन्द्र और अग्नितुल्य प्रफुल्ल सुन्दर तथा सर्वानन्ददायक प्रकाश का ध्यान करे।

मनोऽणुपरिमाणं हि विद्युद्वत्क्षिप्रगन्तथा।
नाडीविशेषयोगेना नेकभावं प्रयच्छति ॥ ११६ ॥

मन अणुपरिमाण होते हुए भी बिजली की भांति क्षिप्रगामी होता है तथा नाड़ीविशेष का योग पाकर अनेक भावों का उत्पादक हो जाता है।

द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यो देहेऽनुरङ्किताः।
तासु प्राणवहा नाड्यो द्व्युत्तरसप्ततिर्मता ॥ ११७ ॥

मनुष्य के शरीर में ७२ हजार नाड़ियां गिनी गई हैं उनमें प्राणों को वहन करने वाली ७२ हैं।

दशानामेव प्राधान्यं तासु प्राणवहास्वपि।
मनोयोगेन तास्वेव पृथग्ज्ञानं भवेद् ध्रुवम् ॥ ११८ ॥

उन प्राणवहा नाड़ियों में भी प्रधानता १० की ही है। इन्हीं नाड़ियों से मन का योग होने पर पृथक् २ प्रकार के अनुभव हुआ करते हैं।

तेषामाद्यास्त्विडा नाडो द्वितीया पिङ्गला तथा ।
तृतीया तु सुषुम्नैव गान्धारी तु ततः परा ॥ ११६ ॥
पञ्चमो हस्तिजिह्वा स्यात् षष्ठी पूषा च सप्तमी ।
यशस्विनी पुनर्ज्ञेया ह्यष्टमो चाप्यलम्बुषा ॥ १२० ॥
कुहू स्यान्नवमो नाडो शंखिनी दशमी मता ।
शंखिन्यभ्यन्तराले तु पुरीतदिति नाडिका ॥१२१॥

इनमें पहली इडा, दूसरी पिंगला, तीसरी सुषुम्ना, चौथी गान्धारी, पांचवीं हस्तिजिह्वा, छठी पूषा, सातवीं यशस्विनी, आठवीं अलम्बुषा, नवीं कुहू तथा दसवीं शंखिनी है, शंखिनी में ही पुरीतत् नामकी एक नाड़ी और है ।

मनःप्रवेशनादेव सुषुप्तिर्जायते चिरम् ।
पुरीतति तु नाड्यां वै संज्ञा चापि प्रणश्यति ॥१२२॥

पुरीतति में मन जाने पर चिरकाल तक सुषुप्ति (गाढ़-निद्रा) बनी रहती है तथा प्राणी संज्ञाशून्य हो जाता है ।

पुरीतदावृतीभूता या नाडी मेध्यसंज्ञिका ।
तस्यां मनःप्रवेशेन निद्रास्वप्नादि सम्भवेत् ॥ १२३ ॥

पुरीतत् नाड़ी से घिरी हुई मेध्य नाम की एक नाड़ी है उसमें मन के जाने से निद्रा व स्वप्न आते हैं ।

मनोयोगेन गान्धार्यां दृश्यते वामचक्षुषा ।
तथैव हस्तिजिह्वायां चक्षुषा दक्षिणेन वै ॥ १२४ ॥

गान्धारी नाड़ी में मनोयोग हो जाने से केवल बायें नेत्र से ही देखा जा सकता है, इसी प्रकार हस्तिजिह्वा में मनोयोग होने पर दायें नेत्र से ही देखा जाता है ।

मनोयोगे न पूषायां कर्णद्वारा शृणोति हि ।
अलम्बुषोर्ध्वदेशेतु संयोगाज्जिघ्रति ध्रुवम् ॥ १२५ ॥

तस्याश्च मध्ययोगेन रसास्यास्वादनं भवेत् ।
कुहूनाड्यां मनोयोगः सुखं सम्भोगजं सृजेत् ॥१२६॥

पूषा में मनोयोग होने पर ही कानों से सुनाई पड़ता है, अलम्बुषा के उपरिभाग में मनोयोग होने पर घ्राणशक्ति पैदा होती है उसी के मध्यभाग में सम्बन्ध होने पर रसास्वादन होता है। कुहूनाड़ी में मनोयोग होने पर सम्भोगजन्य सुख पैदा होता है।

शंखिन्यान्तु मनोयोगो मलोत्सर्गस्य कारणम् ।
सुषुम्नायां मनोयोगो योगारम्भे सहायकः ॥ १२७ ॥

शंखिनी में मनोयोग होने पर मलोत्सर्ग होता है तथा सुषुम्ना नाड़ी से हुआ मनोयोग योग के आरम्भ में सहायता देता है।

सुषुम्नान्तः स्थिताष्वेव चित्रिण्यादिषु नाडीषु ।
मनोयोगेन गाढेन समाधिर्जायते नृणाम् ॥ १२८ ॥

सुषुम्ना के अन्तर्गत स्थित चित्रिणी आदि नाड़ियों से गाढा मनोयोग होने पर लोगों की समाधि लगती है।

इडापिंगलयोर्योगो मनसो जीवनप्रदः ।
संसारव्यवहारेषु सर्ववृत्तसुवाहकः ॥ १२९ ॥

मन से इडा और पिङ्गला का योग जीवनदायक होता है तथा संसार के सभी कार्यों व व्यवहारों का उत्तम चालक होता है।

कुर्वदेवाष्टधाश्चेष्टाः स्वान्तं भ्रमति पङ्कजे ।
चेष्टानां वृत्तिरोधेन मन एकाग्रतां व्रजेत् ॥ १३० ॥

मन हृत्पङ्कज में आठ प्रकार की चेष्टा करता हुआ घूमता है; चेष्टाओं की वृत्तियों के रोकने से मन एकाग्र हो जाता है।

एकाग्रीभूतमेवेदं मन आत्मानमृच्छति ।
नैवेच्छति तदालोकम्मुक्तिमिच्छति केवलाम् ॥१३१॥

मन एकाग्र होने पर ही आत्मा को प्राप्त करता है, उस समय उसे संसार की इच्छा नहीं रहती है केवल मुक्ति ही चाहता है।

पूर्वदिग्दलमासाद्य मनो धर्म्यं हि वाञ्छति ।
ईशानदिग्दले कुर्यात् प्रदानं प्रचुरं व्ययम् ॥१३२॥

मन पूर्व दिग्दल में जाकर धार्मिक क्रियाएँ करना चाहता है ईशान दिग्दल में पहुँचा हुआ यह अत्यन्त व्यय और दान करता है।

उत्तरादिग्दलं प्राप्य वामासङ्गं समीहते ।
वायव्यदिग्दलं प्राप्य दिक्षु भ्रमणमीप्सति ॥ १३३ ॥

यही उत्तर दिग्दल में जाकर स्त्रीसाहचर्य की इच्छा करता है तथा वायव्य दिग्दल में जाकर दिशाओं में घूमना चाहता है।

प्रतीचीदिग्दलं गत्वा नृत्यं गानं कलाकृतिम् ।
सर्वमाल्हादकं कार्यं वष्टि साधयितुं मनः ॥ १३४ ॥

प्रतीची (पश्चिम) दिग्दल में जाकर मन नृत्य गायन कला सम्बन्धी आदि सभी प्रसन्नतापूर्ण कृत्य करना चाहता है।

दक्षिणां हरितं यातं मनो वाञ्छति पुष्कलम् ।
पापञ्च निन्दितं कार्यं निर्दयत्वन्तथा कलिम् ॥१३५॥

दक्षिणदिग्दल में गया हुआ मन अनेक निन्दित पापपूर्ण कार्य निर्दयता व कलह के कार्य करना चाहता है।

आग्नेयदिग्दलं प्राप्तं वाञ्छति शयितुं मनः ।
कार्याद्विरक्तिमालस्य मवसादं स्वभावतः ॥१३६॥

आग्नेय दिग्दल को प्राप्त मन केवल शयन करना ही चाहता है, उस समय कार्य से विरक्ति आलस्य और अवसाद ही इसके स्वभाव में आते हैं।

सदा सच्चिन्तने लग्नो वृथाकालं क्षिपेन्न च ।
नवदेद् व्यर्थवार्ताञ्च भोगवाञ्छां तथा त्यजेत् ॥१३७॥

योगी सदा उत्तम विचार धाराओं में लीन रहे समय व्यर्थ न खोवे, निरर्थक बातें नहीं बोले तथा भोगों की इच्छा छोड़ दे।

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं ज्ञात्वा कैलासगे शिवे ।
शक्तेः स्वभावजाया वै लयो योगो लयः स्मृतः ॥१३८॥

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता जानकर कैलाश प्रदेश में स्थित शिव में स्वभावजा शक्ति का लय करना ही 'लय योग' कहलाता है।

मस्तिष्कमध्यकेन्द्रे च बिन्दुरूपेण संस्थितः ।
वीर्यरूपः श्वेतवर्णः शिव इत्यभिधीयते ॥ १३९ ॥

मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में बिन्दुरूप में स्थित श्वेतवर्ण-विशिष्ट वीर्यरूप स्थल शिव कहलाता है।

नाभिदेशे रजोरूपा साधकस्य विराजते ।
सिन्दूरवर्णतुल्याभा शक्तिर्या पार्वती हि सा ॥ १४० ॥

साधक के नाभिदेश में सिन्दूर तुल्य वर्ण वाली रजोरूपा शक्ति पार्वती है ।

नाभिस्थानात् समाकृष्य रजोरूपां हि पार्वतीम् ।
मस्तिकस्थे शिवस्थाने तन्मेला योग उच्यते ॥१४१॥

नाभि स्थान से रजोरूपा पार्वती को लेकर मस्तिष्क स्थित शिव स्थान में ले जा उसे मिला देना ही योग कहलाता है ।

नदीरूपस्य चित्तस्य धारे द्वे वहतः सदाः ।
प्रथमा तु सहजाधारा द्वितीया बोधमाश्रिता ॥ १४२ ॥

एका विषयमार्गेण गच्छति भवसागरम् ।
द्वितीया ज्ञानमार्गेण गच्छति मुक्तिसागरम् ॥ १४३ ॥

रुध्यते तु यदाद्येका बन्धनेन तदापरा ।
वहति तीव्रवेगेन ज्ञायतेऽदः स्वभावतः ॥ १४४ ॥

तथाभ्यासेन वैराग्याद् रुद्धे विषयस्रोतसि ।
स्वत एवोर्ध्वगा धारा वहति मुक्तिमार्गगा ॥ १४५ ॥

नदी रूपी चित्त की सदैव दो धाराएँ चलती हैं, इनमें प्रथम धारा सहज धारा है तथा द्वितीय ज्ञानाश्रित धारा है । प्रथम धारा विषयों के मार्ग से भवसागर की ओर जाती है दूसरी धारा ज्ञान-मार्ग से मुक्ति सागर को जाती है, यह स्वभावतः ज्ञात है कि जब एक धारा को रोक दिया जाता है तो दूसरी अधिक वेग से दौड़ने लगती है अतः अभ्यास तथा वैराग्य से

विषयों के स्रोत के बन्द हो जाने पर ऊर्ध्वगामिनी धारा स्वयं ही मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऊर्ध्वादधोगताधारा जीवत्वं प्रतिपद्यते ।
अधस्तादूर्ध्वगाधारा देवत्वं प्राप्नुयात्तनौ ॥ १४६ ॥

शरीर में ऊपर से नीचे की ओर बहने वाली धारा जीवत्व को प्राप्त करती है तथा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाली धारा देवत्व को प्राप्त करती है।

यथा संयोजितेलक्ट्रिक् द्योतते वस्तु योगतः ।
तथैव चेतनाधारायुक्ताङ्गं स्फूर्ति माप्नुयात् ॥१४७॥

जिस प्रकार बटन के संयोग से जलाई गई बिजली चमकने लगती है वैसे ही अङ्ग चेतनाधारा से युक्त हुए ही स्फूर्ति पाते हैं।

तन्नाम चेतनाशक्ति र्देहेषु विद्युता समा ।
तद्योगेनानुभूतिः स्या दयोगे तु मृता तनुः ॥१४८॥

शरीर में विद्युत् तुल्य चेतना शक्ति व्याप्त है जिसके योग से ही सब प्रकार के अनुभव होते हैं तथा हट जाने पर देह मृतक हो जाती है।

सत्यलोकाधृताधारा प्रसरत्यखिलात्मनि ।
तत्प्रेरितेन्द्रियगणः कार्याणि कुरुते सदा ॥ १४९ ॥

सत्यलोक स्थानीय चेतना पुञ्ज मस्तिष्क से यह धारा अखिल शरीर में फैलती है अथवा सत्यलोक के अधिष्ठाता भगवान् ब्रह्मदेव से सभी आत्माओं को इस धारा की प्राप्ति होती है।

इसी धारा से प्रेरित हुआ इन्द्रिय समुदाय समस्त कार्यों का सञ्चालन किया करता है।

अधस्तादन्तकाले हि चिच्छक्तिस्तूर्ध्वगा भवेत् ।
कपाले कण्ठदेशे च सा याति शनकैस्तथा ॥१५०॥

अन्त समय में यह चित्शक्ति की धारा नीचे से ऊपर की ओर उठ जाती है तथा धीरे २ कपाल और कण्ठ देश में चली जाती है।

चिच्छक्त्या चलति प्राण स्तद्धीनश्च निरुध्यते ।
प्राणशक्तौ गतायान्तु शव एवावशिष्यते ॥ १५१ ॥

चित् शक्ति से ही प्राण चलते हैं तथा उसी के अधीन हुए रुकते हैं। प्राणशक्ति के चले जाने पर केवल 'शव' मात्र ही अवशिष्ट रहता है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखा शास्त्रेषु वर्णितं यथा ।
ऊर्ध्वदेशागता धारा कपालाद् गच्छति ह्यधः ॥१५२॥

उपनिषद् गीता आदि में "ऊर्ध्वमूलमधः शाखा" के रूपक द्वारा जो वर्णन किया गया है उसका यही अर्थ है कि ऊर्ध्व देश से चली धारा कपाल से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाती है।

मूलं तस्यास्तु धाराया ऊर्ध्वलोके हि वर्तते ।
शरीरेऽधोमुखा शाखा भवत्येव च सर्वगा ॥ १५३ ॥

उस धारा का मूल तो ऊर्ध्वलोक सहस्रार में ही है शरीर में शाखाएँ सर्वतोगामिनी अधोमुख ही होती हैं।

शिरसश्चेतना धारा प्रापयत्युष्णतामधः ।
प्राणिनां शिश्नपर्यन्तं यथा स्नानेऽनुभूयते ॥१५४॥

अन्तकाले तु धारासौ निम्नादुपरि गच्छति ।
लोकानां पादयोस्तस्मा च्छैत्यमन्तेऽनुभूयते ॥१५५॥

चेतना धारा शिर से लेकर शिश्न (लिङ्ग) तक गरमी पहुँचाती है जैसा स्नान के समय अनुभव होता है। यही धारा अन्तकाल में नीचे से ऊपर जाती है तभी तो मरणासन्न प्राणियों के पैर ठंडे पड़ जाते हैं।

सत्यलोकागतां धारा सुरतेत्यभिधीयते ।
रुहोऽपि चेतनाशक्ति र्ज्योतिश्च परमं हि सा ॥१५६॥

सत्य लोक से प्राप्त धारा ही सुरत भी कहलाती है यही रुह चेतनाशक्ति और परमज्योति है।

सत्यलोकागतां धारां मनोगृह्णाति चादितः ।
तया चेष्टान्वितो भूत्वा प्रीणाति चेन्द्रियं ततः ॥१५७॥

सत्य लोक से प्राप्त धारा को सर्वप्रथम मन ही ग्रहण करता है तथा उस धारा से क्रियाशील होकर इन्द्रियों को सन्तुष्ट करता है।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वखन्यां विविधविद्यावर्णने
राजहठयोगरहस्य प्रतिपादकं योगशास्त्रं (पूर्वार्धः)
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

योगशास्त्रम् (उत्तरार्धः)

धारा या चेतनाशक्तिः मूलाधारे स्थिता ह्यधः ।
कुण्डलैरावृता यस्मात् तस्मात् कुण्डलिनी मता ॥ १ ॥

चेतनाशक्ति रूप जो धारा है वह नीचे मूलाधार में स्थित है तथा कुण्डलों से आवृत्त है। अतः यही चेतनाशक्ति ही कुण्डलिनी है।

ऊर्ध्वगा शुक्लपक्षे स्यात् कृष्णपक्षे च निम्नगा ।
कुण्डलिन्याः शरीरेऽस्मिन् जानीयात् सहजां गतिम् ॥२॥

कुण्डलिनी शुक्ल पक्ष में ऊर्ध्वगति तथा कृष्णपक्ष में निम्नगति हो जाती है इस प्रकार कुण्डलिनी की ये दो स्वाभाविक गतियां हैं।

संज्ञाया वाहिका नाड्यो ह्यधस्तादूर्ध्वगा मताः ॥ ३ ॥
मस्तिष्के मुख्यकेन्द्रेताः गच्छन्त्यन्तर्मुखाः स्मृता ।

संज्ञावाहिनी नाडियॉं नीचे से ऊपर की ओर जाने वाली होती हैं तथा अन्तर्मुखी मानी जाती हैं इनका मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है †।

---

† शरीर के विभिन्न भागों में कहीं भी आघात आदि लगने पर कॉंटा चुभने पर शीतोष्ण स्पर्श होने पर तत्काल ही मस्तिष्क को

संज्ञावहास्तागच्छन्ति आज्ञाचक्रे समन्विताः ।
मस्तिष्के ज्ञानकेन्द्रेऽपि दुःखसौख्यादिसूचिका ॥ ४ ॥

संज्ञावाहक दुःख सुख आदि की सूचक ये नाड़ियाँ इकट्ठी ही ज्ञान के केन्द्र मस्तिष्क में अज्ञाचक्र में जाती हैं।

चेष्टाया वाहिका नाड्यः केन्द्रस्थानाद्बहिर्गताः ।
बहिर्मुखाभिधेयास्ता भवन्ति द्विविधास्तथा ॥ ५ ॥

चेष्टावाहिका नाड़ियाँ अपने केन्द्र मस्तिष्क से बाहर जाती हैं। अतः ये बहिर्मुख कहलाती हैं तथा दो प्रकार की होती हैं। मस्तिष्क को सूचना मिले बाद तुरन्त होने वाली प्रतिक्रिया इन्हीं से होती हैं।

मस्तिष्कस्थे सहस्रारे यावत्प्राणो न गच्छति ।
तावद्बुद्धिर्मनुष्यस्य सीमिता भवति ध्रुवम् ॥६॥

मस्तिष्क में स्थित सहस्रार में जब तक प्राण नहीं जाते हैं तब तक मनुष्य की बुद्धि सीमित रहती है।

उत्थाप्याधारचक्रस्थां शक्तिं कुण्डलिनीन्ततः ।
शिवेन योजयेदुच्चैः कैलाशे शिरसि स्थिते ॥ ७ ॥

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति को उठाकर मस्तक में कैलाशस्थित शिव से मिलावे।

जीवस्याधोगतिर्देहेऽनुभूता कर्मभारतः ।
शिवस्य कर्ममुक्तस्य शिरस्येवोन्नतास्थितिः ॥ ८ ॥

इसकी सूचना होती है तथा वहाँ से प्रतिक्रिया होती है यह इन्हीं नाड़ियों का कार्य है।

देह में जीव का स्थान नीचे कर्मों के भार के कारण है तथा शिव का स्थान कर्मों के भार से मुक्त होने के कारण ऊपर है।

ब्रह्मग्रन्थिः सुविख्यात आगामिकर्मणां गतिः ।
सैव तन्त्रेषु विख्यातः कुलकुण्डलिनी तथा ॥ ९॥

आगामि कर्मसमूह की गति का नाम ब्रह्मग्रन्थि है यही तन्त्रशास्त्र में कुलकुण्डलिनी नाम से विख्यात है।

वामस्वरवहा नाडी प्रोक्तेडापिङ्गला तथा ।
दक्षिणस्वरवहा नाडी कुण्डले द्वे प्रकीर्तिते ॥ १० ॥

वामस्वर को वहन करने वाली नाड़ी इड़ा तथा दक्षिणस्वर को वहन करने वाली पिङ्गला कहलाती है ये ही दोनों दो कुण्डल हैं।

द्वे कुण्डले च यस्याः स्तः सैव कुण्डलिनी मता ।
नाड्योस्तयोर्द्वयोर्मध्ये सुषुम्नाख्या विराजते ॥ ११ ॥

कुण्डलिनी पद का अर्थ कुण्डल या कुण्डलों वाली है, अतः दो कुण्डल रखने से ही इस नाड़ी विशेष को कुण्डलिनी कहते हैं। इडा पिङ्गला नाड़ियों के बीच में ही सुषुम्ना नाम की नाड़ी है।

अव्यक्ता कुण्डलिन्येव जगतो नायिका मता ।
महाकुण्डलिनी ख्याता योगिभिर्बहुवर्णिता ॥ १२ ॥

अव्यक्त कुण्डलिनी शक्ति ही संसार की सञ्चालिका है, जिसका योगियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

कुण्डलिन्या अभिव्यक्तेः महावेगः प्रजायते ।
वेगस्य प्रथमः स्फोटः नाद इत्यभिधीयते ॥ १३ ॥

कुण्डलिनी की अभिव्यक्ति के समय अत्यन्त वेग पैदा होता है उस वेग का प्रथम स्फोट ही नाद कहलाता है।

प्रकाशो जायते नादात् प्रकाशे व्यक्ततां गते ।
उपद्यते महाबिन्दु स्त्रिधा भक्तश्च यो मतः ॥ १४ ॥

नाद से प्रकाश उत्पन्न होता है, प्रकाश के व्यक्त होने पर महाबिन्दु व्यक्त होता है जो तीन स्थानों में विभक्त माना गया है।

बिन्दोरपि त्रयो भेदा इच्छाज्ञानक्रियाः पुनः ।
रविचन्द्रमसावग्नि र्ब्रह्माविष्णुर्महेश्वरः ॥ १५ ॥

इच्छा ज्ञान और क्रिया ये बिन्दु के तीन भेद हैं येही रवि चन्द्र अग्नि और ब्रह्मा विष्णु महेश हैं।

कुण्डलिन्याश्च शक्त्यैव जीवश्चेतनतां गतः ।
देहेन्द्रियादि युक्तोऽयं प्राणशक्त्यैव जीवति ॥ १६ ॥

कुण्डलिनी की शक्ति से ही जीव चेतनता को प्राप्त होता है देह इन्द्रियादि से युक्त यह जीव प्राणशक्ति से ही जीता है।

सहस्राराद्धि जीवोऽय श्चक्राच्चक्रमनाहतम् ।
आगतो याति जीवत्वं ततः शारीरिकी क्रिया ॥ १७ ॥

सहस्त्रार चक्र से अनाहत चक्र में आया हुआ यह जीव वस्तुतः जीवत्व पाता है तभी शारीरिक क्रिया जन्म लेती हैं।

चक्रस्यानाहतस्यायं ककारः प्रथमोत्तरः ।
तत्प्रभावेण सोऽहं हि कोऽहं शब्देन शब्द्यते ॥ १८ ॥

अनाहत चक्र का प्रथम वर्ण 'क' है इसी के प्रभाव से जीव सोऽहं (कोऽहम्) बन जाता है।

प्राणवायोः सहायेन ध्वनिः सोऽनाहतं गतः ।
चक्रं कोऽहमिति प्रोक्तोऽनिश्चयात्तनुधारिभिः १६ ॥

प्राणवायु की सहायता से वही ध्वनि अनाहत चक्र में जाने पर प्राणियों के अनिश्चय से "कोऽहम्" कहलाती है।

सोहं शब्दस्तु शास्त्रेषु कथ्यतेऽनाहतध्वनिः ।
प्राकृतेष्वनहद् ख्यातो जीवस्योद्गतिकारकः ॥ २० ॥

जीवात्मा को ऊर्ध्व गति देने वाला सोऽहम् शब्द शास्त्रों में अनाहत नाद माना गया है, इसे ही सर्वसाधारण (बोलचाल की भाषा) में अनहद कहते।

सोऽहमव्यक्तशब्दस्तु ह्याज्ञाचक्रे ऽनुभूयते ।
तदनुभावको जीवो जानाति स्वं स्वरूपतः ॥ २१ ॥

आज्ञाचक्र में इस अव्यक्त शब्द सोऽहम् का अनुभव होता है, इसका अनुभव करने वाला जीव अपने आपको वास्तविक रूप से जान लेता है।

मूलस्थान विचारस्य परावाणीति नामतः ।
विचारे सूक्ष्मवाणी तु पश्यन्ती कथिता बुधैः ॥ २२ ॥

विचारों का मूल स्थान ही "परा" वाणी है विचार में वर्तमान सूक्ष्मवाणी को विद्वानों ने पश्यन्ती बतलाया है।

मध्यमा मध्यवाणी स्यादर्धवाचैव भाषिता ।
केवला रसनोपेता स्पष्टा वाणी तु वैखरी ॥ २३ ॥

आधी जबान से बोली जाने वाली मध्यवाणी मध्यमा कहलाती है, जिह्वा से स्पष्टतः उच्चारित वाणी ही वैखरी है।

सुषुम्ना प्रथमानाडी वज्रा ज्ञेया द्वितीयका ।
तृतीया चित्रिणी ज्ञेया ब्रह्मनाडी तदन्तिमा ॥ २४ ॥

पहली नाड़ी सुषुम्ना दूसरी वज्रा तीसरी चित्रिणी तथा चौथी ब्रह्मनाड़ी है ।

सूक्ष्मा तु प्रथमानाडी वज्रा सूक्ष्मतरा तथा ।
चित्रिणी तु ततः सूक्ष्मा ब्रह्मनाडी ततः परा ॥ २५ ॥

प्रथम नाड़ी सुषुम्ना काफी सूक्ष्म होती है वज्रा इससे भी सूक्ष्म होती है चित्रिणी उससे भी अधिक सूक्ष्म होती है सर्वाधिक सूक्ष्म ब्रह्मनाड़ी होती है ।

चलिता हि सहस्रारात् जीवदानाय देहिनाम् ।
ब्रह्मनाड्यां वहत्येव शक्तिः कुण्डलिनी सदा ॥ २६ ॥

प्राणियों को जीवनदान करने के लिये सहस्रार से चली हुई कुण्डलिनी शक्ति सदा ब्रह्मनाड़ी में वहती रहती है ।

मृणालतन्तुवत्सूक्ष्मा ब्रह्मनाडी यथा बुधैः ।
कथितं तत्समीचीनं सास्ति सूक्ष्मतमा यतः ॥ २७ ॥

जैसा कि विद्वानों ने ब्रह्मनाड़ी को मृणालतन्तु की भाँति सूक्ष्म बताया है यह ठीक ही है क्योंकि यह नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म है ।

विद्युल्लतेव या शक्तिः सहस्रारात् प्रवाहिता ।
जीवत्वस्य प्रकाशाय शरीरेऽस्मिन् प्रवर्तते ॥ २८ ॥

जो शक्ति कुण्डलिनी बिजली के करेण्ट की भाँति जीवत्व को प्रकाशित करने के लिए इस शरीर में सहस्रार से प्रवाहित होकर वहती रहती है ।

मानवं जीवनस्थानं हृदये ह्यनुमन्यते ।
अहम्भावोक्ति वेलायां हृदेवाहन्यते यतः ।। २९ ।।

मनुष्यों का जीवन स्थल हृदय में ही माना जाता है क्योंकि "मैं" मेरा कहते समय छाती ठोकी जाती है।

आज्ञाचक्रे भ्रुवोर्मध्ये छिद्रमेकं प्रकाशितम् ।
तद्गुहा कथ्यते तज्ज्ञैः ब्रह्मलोकस्तदन्तगः ।। ३०।।

दोनों भोहों के मध्यस्थान में आज्ञाचक्र में एक प्रकाशपूर्ण छिद्र है जिसे योगविद् आज्ञागुहा कहते हैं, इसी के मध्य में ब्रह्मलोक बताया जाता है।

योगिभिर्दृश्यते तत्र शिशुर्नारायणो हरिः ।
पुरुषोत्तमो बालरूपो हीरकासनसंस्थितः ।। ३१ ।।

विष्वक् सिंहासनं तत्र संस्थिताः सनकादयः ।
सम्मुखे नारदो वीणां गायति वादयन् गुणान् ।। ३२ ।।

योगी लोग यहीं पर शिशुरूप नारायण के दर्शन पाते हैं, यहाँ भगवान् पुरुषोत्तम हीरों के आसन पर विराजमान हैं उनका बालरूप है, सिंहासन के चारों ओर सनकादि खड़े हैं सामने नारदजी वीणा बजाते हुए हरिगुण गा रहे हैं।

पश्यन्तो निर्निमेषाभि र्दृष्टिभिर्हरिमास्थिताः ।
ऋषयोमुनयोऽसंख्याः सिद्धाः साध्याश्च ध्यानिनः ।।३३।।

यहाँ असंख्य ऋषिमुनि सिद्ध साध्य ध्यानी योगी अपलक-दृष्टि से भगवान् को देखते हुए उपस्थित हैं।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चेयम् कथ्यते भगवत्सभा ।
दर्शिता लौकिके भावे ब्रह्मलोकस्य या कथा ॥ ३४ ॥

ब्रह्मलोके तु सर्वं हि चिन्मयं नैव दृश्यते ।
आत्मदृष्टिं विना किञ्चित् बृहत् कूटस्थमेव तत् ॥ ३५ ॥

ऋषिमुनि इसे 'भगवत्सभा' कहते हैं। लौकिक रूप में ब्रह्मलोक का जैसा स्वरूप है वैसी ही यह सभा है किन्तु यहाँ सभी कुछ केवल 'चिन्मय' ही है कोई भी साधक विना आत्मदृष्टि के आत्मस्थ इस दृश्य को नहीं देख सकता है।

इडापिङ्गलयोरेव गतिः श्वासस्य संसृतिः ।
सुषुम्नायां गते श्वासे मनःस्थैर्यं भवेद् ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

इडा एवं पिङ्गला से श्वास का गुजरते रहना ही संसार है श्वास के सुषुम्ना में प्रविष्ट होते ही मन स्थिर हो जाता है फिर कोई भी प्रपञ्च बाकी नहीं रहता है ।

प्राणवायोः सुषुम्नायां चलनान्मनसः स्थितिः ।
उन्मनी कथ्यते योगे स्थिरावस्थाप्रदायिनी ॥ ३७ ॥

प्राणवायु के सुषुम्ना मे चले जाने पर मन की विशेष प्रकार की स्थिति हो जाती है जिसे उन्मनी कहते हैं यह अवस्था स्थिरता प्रदान करती है।

श्वासस्य गतिरोधेन इडापिङ्गलयोर्भवेत् ।
सुषुम्नायां निरालम्बा गतिः श्वासस्य सर्वदा ॥ ३८ ॥

इडा और पिङ्गला में से श्वास का प्रवाह रोक देने से श्वास-गति निरालम्ब सी होकर सदा सुषुम्ना में गतिशील होगी। उसके लिए यही एक मार्ग बचेगा।

ऊर्ध्वाधोगतिरोधेन सुषुम्ना मध्यतो गताः ।
तिष्ठन्ति मस्तके प्राणाश्चिरं योगीति जीवति ॥ ३६ ॥

प्राण की ऊपर नीचे की गति रोक देने से सुषुम्ना के मध्य से गुजरे हुए प्राण मस्तक में स्थिर हो जाते हैं तभी योगी चिरकाल तक जीवित रहते हैं ।

ज्ञापकं भूमितत्वस्य लीयते कुर्हि यत्र तत् ।
कुलमाधारचक्रम्वा सुषुम्णायाः सृतिश्च तत् ॥ ४० ॥

भूमितत्व का ज्ञापक 'कुं' जहाँ लीन हो जाता है वही कुल है उसी का नाम आधारचक्र है यही सुषुम्ना का मार्ग है ।

प्रातरुत्थाय प्रागेव गणेशपूजनं वरम् ।
तदस्ति शोधनं नित्यं क्रियया गुदकोष्ठयोः ॥४१॥

सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि मनो याति प्रसन्नताम् ।
न रोगा नैव विघ्नाश्च भवन्ति पूजकस्य तु ॥ ४२ ॥

प्रातः उठते ही गणेशपूजन करना उत्तम है क्रियाओं द्वारा गुदा और कोष्ठ का शोधन ही गणेशपूजन है। नियमितरूप से गणेशपूजा करने वाले के सभी कार्य पूरे हो जाते हैं उसका मन प्रसन्न रहता है, उसके किसी प्रकार के रोग और विघ्न नहीं होते हैं ।

संसारे या प्रसिद्धास्ति नदीनाम्ना सरस्वती ।
सैवाध्यात्मिकभावे तु सुषुम्णानाडिका मता ॥ ४३ ॥

संसार में सरस्वती नाम से प्रसिद्ध नदी ही यौगिकभावों में सुषुम्णा नाड़ी है ।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा समवस्थिता ।
मूलाधारे तयोर्युक्ता त्रिवेणीत्यभिधीयते ॥ ४४ ॥

इडा पिङ्गला के बीच सुषुम्णा स्थित है, मूलाधार में इन दोनों का संयोग त्रिवेणी कहलाता है। जहां तीन नदियां मिले वही त्रिवेणी, यहां भी गङ्गा यमुना रूप इडा पिङ्गला का सुषुम्णा रूप सरस्वती से मेल होता है।

नादयुक्ता सुषुम्णापि शब्दब्रह्ममयी नदी ।
प्राप्नोत्यस्याः श्रयाज्जीवः परब्रह्माब्धिसंगमम् ॥ ४५ ॥

नादयुक्त सुषुम्णा भी शब्दब्रह्ममयी नदी है जीव इसका सहारा पाकर, परब्रह्म रूपी सागर का संगम पा लेता है।

नादयुक्तासुषुम्णापि तथैव वहतेऽनिशम् ।
अगम्यं शब्दब्रह्माब्धिं जीवोऽप्येति तदाश्रयात् ॥ ४६ ॥

नादयुक्त सुषुम्णा भी उसी प्रकार (नदी की भांति) निरन्तर बहती रहती है, जीव भी इसका सहारा पाकर अगम्य शब्दब्रह्माब्धि को पा लेता है।

नदतीति नदी प्रोक्ता ह्युच्चैस्तु पतनादधः ।
तदाश्रयादवश्यं हि सर्वं गच्छति सागरम् ॥ ४७ ॥

ऊपर से नीचे गिरने से वेगवती होने से समृद्धिशील हो जाती है, अतः जलधारा नदी कहलाती है, इसका आश्रय पाकर प्रत्येक वस्तु सागर तक पहुँच सकती है।

मन्त्राणां जपनात् सिद्धिश्चित्तैकाग्र्येण जायते ।
प्राणायामात्सुषुम्णायां न सिद्धिः केवलाज्जपात् ॥४८॥

सुषुम्णा में प्राणायाम कर मन की एकाग्रता से मन्त्र जपने से सिद्धि होती है केवल जप करने से नहीं।

देहस्थोदात्तदिव्यानां शक्तीनामेकरूपिणी।
शक्तिः कुण्डलिनी ज्ञेया नारीव चान्तरात्मनः ॥ ४६ ॥

शरीर में स्थित सभी उदात्त व दिव्य शक्तियों का 'एक-रूप' यह कुण्डलिनी है जो अन्तरात्मा की नारी शक्ति है।

संसारसुखमग्नस्य विषमाऽऽकृष्टचेतसः।
चैतन्यरहिता सुप्ता भवेत् कुण्डलिनी सदा ॥ ५० ॥

सांसारिक सुखों में लिप्त रहने वाले तथा विषयों में फंसे मन वाले व्यक्ति की कुण्डलिनी अचेतन अवस्था में सदा सोई पड़ी रहती है।

मूलाधारादिचक्राणि भित्वा कुण्डलिनी नयेत्।
सहस्रारे शिरश्चक्रे सर्वोच्चज्ञानसागरे ॥ ५१ ॥

मूलाधारादि चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी को सर्वोच्च ज्ञानसागर शिरश्चक्र सहस्रार में पहुँचावे।

वातसंस्थानमूलानि चक्राणि शोधयेज्जनः।
सर्वदादेहशुद्ध्यर्थं सिद्धिरस्माद्भविष्यति ॥ ५२ ॥
न भवेन्मनसः शुद्धि र्विनादेहस्य शोधनम्।
वायोरयुक्तसञ्चारात् सम्यक् युक्तिर्न चेष्यति ॥ ५३॥

सर्वदा देह शुद्धि के लिये वायु के संस्थान में मूल इन चक्रों का शोधन करे इसी से सिद्धि होगी। देह शुद्धि विना मन की शुद्धि कैसे हो सकती है, वायु का सञ्चार ठीक न होने से कोई भी कार्य ठीक युक्ति से नहीं होगा।

कोष्ठस्य पूरणात् पूर्वं वरं तन्मलरेचनम् ।
प्रयोगादौपधेर्नैव गणेशाख्यक्रियैव हि ॥ ५४ ॥

उदर को भरने के पूर्व उसका मल दूर करना ठीक है किन्तु औषध प्रयोग से नहीं गणेशपूजन क्रिया से ।

सन्ति चक्राणि देहेऽस्मिन् मूलाधारादि नामतः ।
षट् सप्त नववेत्यत्र संख्यायां मतत्रयम् ॥ ५५ ॥
आधारः प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
मणिपूरस्तृतीय स्या दनाहतस्तुरीयकम् ॥ ५६ ॥
विशुद्धं पञ्चमञ्चात्र षष्ठमाज्ञेति षड्विधाः ।
ब्रह्मरन्ध्रञ्च शून्यं वा परमं द्वितीये मते ॥ ५७ ॥
सप्तमं तालु चक्रञ्च ब्रह्मरन्ध्रं तथाष्टमम् ।
नवमञ्च सहस्रारं नवैवं नववादिषु ॥ ५८ ॥

मूलाधार आदि देह में चक्र हैं जिनकी संख्या के विषय में तीन मत हैं। कुछ लोग ६ मानते हैं कहीं ७ माने जाते हैं तथा कहीं ९। ६ चक्र वालों के मत में १ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूर, ४ अनाहत, ५ विशुद्ध तथा ६ आज्ञाचक्र' सात मानने वाले ब्रह्मरन्ध्र या शून्य चक्र को ७ वां मानते हैं। ९ मानने वालों के मत में ७ वां तालुचक्र ८ वां ब्रह्मरन्ध्र तथा अन्तिम सहस्रार चक्र हैं। यहां हमने द्वितीय मत माना है।

प्रथमं स्याच्चतुष्कोणम् चन्द्राकारं द्वितीयकम् ।
तृतीयन्तु त्रिकोणं स्यात् षट्कोणञ्च चतुर्थकम् ॥५९॥
गोलं स्यात्पञ्चमं यन्त्रं षष्ठं चन्द्रार्धसन्निभम् ।
सप्तमन्तु निराकारं शक्तियन्त्रेषु सम्भवेत् ॥ ६० ॥

शक्तियन्त्रों में प्रथम चक्र मूलाधार का स्वरूप चतुष्कोण का है दूसरा चन्द्राकार तीसरा त्रिकोण चौथा षट्कोण पाचवां गोल छठा अर्धचन्द्राकार तथा सातवाँ निराकार है।

सहस्रपंक्तिचक्रस्य ऊर्ध्वभागे शरीरिणाम् ।
ब्रह्माण्डो वर्तते पिण्डे तदूर्ध्वं शून्यमेव हि ॥ ६१ ॥

शून्याकाशात्परो लोकः सत्यलोकः प्रकीर्तितः ।
तत्रस्थः सच्चिदानन्दः परब्रह्मेति वाचकः ॥ ६२ ॥

मनुष्य के शरीर में ऊर्ध्व भाग में सहस्रारचक्र में ब्रह्माण्ड है इससे ऊपर शून्य है, शून्याकाश से ऊपर का स्थान सत्यलोक है वहीं पर परब्रह्मवाचक सच्चिदानन्द परमात्मा है।

सत्यलोकसमुत्पन्नं ज्योतिरायाति भूतले ।
व्याप्नोति सर्वपिण्डेषु चिच्छक्तिरिति नामतः ॥६३॥

सत्यलोक से उत्पन्न ज्योति ही पृथ्वी पर आती है तथा चित् शक्ति के नाम से समस्त शरीरों में व्याप्त रहती है।

सत्यलोकादधस्तात्तु लोक एकः सुगीयते ।
तदधस्तान्महाशून्यं ब्रह्माण्डन्तदधो मतम् ॥ ६४ ॥

सत्यलोक से नीचे एक लोक और है उसके नीचे महाशून्य है तथा उसके नीचे ब्रह्माण्ड है।

तस्याधः प्रकृतिः सूक्ष्मा पराप्रकृतिसंज्ञिका ।
तदधः प्रकृतिः स्थूला स्थूलमायेति नामतः ॥ ६५ ॥

उसके नीचे पराप्रकृति नाम की सूक्ष्मप्रकृति है तथा उसके नीचे स्थूलमाया नाम की स्थूल प्रकृति है।

शून्यलोकागताधारा ब्रह्माण्डे चाभवत्त्रिधा ।
ब्रह्मविष्णुशिवत्वेन संसारसृष्टिहेतवे ॥ ६६ ॥

संसार के सृजन की इच्छा से सत्यलोक से आई हुई धारा ब्रह्मा विष्णु शिव रूप से तीन प्रकार की हो गई।

मूलाधारस्य चक्रे तु कमलं स्याच्चतुर्दलम् ।
द्वितीये षड्दलं पद्म दशदलं तृतीयकम् ॥ ६७ ॥

द्वादशकर्णिकं तुर्ये पञ्चमन्तु स षोडशम् ।
द्विदलं षष्ठचक्रन्तु सहस्रारञ्च सप्तमम् ॥ ६८ ॥

मूलाधार चक्र में कमल की ४ पंखुड़ियां होती है दूसरे की ६ तीसरे की १० चौथे की १२ पाँचवें की १६ तथा छठे की दो तथा अन्तिम की हजार कर्णिकाएं होती हैं।

षष्ठे भ्रूमध्यचक्रे तु ब्रह्मज्योतिः स्थिरं मतम् ।
तस्योपरिस्थितञ्चक्रं शून्य सहस्रकर्णिकम् ॥ ६९ ॥

छठे भ्रूमध्यचक्र में ब्रह्मज्योति स्थिर मानी गई है उसके ऊपर हजार कर्णिका का शून्यचक्र है।

महाशून्यादधस्तात्तु सहस्रदलसंयुतम् ।
विद्यते कमलं यत्र पिण्डोपरि विराजते ॥ ७० ॥

अस्माद्धि सप्तमाच्चक्रात् संसारो रचितोऽभवत् ।
गुणातीतः परम्ब्रह्म निराकारोऽपि यन्मतम् ॥ ७१ ॥

महाशून्य के नीचे सहस्रदल कमलपिण्ड पर विराजमान है। इसी सप्तमचक्र से संसार की रचना हुई है यह चक्र गुणातीत परब्रह्म और निराकार भी माना गया है।

गणपतिर्ब्रह्मविष्णुश्च रुद्रो देवगुरुर्गुरोः ।
ज्योतिश्च परमात्मैवं देवाश्च क्रमश इमे ॥ ७२ ॥

गणपति ब्रह्मा विष्णु रुद्र बृहस्पति गुरुज्योति तथा परमात्मा ये क्रमशः चक्रों के देवता हैं।

सिद्धिः सरस्वती लक्ष्मी गौरी प्राणबलन्तथा ।
ज्ञानशक्तिर्मनश्शक्ति श्चक्राणां देवशक्तयः ॥ ७३ ॥

सिद्धि सरस्वती लक्ष्मी गौरी प्राणशक्ति ज्ञानशक्ति तथा मनश्शक्ति। ये सातों चक्रों की क्रमशः देवशक्तियाँ हैं।

रक्तसिन्दूरनीलाश्च रक्तधूम्रौ सितोज्ज्वलौ ।
चक्राणां क्रमशो वर्णाः शास्त्रकारैर्निरूपिता ॥ ७४ ॥

रक्त, सिन्दूर, नील, रक्त, धूम्र, श्वेत तथा उज्ज्वल ये सातों चक्रों के क्रमशः वर्ण (रङ्ग) बताये गये है।

योनिर्वस्तिश्च नाभिश्च हृदयं कण्ठ एव च ।
भ्रूमध्यञ्च कपालञ्च चक्रस्थानानि तत्क्रमात् ॥ ७५ ॥

योनि, वस्ति (पेडू), नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य भाग तथा कपाल। ये क्रमशः चक्रों के स्थान हैं।

प्रथमे षट्शतं संख्या द्वितीये षट्सहस्रकम् ।
तृतीयेऽप्येषा विज्ञेया संख्या चैव चतुर्थके ॥ ७६ ॥
सहस्र पञ्चमे चक्रे षष्ठे सप्तमयोरपि ।
सहस्रमेव संख्यात्र मन्त्रजापाय निश्चिता ॥ ७७ ॥

प्रथम चक्र के मन्त्र के जप की संख्या ६०० दूसरे की ६००० तीसरे चौथे की भी ६०००.६००० पांचवें की १००० छठे सातवें की भी १०००,१००० ही है।

गजो नक्रश्च मेषश्च मृगश्चापि महागजः ।

नादो विन्दुरितीमे स्यु र्वाहनानि यथाक्रमम् ।। ७८ ।।

हाथी घड़ियाल मेंढा मृग महागज नाद और विन्दु ये क्रमशः सातों चक्रों के वाहन हैं।

पृथ्वीजलाग्नयः वायु र्नभश्चापि महत्तथा ।

क्रमात् षड्चक्रतत्वानि तत्वातीतन्तु सप्तमम् ।।७६ ।।

पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश तथा महत् ये ६ चक्रों के तत्व हैं सातवां चक्र तो तत्वातीत है ।

लं वं रं यं तथा हम्ब्लौम् विसर्गश्च तथान्तिमः ।

ज्ञेयानि तत्ववीजानि चक्राणां वै यथाक्रमम् ।। ८० ।।

लं वं रं यं हं तथा विसर्ग (:) ये ६ तत्वों के क्रमशः वीज हैं। सातवे चक्र का तत्व ही नहीं है तो वीज की क्या सत्ता ।

ब्रह्माविष्णुश्च वृद्धेशः ईशानः पञ्चवक्त्रकः ।

लिङ्गस्तथा परब्रह्म वीजवाहनदेवताः ।। ८१ ।।

ब्रह्मा विष्णु वृद्धरुद्र ईशान पञ्चवक्त्र लिङ्ग तथा परब्रह्म ये वीजों के वाहनों के देवता हैं।

शास्त्रज्ञानानुभूतिभ्याम् साधकेभ्यः सुविस्तरम् ।

देवान् स्थानानि चक्राणां ध्यानार्थं वर्णयाम्यहम् ।। ८२ ।।

शास्त्र ज्ञान एवं स्वानुभूति से साधकों के हित के लिए ध्यानोपयोगी होने से चक्रों के स्थान व देवताओं का वर्णन कर रहा हूं ।

डाकिनी शाकिनी चैव लाकिनी काकिनी तथा ।

शाकिनी हाकिनी चैव महाशक्तिर्देवशक्तयः ।। ८३ ।।

डाकिनी शाकिनी लाकिनी काकिनी शाकिनी तथा हाकिनी और महाशक्ति ये क्रमशः चक्रों की देवशक्तियाँ हैं ।

अक्षराण्यपि चक्राणां वर्णयामि सुयोगतः ।
यावत्पङ्क्तिकचक्राणि तावन्त्येवाक्षराण्यपि ॥ ८४ ॥

चक्रों के अक्षरों का वर्णन भी क्रम प्राप्त होने से कर रहा हूं सामान्यतया चक्र जितनी कर्णिकाओं का है उतने ही उसके अक्षर हैं ।

मूलाधारस्य चक्रस्य वर्णाः स्युर्वादि सान्तकाः ।
वं शं षं सञ्च चत्वारः एवमग्रेऽपि चिन्तयेत् ॥ ८५ ॥

स्वाधिष्ठानस्य चक्रस्य वादिलावधयो मताः ।
मणिपूरकचक्रस्य डादिफावधयो हि ते ॥ ८६ ॥

दलानां द्वादशैर्युक्त हृदये यदनाहतम् ।
चक्रं तस्य विजानीयात् कादि ठान्ताक्षराणि हि ॥ ८७॥

मूलाधार चक्र के वर्ण वं शं षं सं हैं, स्वाधिष्ठान चक्र के वं भं यं रं लं वर्ण हैं, मणिपूरक के डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं वर्ण हैं। अनाहत दल के कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं ये १२ वर्ण बारह कर्णिकाओं के हैं ।

षोडशदलपद्मे तु चक्रे विशुद्धसंज्ञके ।
षोडशसंख्यकान्यत्र विज्ञेयान्यक्षराण्यचः ॥ ८८ ॥

भ्रूमध्ये स्थितचक्रस्य हं क्षं द्वे अक्षरे मते ।
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रारे अक्षा वर्णाश्च विंशतिः ॥ ८९ ॥

षोडश दल के कमल वाले विशुद्ध चक्र में १६ वर्ण स्वर हैं (अ से अः तक) भ्रूमध्य में स्थित दो दल वाले आज्ञाचक्र में हं और क्षं ये दो ही अक्षर हैं, ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार में प्रत्येक दल में बीस बीस बार अ से क्ष तक स्वर और व्यञ्जन वर्ण हैं।

सर्वदा प्राणिनां हृत्तो ध्वनिर्यः श्रूयते स्वयम्।
शब्दब्रह्मास्त्यसावेव नादश्चानाहताभिधः ॥ ६० ॥

प्राणियों के हृदय से निरन्तर ध्वनि स्वयं सुनी जाती है वह शब्दब्रह्म है जिसे अनाहत नाद भी कहते हैं।

लोके यो गीयते शब्दो ह्यहदः सोऽस्त्यनाहतः।
हृदयेऽनाहताच्छब्दात् "सोहं" शब्दध्वनिं जपेत् ॥६१॥

लोग जिसे अनहद नाम से पुकारते हैं वस्तुतः वह अनाहत है। इस अनाहत नाद से ही हृदय में "सोऽहम्" मन्त्र का जप करे।

चित्तस्यैकाग्रतासिद्ध्यै शब्दश्रवणमभ्यसेत्।
ध्यानमाकृष्य दृश्यादे रात्मानन्दोत्सुको भवेत् ॥ ६२ ॥

चित्त की एकाग्रता की सिद्धि के लिए 'नादानुसन्धान का प्रयास करे. बाहरी दृश्यों से मन को हटा कर आत्मानन्द के लिए उत्सुक रहे।

आहृत्य विषयात्कार्य आत्मवृत्तोन्द्रियव्रजः।
हृदयेऽनाहतश्शब्दः श्रोतव्योऽभ्यासयोगतः ॥ ६३ ॥

इन्द्रिय समुदाय को विषयों से खींच लेना चाहिए। इसके लिए अभ्यास योग से अनाहत नाद को हृदय में सुने।

चित्तवृत्तीर्निरुद्ध्यैव शृणुयादान्तरध्वनिम्।
बाह्याश्चाभ्यन्तरामन्या मासक्तिं सर्वथा त्यजेत् ॥ ६४ ॥

चित्तवृत्तियों को रोक कर आन्तरिक ध्वनि (नाद) सुनें, नाद श्रवण के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक प्रकार की बाह्य तथा आभ्यन्तर आसक्तियों को सर्वथा छोड़ दे।

ब्रह्माण्डादुत्थितो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ।
सैव ध्वन्यात्मकः सूक्ष्मो नादोऽस्ति भ्रकुटिश्रुतः ॥९५॥

ब्राह्माण्ड से उठा हुआ नाद शब्दब्रह्म कहलाता है, भृकुटि में लक्ष्य जमाकर सुना जाने वाला यही नाद 'सूक्ष्म-ध्वनि' है।

साक्षरोऽनक्षरश्चापि शब्दो हि श्रूयते द्विधा ।
साक्षरः प्रणवोऽभ्यासात् श्रयतेऽनक्षरो ध्वनिः ॥९६ ॥

साक्षर और अनक्षर इस प्रकार से दो तरह का नाद सुना जाता है इनमें साक्षर ध्वनि प्रणव है तथा अनक्षर ध्वनि केवल ध्वनि ही है जिसमें वर्ण न हो। ये नाद अभ्यास से ही सुने जाते हैं।

योगेऽनाहतशब्दस्य श्रवणं दशधा भवेत् ।
श्रोता हि प्राप्नुयात्तेभ्यः सुसिद्धीश्चाप्यनेकधाः ॥ ९७ ॥

योग में अनाहत शब्द का श्रवण दस प्रकार से होता है, ऐसा श्रोता इससे नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

विराजि मण्डलानितु षट्त्रिंशत्संख्यकानि वै ।
शब्दान् दश प्रवर्तन्ते दशैव तेषु केवलम् ॥ ९८ ॥

मण्डलानि दशैतानि ह्यपरा क्षेत्रगामिनि ।
क्रमशो वै ध्वनिं वच्मि लोकनामपुरस्सरम् ॥ ९९ ॥

इस विराड् में कुल ३६ मण्डल हैं, इनमें से केवल दस मण्डल ही दस प्रकार के शब्दों को प्रवर्तित करते हैं। ये दसों मण्डल अपरा के क्षेत्र में हैं (शेष २६ पराके क्षेत्र में) इनसे उत्पन्न ध्वनि को तथा इन मण्डलों के नामों को बता रहा हूं।

संहारकदेवलोकीयः शब्दो नुपुरध्यानवत् ।
पालकदेवलोकीयः समुद्रलहरी ध्वनिः ॥ १०० ॥

सर्जकदेवलोकीयः मृदंगध्वानि सन्निभः ।
सहस्रदलपद्मीयः शंखध्वानोपमो रवः ॥ १०१ ॥

प्रथम मण्डल का नाम संहारक देव लोक है जहाँ का शब्द नूपुर की झङ्कार का सा होता है। दूसरा मण्डल पालक देव-लोक है जिसका शब्द समुद्र की लहर की सी ध्वनि वाला है। तीसरा मण्डल सर्जक देवलोक है जहाँ का शब्द मृदंग की ध्वनि के तुल्य है। चतुर्थ मण्डल सहस्रदल कमल है जहाँ का शब्द शंखध्वनि के तुल्य है।

आनन्दमण्डलीयस्तु तूर्यनिस्वानसन्निभः ।
वंशीरवसमः शब्द श्चिदानन्दे तु मण्डले ॥ १०२ ॥

वीणाध्वानसंकाशः सच्चिदानन्दमण्डले ।
अखण्डं चार्धमात्रे तु मण्डले सिंहगर्जनम् ॥ १०३ ॥

पञ्चम मण्डल आनन्द मण्डल है जहाँ से तुरही जैसे शब्द की प्रवृत्ति होती है, छठे चिदानन्द मण्डल में वंशी ध्वनि के तुल्य शब्द है। सप्तम सच्चिदानन्द मण्डल में वीणा की झङ्कार जैसा शब्द है। आठवें अखण्ड अर्धमात्रा मण्डल में सिंह-गर्जना की सी ध्वनि है।

अगममण्डले नित्यं नफीरीध्वानवद् ध्वनिः ।
अखण्डमण्डले ध्वानः श्रूयते शारिकारवः ॥ १०४ ॥

साधकेन ध्वनिर्नित्यं श्रोतव्यः दत्तकर्णतः ।
वामकर्णगताः शब्दा मायोत्था भ्रामकाः समे ॥ १०५॥

नवे अगम मण्डल में सदा नफीरी (शहनाई) की सी ध्वनि आती है तथा दसवें अखण्ड (पूर्ण मात्रा वाले) मण्डल में बुलबुल की सी ध्वनि आती हैं।

साधक अपने से दाहिनी ओर से उठने वाली आवाजें ही सुनें बाईं तरफ से आने वाले शब्द माया के हैं जो भ्रामक होते हैं।

कर्णनासादिछिद्राणि षण्मुखीमुद्रया जनः ।
रुद्ध्वा निशीथवेलान्ते नादश्रवणमभ्यसेत् ॥ १०५ ॥

साधक षण्मुखी मुद्रा से कान व नाक के छिद्रों को बन्द कर आधी रात में शान्ति के समय नाद सुनने का अभ्यास करे।

अव्यक्ते हि सहस्रारे नादो योऽस्ति स एव हि ।
ओङ्काराख्यां समाप्नोति सन्नाज्ञाचक्रमाश्रयन् ॥ १०७ ॥

अव्यक्त सहस्रार में स्थित नाद ही आज्ञाचक्र का सहारा पाकर ' ओङ्कार ' बन जाता है।

जापः केवलमालापो पाणिमात्रसमुद्भवः ।
लौकिको विधिहीनोऽयं जापो दिव्यः कदापि न ॥१०८॥

केवल मात्र वाणी से किया हुआ जाप 'आलाप' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा लौकिक जाप विधिहीन होने पर

तो कभी भी दिव्यता (देव श्रेणी में स्थान पाने की योग्यता) नहीं पा सकेगा।

ध्वनिर्यः श्रूयते ह्यन्त श्चित्तवृत्तिनिरोधतः ।
सैवास्ति भगवज्जापः श्रोतुं तमभ्यसेत्सदा ॥ १०९ ॥

चित्तवृत्तियों को (इधर उधर भटकने से) रोककर हृदय में जो ध्वनि सुनी जाती है वही सच्चा भगवज्जप है इसलिए इस ध्वनि को सुनने का ही सदा अभ्यास करे।

भजनं ज्ञानिनामेत दज्ञानिनामतोऽन्यथा ।
श्रवणं गुरुवाक्यानां ध्यानं स्मृतिश्च संगतिः ॥ ११० ॥

ज्ञानियों का यही सच्चा भजन है, अज्ञानियों का भजन इससे अन्य होता है जिससे गुरु वचनों का श्रवण ध्यान स्मृति तथा संगति की प्रधानता होती है।

सिद्धासने स्थितो योगी छन्नच्छिद्रः समाहितः ।
समाहृतेन्द्रियग्रामः शृणुयादान्तरध्वनिम् ॥ १११ ॥

सिद्धासन पर जमा हुआ योगी अपने कर्ण कुहरों (कानों के छेदों) को बन्द कर समस्त इन्द्रिय समुदाय को तत्तद् विषयों से खींच कर एकाग्रचित्त हो अनाहत नाद सुने।

सदैव कथ्यते शब्द श्चेतनं सुरतस्तथा ।
स एवानन्दतेऽनाशी सर्वमन्यत्तु नश्यति ॥ ११२ ॥

शब्द ही चेतन व सुरत है वही अविनाशीरूप से सदा स्थित व आनन्दित रहता है, शेष अन्य सभी विनश्वर हैं।

चित्तस्यैकाग्रभावेन शब्दस्य श्रवणं वरम् ।
सिद्धिः सुरतशब्दस्य दशमे द्वारि निश्चितम् ॥ ११३

चित्त की एकाग्रता से शब्द सुनना अच्छा है, सुरत शब्द की सिद्धि दसवें द्वार (ब्रह्माण्ड या कपाल देश) में निश्चित है।

नश्यति द्वित्वभावोऽस्मात् तुच्छतां यान्ति सिद्धयः ।
लौकिकान्स चमत्कारान् जानाति बालकेलिवत् ॥११४॥

इससे द्वित्वभाव नष्ट हो जाता है समस्त सिद्धियाँ भी उसे तुच्छ जचती हैं, वह लौकिक चमत्कारों को बालकों का खेल समझता है ।

गत्यर्थकसृधातोर्हि चासुन् प्रत्यययोगतः ।
सरसिति पदं सिद्धं तद्वती सा सरस्वती ॥ ११५ ॥

संस्कृत में जाने के अर्थ में 'सृ' धातु का प्रयोग होता है जिससे असुन् प्रत्यय लगने पर 'सरस्' पद बनता है (जिसका अर्थ ज्ञान होता है जो सब के लिए गम्य है) सरस् जिसे प्राप्त है वह सरस्वती हुई इस प्रकार ज्ञान की अधिष्ठातृ अमर मन्दाकिनी सरस्वती कहलाती है।

विभाजिता चतुर्धैवं वाग्देवी सा सरस्वती ।
परा पुनश्च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ॥ ११६ ॥

वह वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही परा पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी नाम से चार भागों में विभाजित हुई है ।

वर्णात्मको ध्वनिर्योऽयं नाभिस्थानात्समुत्थितः ।
कथ्यते स परावाणी पश्यन्ती हृदयात्तथा ॥ ११७ ॥

कण्ठदेशोद्गतः सैव मध्यमेति निगद्यते ।
वैखरी लोकवाणीयं श्रोत्रग्राह्यात्तरस्फुटा ॥ ११८ ॥

नाभिस्थान से उठी हुई वर्णों (की स्पष्टता) को लिए हुए प्रयोग में आने वाली वाणी परावाणी है हृदय से उठी हुई यही ध्वनि पश्यन्ती कहलाती है। यही ध्वनि यदि कण्ठ स्थान से उठी हो तो मध्यमा कहलाती है। लोगों के व्यवहार में आने वाली कानों से प्रत्येक वर्ण के स्पष्टतः ग्रहण किए जाने वाली वाणी वैखरी कहलाती है।

तिस्रः प्राथमिकावस्था गुहायां निहितास्तथा।
न ज्ञाता ब्राह्मणादन्यै वैखरी तु प्रयुज्यते ॥ ११९ ॥

प्रारम्भिक तीनों अवस्थाएं गुहा में निहित हैं (अर्थात् उनका स्वरूप अत्यन्त गहन है) ब्राह्मण (वेद शास्त्र ज्ञाता विद्वान् के अतिरिक्त किसी से नहीं जानी गई है, केवल वैखरी ही प्रयोग में आती है।

वाण्यो लोकोपयोगिन्यो वैखर्याद्या उदाहृताः।
सर्वेषां दिव्यलोकानां ध्वनिः सूक्ष्मो हि साधकः ॥१२०॥

लोकोपयोगी (रात दिन के व्यवहार में आने वाली) वाणी वैखरी आदि बताई गई हैं किन्तु सूक्ष्मध्वनि (अनाहत नाद) सभी दिव्यलोकों की साधक है।

नादादेव समुत्पन्नो बिन्दुरीश्वरतत्त्वभाक्।
उच्छूनावस्था शक्तेः शक्तिबीजाङ्कुरोऽपि सः ॥१२१॥

नाद से समुत्पन्न बिन्दु ही ईश्वरतत्व है अत्यन्त उच्चशक्ति की शक्ति का बीजांकुर भी बिन्दु ही है।

उन्मना समना शक्तेः सन्धिर्नाद इति स्मृतः।
सैवास्ति शिवशक्तेर्हि योगावस्थापि नामतः ॥१२२॥

उन्मना समना शक्ति का योग ही नाद है, इसे ही शिव-शक्तियोग भी कहते हैं।

मद्यं मांसं न सेवेत शब्दयोगपथे स्थितः ।
स्वल्पशाय्यल्पवाङ् नित्योऽमोहासङ्गो मिताशनः ॥१२३॥

शब्द-ब्रह्म का साधक योगी मद्य मांस का सेवन नहीं करे, अल्प शयन करे, अल्प वचन बोले, सदा ममता मोह से दूर रहे तथा आहार में नियमित रहे।

प्रातःकाले हि श्वेतांशुं द्रष्टुं बालार्कमुद्गतम् ।
एकदृष्ट्या निमेषश्च त्राटकं तद्विदां मतम् ॥ १२४ ॥

अभ्यसेदल्पमात्रन्तु वर्धयेच्च शनैः शनैः ।
एवं हि त्राटकं कुर्यात् मूर्तौ दीपे जले विधौ ॥ १२५ ॥

प्रातःकाल श्वेतकिरणमाली बालभास्कर को निर्निमेष एक दृष्टि से देखना ही त्राटक है।

प्रारम्भ में त्राटक का थोड़ा २ अभ्यास करे तथा बाद में धीरे २ मात्रा बढ़ावे इस प्रकार चन्द्रमा दीपक जल व मूर्ति पर त्राटक करे।

बालार्कदर्शनेनैव ज्योतिराकृष्यते हृदि ।
पश्येदतो विवस्वन्तं प्रातःकालेऽनिमेषतः ॥ १२६ ॥

प्रातःकालिक बाल-सूर्य के देखने से ही हृदय में ज्योति पैदा होती है अतः प्रातःकाल निर्निमेषदृष्टि से सूर्यदेव को देखे।

समाहृत्येन्द्रियग्राम मेकान्ते सुस्थितो नरः ।
दर्पणाभ्यन्तरे पश्येत् निजनेत्रकनीनिकाम् ॥१२७॥

एकान्त में सुन्दर स्थिति में अवस्थित मनुष्य अपने इन्द्रिय समुदाय को वश में कर दर्पण में अपनी आँख के तारे को देखे।

ध्यानेन त्वेकतानेन दर्शनं त्राटकं मतम्।
विन्दौ मूर्तौ जले चन्द्रे दीपे वान्यत्र कुत्रचित् ॥१२८॥

साधक का एकनिष्ठ ध्यान से विन्दु मूर्ति जल चन्द्र दीपक या अन्य पदार्थ पर दृष्टि जमा कर देखना त्राटक कहलाता है।

वर्धते त्राटकाभ्यासा दौष्ण्यं मस्तिष्कनेत्रयोः।
जलनेतिर्विधातव्या प्रमत्तैस्साधकै रतः ॥ १२९ ॥

पाटलार्केन वा नित्यं त्रिफलाया जलेन वा।
नेत्रप्रक्षालनं कार्यं कर्तव्यं हितकाम्यया ॥ १३० ॥

त्राटक के अभ्यास से मस्तिष्क व नेत्र में उष्णता बढ़ जाती है अतः साधक सावधानी से जलनेति अवश्य करे, नित्य गुलावजल या त्रिफलाजल से अपने हित की इच्छा से नेत्र प्रक्षालन करे।

चन्द्रो वा धातुमूर्तिर्वा दीपवर्ति प्रकाशिता।
चित्रं विन्दुस्तथा दीपो नासाग्रस्त्रिपुटी तथा ॥ १३१ ॥

लक्ष्याणि त्राटकाभ्यासे साधकानां भवन्ति हि (यथारुचि)
मध्यत्राटकमेकस्मिन् नियमात् साधकोऽभ्यसेत् ॥ १३२ ॥

चन्द्रमा धातु की प्रतिमा जलाई हुई दीपक की वत्ती चित्र विन्दु दीपक नासिका का अग्रभाग तथा त्रिपुटी त्राटक की साधना के लिए लक्ष्य माने गये हैं इन में से किसी एक के मध्य में साधक नियम पूर्वक त्राटक का अभ्यास करे।

रोगदोषादिभिर्मुक्तः प्रकृत्या श्लैष्मिकस्तथा ।
समत्रिधातुरादर्श नेत्रज्योतिसमन्वितः ॥ १३३ ॥

गुरौ शास्त्रेषु श्रद्धावान् आफलोदयकर्मवान् ।
दृढचेताः सुसंकल्पो लोकस्त्राटकसाधकः ॥ १३४ ॥

रोग दोष आदि से मुक्त प्रकृति से श्लेष्मा वाला, समान धातुओं वाला, सुन्दर नेत्रज्योति वाला, गुरु तथा शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाला, फलप्राप्ति तक निरन्तर कर्म करते रहने वाला, दृढ़चित्त, उत्तम सङ्कल्पवान् पुरुष त्राटक साधना के लिए अच्छा माना गया है ।

उपदंशोष्णवाताभ्या मम्लपित्तज्वरादिभिः ।
मज्जातन्तोश्च पित्तस्य विकारैरर्दितस्सदा ॥ १३५ ॥

शिरोहृदक्षिरोगार्तः क्षीणधातुश्च वातलः ।
सदैवाधिसमायुक्तः कोपनः शोककर्पितः ॥ १३६ ॥

निरतः पुस्तकाधीतौ मद्ये मादकवस्तुषु ।
सूर्यतापाग्निसेवी च न कुर्यात्त्राटकं कदा ॥१३७॥

उपदंश (गर्मी) उष्णवात, अम्ल पित्त, ज्वर, मज्जा (चर्बी) के पित्त के तथा तन्तुओं के विकार से सदा पीड़ित शिर, हृदय, आँख के रोगों से आर्त, क्षीणधातु वाला एवं बढ़ी हुई वात वाला, सदा आधिव्याधि से पीड़ित अत्यन्त क्रोधी शोकपूर्ण पुस्तकों के पढ़ने में लगा हुआ, मद्य तथा अन्य मादक वस्तुओं का सेवन करने वाला सूर्यताप या अग्नि के निकट रहने वाला कभी भी त्राटक का अभ्यास न करे ।

हस्तदूरे सिते गोले सर्षपाकारसन्निभम् ।
कृष्णचिह्नं विधायात्र त्राटकं ध्यानमाचरेत् ॥१३८॥

एकतानेन सूक्ष्मस्य लक्ष्यस्यैकाग्रचेतसा ।
नयनस्रावपर्यन्तं दर्शनं त्राटकं मतम् ॥ १३९ ॥

एक हाथ की दूरी पर सफेद वृत्त पर सरसों के दाने के बराबर काला चिह्न बनाकर त्राटक का ध्यान करे।

निरन्तर एकाग्र चित्त से सूक्ष्म लक्ष्य को आँखों में पानी आने तक देखते रहना त्राटक माना गया है।

पित्तस्य वर्धकं यत्तु मलावरोधकन्तथा ।
भोजनं नैव कर्तव्यं स्वास्थ्यसंरक्षणाय तत् ॥ १४० ॥

पित्त को बढ़ाने वाला तथा कब्ज करने वाला भोजन स्वास्थ्य सुरक्षा की दृष्टि से त्राटक योगी न करे।

साधकस्त्राटकं कुर्याद् हस्तैकदूरमास्थितः ।
कृष्णबिन्दौ हरेर्लिङ्गे नेत्रज्योतिर्विवर्धकम् ॥ १४१ ॥

वृद्धिं कुर्याच्छनैरेव त्राटकाभ्यासकर्मणि ।
शीघ्रता नैव कर्तव्या तया हानिर्भविष्यति ॥ १४२ ॥

लक्ष्य से एक हाथ की दूरी पर स्थित साधक काले बिन्दु या शिवलिङ्ग पर नेत्रज्योतिर्वर्धक त्राटक का अभ्यास करे। त्राटक के अभ्यास में शनैः २ वृद्धि करे, शीघ्रता कभी नहीं करे इससे हानि होगी।

दर्पणे नित्यमीक्षेत दृष्टयैव निर्निमेषया ।
दृष्टिर्लक्ष्यातिरिक्तन्तु न पश्येत् किञ्चिदन्यकम् ॥१४३॥

नित्य प्रति निर्निमेषदृष्टि से दर्पण में त्राटक करें. उस समय दृष्टिलक्ष्य से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को न देखें।

सुखदुःखविचारैश्च रजसा तमसा तथा ।
आलस्येन विनिर्मुक्तः विक्षिप्त इति कथ्यते ॥१४४॥

सर्वथा चिन्तया मुक्तः भवति शून्यसदृशः ।
एतादृशो महात्मानो जायते विरला भुवि ॥ १४५ ॥

सुखदुःख सम्बन्धी विचारों से रजोगुण या तमोगुण से तथा आलस्य से मुक्तसाधक "विक्षिप्त" कहलाता है, ऐसा साधक सर्वथा चिन्ता से मुक्त सर्वथा शून्यसदृश होता है. ऐसे महात्मा भूमि पर कम ही होते हैं।

सिद्धयो बाधिकाः सन्ति योगिनो योगसाधने ।
बध्नन्ति सिद्धयो लोके योगश्चोद्धरते हितम् ॥ १४६ ॥

योगी की साधना में सिद्धियाँ बाधक होती है सिद्धियाँ मनुष्य को बांधती हैं तथा योग उसका उद्धार करता है।

अन्तर्दृष्टिश्च बोधश्च मौनं वा मितभाषिता ।
अनिच्छा स्वप्रसिद्धौ च योगिनो निकषं भवेत् ॥१४७॥

अन्तर्दृष्टि बोध मौन अल्पभाषण तथा अपनी प्रसिद्धि में उदासीनता योगी की कसौटी है।

साधनं साधना भक्तिः तथा निष्कामकर्मता ।
कर्मकौशलता ज्ञानं ध्यानं योगः समार्थकाः ॥१४८॥

साधन साधना भक्ति निष्काम कर्म, कर्म-कौशल, ज्ञान ध्यान तथा योग ये समानार्थक शब्द हैं ।

अनभ्यस्तस्य योगस्य गूढसंकेतवर्णने ।
जाता या सा क्षमायोग्या चेष्टा मेऽनधिकारिणः ॥१४६॥

कभी भी योगविद्या का अभ्यास न करने से अनधिकारी होते हुए भी योग के गूढ संकेतों के वर्णन में की गई मेरी चेष्टा क्षमा करने योग्य है ।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्वखन्यां विविधविद्यासु
विविधयोगप्रतिपादकं योगशास्त्रं (उत्तरार्ध)
नाम षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

दक्षिणवाममार्गौ

रसूलाद् गुरुभावाद्वा सम्प्रदायपरम्परा ।
एकमेवास्ति लक्ष्यन्तु भिन्नधर्मावलम्बिनाम् ॥ १ ॥

सम्प्रदायों की परम्परा सिद्धान्तों के कारण अथवा देव दूतों में श्रद्धा की अधिकता या गुरुभाव की अधिकता से उनका अनुकरण करने के कारण चली है नहीं तो भिन्न २ धर्माव-लम्बियों का लक्ष्य तो एक ही है ।

उत्कृष्टान्वेषणं लक्ष्य निश्चितं सर्वप्राणिनाम् ।
परन्तदाप्तिसिद्ध्यर्थं क्रियास्वेवास्त्यनेकता ॥ २ ॥

मतानां भिन्नता लोके दृश्यते मतिभेदतः ।
एकमेवास्ति सर्वेषां प्राप्यं धाम तु निश्चितम् ॥ ३ ॥

उत्कृष्ट परम पुरुष की खोज सभी प्राणियों का निश्चित लक्ष्य है किन्तु उसे पाने की क्रियाओं में एकरूपता नहीं है ।

विभिन्न २ मतों की भिन्नता बुद्धिभेद से है वैसे सभी का प्राप्य धाम तो एक ही है ।

अनेकेषां हि देवानां पूजाविधिविबोधकम् ।
मन्त्रैः कथ्यते विज्ञैस्तन्त्रन्तच्च त्रिधा मतम् ॥ ४ ॥

विद्वान अनेक देवताओं की पूजा विधि को बतलाने वाले मन्त्रों को तन्त्र कहते हैं। वह तन्त्र तीन प्रकार का है।

प्रथम समयाचारं श्रीविद्याप्रतिपादकम् ।
द्वितीयं कौलतन्त्रं यद् वेदमार्गक्रमानुगम् ॥ ५ ॥

मिश्रं सनन्तृतीयन्तद् दुराचारप्रचारकम् ।
मद्यमांसादिभिर्यत्र क्रियते देवतार्चनम् ॥ ६ ॥

प्रथम तन्त्र समयाचार जिससे लक्ष्मी एवं विद्या की प्राप्ति होती है, द्वितीय कौल तन्त्र है जो वेद प्रतिपादित मार्ग के अनुसार है और तृतीय मिश्र है जो दुराचार का प्रचारक है एवं जिस में मद्य मांस आदि से देवताओं की पूजा की जाती है।

भेदभावेन युक्तानां सर्वेषां सम्प्रदायिनाम् ।
निश्चयस्त्वेक एवास्ति पक्षपातैः पृथक्कृतः ॥ ७ ॥

भेद भाव से युक्त सब साम्प्रदायिकों का निश्चय एक ही है, पक्षपात से ये सब पृथक् २ कर दिये गये हैं।

सम्प्रदायस्य नेतारं युगधर्मप्रचारकम् ।
मानन्त्यनुगता लोकाः जगदीशावतारकम् ॥ ८ ॥

ईसां मूसां यथा बुद्धं कबीरञ्च मुहम्मदम् ।
कृष्णं गान्धीं दयानन्दं कालधर्मप्रवर्तकम् ॥ ९ ॥

किसी सम्प्रदाय के नेता एवं युग धर्म का प्रचार करने वाले को ही उसका अनुगमन करने वाले लोग जगदीश का

तार मानते हैं। जैसे ईसा, मूसा, बुद्ध, कबीर, मुहम्मद, ह, गान्धी और दयानन्द कालधर्म के प्रवर्तक हुए हैं।

सुपन्था दक्षिणो ज्ञेयो वामश्च विपथस्तथा ।
संसारी दक्षिणाचारी वामाचारी तु ब्रह्मवित् ॥ १० ॥

दक्षिण मार्ग सुमार्ग है तथा वाम मार्ग कुमार्ग है दक्षिण र्गी सांसारिक एवं वाममार्गी ब्रह्मज्ञ होता है।

मन्यते गां यथा हिन्दूः तथैवोष्ट्रञ्च मुस्लिमः ।
पूज्यते सवितार्यैं स्तथार्बुवैश्च चन्द्रमाः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार हिन्दू गौ को मानते हैं उसी प्रकार मुसलमान को मानते हैं और जैसे आर्य लोग सूर्य को पूजते हैं वैसे अरब लोग चन्द्रमा को पूजते हैं।

दर्शनज्ञानचारित्रं सम्यग्शब्देन संस्तुतम् ।
जैनानामागमस्तम्भो रत्नत्रयपराभिधः ॥ १२ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ये तीन जैन तन्त्र के भ हैं इन्हीं को रत्नत्रय भी कहते हैं।

प्रशस्तस्त्यागभावोऽस्मिन् जैनधर्मे हि श्रूयते ।
शुष्कचर्मावशिष्टा हि चरन्ति नग्नसाधवः ॥ १३ ॥

इस जैन धर्म में त्याग की भावना की प्रशंसा सुनी जाती अतएव शुष्कचर्मावशेष नग्न साधु विचरण करते हुए नामय जीवन बिताते है।

दृश्यते चौत्सुकाः प्रायः सिद्धानां मूर्तिदर्शने ।
शोधभोग्ये यथासक्ता न तथा शुद्धकर्मसु ॥ १४ ॥

ये लोग जिनों की मूर्ति का दर्शन करने को अधिकतर [illegible] होते हैं परन्तु जैसे शीघ्र के भोजन के भक्त [illegible] शुभ कर्मों में तत्पर नहीं होते।

ईश्वरो नो जगत्कर्ता प्रधानं कर्म एव हि।
अर्हन्नाद्या हि पूज्यास्ते नाशकाः कर्मभूभृताम् ॥ १५ ॥

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है, कर्म ही प्रधान है अतः अर्हन्त आदि की पूजा करनी चाहिए ये ही कर्मरूपी पर्वतों का विनाश करने में समर्थ हैं।

कालस्थितिन्निरीक्ष्यैव नीतिज्ञैर्यत्कृतं यदा।
तन्नैवदूषणारोपस्तथैव क्रियतेऽधुना ॥ १६ ॥

समय की परिस्थिति के अनुसार नीतिज्ञों ने जब जो कुछ किया उपयुक्त ही किया है। आजकल भी वैसे ही किया जाता [illegible] उन पर दोषारोपण करना व्यर्थ है।

कार्यवीरः कबीरोऽभूत वरिष्ठोऽध्यात्मशोधने।
प्रसिद्धो निर्गुणध्याता साम्यभावप्रचारकः ॥ १७ ॥

निर्गुण का ध्यान करने वालों में प्रसिद्ध साम्यभाव का प्रचार करने वाले और अध्यात्मशोधन में श्रेष्ठ एवं कर्मिष्ठ कबीर थे।

तत्त्वविन्तत्त्वनिर्णेता महाव्यक्त्यर्थसूचकः।
कबीरोऽरबिभाषायां भवत्येव तथाहि सः ॥ १८ ॥

अरबी भाषा में कबीर का शब्दार्थ तत्त्वज्ञ, तत्त्व का निर्णय करने वाला एवं महापुरुष होना है वास्तव में कबीर ठीक [illegible] नाम वाले हैं।

शुद्धात्मना कबीरेण संसारहितकारिणा ।
निर्णिक्तसत्यसन्देशा दाकृष्टा जनभावना ॥ १९ ॥

संसार का हित करने वाले शुद्धात्मा कबीर ने निर्मल एवं सत्य सन्देश के कारण जनता की भावना को आकृष्ट कर लिया ।

अनन्तभवशुद्धत्वा दात्मनः परमात्मना ।
सन्मूर्द्धन्यकबीरेण सतां ज्ञानं सुविस्तृतम् ॥ २० ॥

आत्मा के अनन्त जन्मों (की साधना) से शुद्ध होने के कारण परमात्मा स्वरूप, सन्तों में मूर्धन्य कबीर से सन्तज्ञान का खूब प्रचार हुआ ।

स्वस्य धर्मस्य रक्षार्थं प्राणानप्यजुहन्नतः ।
सांजलिर्नम्रभावेन नमामि नानकादिकान् ॥ २१ ॥

अपने धर्म की रक्षा के लिए प्राणों की भी आहुति दे डाली अतः नानक आदि महापुरुषों को नम्रभाव से हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ।

नमामि सुगतं बुद्धं सर्वज्ञं च तथागतम् ।
श्रीघनं धर्मराजं च षडभिज्ञं विनायकम् ॥ २२ ॥

सुगत, बुद्ध, सर्वज्ञ, तथागत, श्रीघन, धर्मराज, षडभिज्ञ एवं विनायक आदि विविध नाम वाले भगवान् बुद्ध को प्रणाम करता हूं ।

समतायै समीहन्ते भेदभावविघातकाः ।
प्रभवन्त्यधुना लोके ह्यार्यास्तेऽनेकनामभिः ॥ २३ ॥

भेदभाव को नष्ट करने वाले ये आर्य समता के लिए चेष्टा करते हैं तथा अनेक अवान्तर समितियों के नाम से आजकल समर्थ भी हो रहे हैं ।

खण्डने मण्डने सिद्धा सर्वत्र सुप्रचारकाः ।
आर्यधर्मविधातृणां सर्वेषामग्रगा मताः ॥ २४ ॥

ये खण्डन मण्डन में कुशल व सर्वत्र उत्तम प्रचारक हैं, आर्यधर्म का प्रतिपादन करने वालों में सब से अग्रगामी हैं।

तार्किका वाग्मिनो वादे वागीशा भाषणे तथा ।
विवादायोत्सुकाः सभ्यैः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ २५ ॥

तार्किक, वादविवाद मे वाग्मी, भाषण में वागीश, सभ्यों से विवाद करने में उत्सुक तथा सम्पूर्ण शास्त्रों में चतुर होते हैं।

अनुशीलन्ति ते ग्रन्थान् वेदार्थसम्मतान् खलु ।
कुर्वन्तो होमयज्ञादीन् स्वधर्मं पालयन्ति ते ॥ २६ ॥

ये वेदार्थ सम्मत ग्रन्थों का ही अध्ययन करते हैं और होम यज्ञ आदि करते हुए अपने धर्म का पालन करते हैं।

विचरन्ति हि निर्भीकाः धर्मयुद्धार्थमुत्सुकाः ।
धर्मसंस्थापनार्थाय प्राणार्पणकराः वराः ॥ २७ ॥

धर्म युद्ध के लिए उत्सुक एवं धर्म की स्थापना के लिये प्राणों की भी बाजी लगा देने वाले श्रेष्ठ, निर्भीक होकर घूमते हैं।

मासाहिकाश्च कुर्वन्ति सभान्ते वार्षिकीन्तथा ।
अभिवादनकाले तु नमस्तेवादिनो मिथः ॥ २८ ॥

ये लोग मासाहिक तथा वार्षिक सभाएं करते हैं एवं परस्पर अभिवादन के समय नमस्ते का प्रयोग करते हैं।

विज्ञानां हर्षदाः सुज्ञाः दाम्भिकोग्रप्रघर्षकाः ।
व्याख्यानरचना वाद्ये गाने चामृतवर्षकाः ॥ २९ ॥

ये उत्तम ज्ञान से युक्त, ज्ञानी पुरुषों को आनन्दित करने वाले, दाम्भिकों को फटकारने वाले, व्याख्यान में निपुण तथा गाने बजाने में अमृत की वर्षा करने वाले होते हैं।

पुष्यन्ति विधवोद्वाहं नियोगस्य समर्थकाः ।
अहो आर्या सदुत्साहाः प्रतिवादिभयङ्कराः ॥ ३० ॥

ये विधवा विवाह के पोषक तथा नियोग प्रथा के समर्थक है अहो हो! ये आर्य लोग सच्चे साहसी एवं शास्त्रार्थ में विपक्षी को भयभीत करने वाले हैं।

पाखण्डखण्डनञ्चैव भ्रान्तिभावस्य नाशनम् ।
कौशलेन करोत्यार्य स्त्रेध्रवेदान्तमानदः ॥ ३१ ॥

तीनों वेदों का सम्मान करने वाले आर्य लोग पाखण्ड का खण्डन और भ्रान्ति भाव का विनाश चतुराई के साथ करते हैं।

श्रीसत्यार्थप्रकाशोऽयमृषिवर्येण निर्मितः ।
दयानन्दाभिधानेन योऽभूदध्वप्रदर्शकः ॥ ३२ ॥

ऋषिवर्य स्वामी दयानन्द के द्वारा निर्मित जो श्री सत्यार्थ-प्रकाश है वही इनका मार्ग दर्शक हुआ है।

प्रार्थयते घनश्यामः सादरं कोविदान्प्रति ।
प्रीतिवाक्यैः सुवक्तव्यः स्वीयभावो न खण्डकैः ॥ ३३॥

घनश्याम की इन विद्वानों से सादर प्रार्थना है कि वे अपने भावों को खण्डन के वाक्यों से न प्रकट कर प्रीति के वाक्यों से प्रकट करें।

आदिशब्दस्तु स्वामी स्या धारा तस्य ध्वनिः स्मृता ।
धारा तु प्रेमकर्त्र्यस्ति शब्दस्तत्प्रेमभाजनम् ॥ ३४ ॥

आदि शब्द को स्वामी कहते हैं और उसकी ध्वनि को धारा कहते हैं। धारा प्रेमकर्त्री है और शब्द उसका प्रेमपात्र है।

राधास्वामीति यः प्रोक्तो धारास्वामी स एव हि।
सर्वेषां ब्रह्मणां नाथः पदेऽनाम्निव्यवस्थितः ॥ ३५ ॥

जिसे राधास्वामी कहते हैं वही धारास्वामी है वही सम्पूर्ण ब्रह्म का स्वामी एवं अनाम पद में व्यवस्थित है।

सत्यलोकागतां धारां चेतनाशक्तिसंज्ञिताम्।
प्रसृतां सर्वदेहेषु जगतः सर्ववस्तुषु ॥ ३६ ॥
मन्यन्ते पूजनीयां तां योगद्वारा धृतां हृदि।
सिद्धमार्गं हि मन्यन्ते राधास्वामिमताश्रिताः ॥ ३७ ॥

सत्यलोक से आई हुई धारा को जिसे चेतनाशक्ति कहते हैं और जो सम्पूर्ण देहों में और जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं में फैली हुई है। राधास्वामी के मतानुयायी इसे सिद्ध मार्ग मानते हैं और योग द्वारा हृदय में धारण करने पर पूजनीय मानते हैं।

सा धारातीव सूक्ष्मास्ति न भवेद् दृष्टिगोचरा।
यथा चुम्बकधारात्र लोहमाकर्षति ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

यह धारा चुम्बकीय धारा की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म है जो दृष्टिगोचर नहीं होती है जैसे चुम्बकीय धारा दृष्टिगोचर न होने पर भी लोहे का आकर्षण कर लेती है।

श्वेतो योऽत्र प्रकाशोऽस्ति 'सद्देशः' स प्रकीर्तितः।
अत्रत्या चेतना धारा हंसशब्देन प्रोच्यते ॥ ३९ ॥

यहाँ जो श्वेत प्रकाश है उसे सद्देश कहते हैं और यहाँ की चेतना धारा को हंस कहते हैं।

सत्यलोकेऽर्चितो देवः सत्पुरुषोऽत्र निगद्यते ।
अत्रैव सीमिता दृष्टि र्निर्द्वन्द्वचेतनात्मनः ॥ ४० ॥

इस सत्यलोक में अर्चित देव सत्पुरुष कहलाता है, निर्द्वन्द्व चेतन स्वरूप आत्मा की दृष्टि यहीं पर टिकी रहती है।

तत्रस्थ देवतानाम त्वलखः पुरुषः स्मृत ।
भूयोऽधस्ताद् यथा पूर्वं सत्यलोकं तथासृजत् ॥ ४१ ॥

वहाँ के देवता का नाम अलख पुरुष है पुनः नीचे क्रमशः सत्यलोक की रचना की।

संसृज्यागमलोकं या धाराधस्तात् समागता ।
किञ्चिद् दूरे पुनश्चक्रे मण्डलं ह्यलखं शुभम् ॥ ४२ ॥

अगम लोक की रचना करके जो धारा नीचे आई उसीने कुछ दूर पर फिर शुभकारक अलख मण्डल की रचना की।

तत्रस्थ देवताभिख्या विद्यतेऽगमपूरुषः ।
कथ्यते चासनं तत्र राधास्वामिप्रभोरपि ॥ ४३ ॥

वहाँ पर स्थित देवता का नाम अगम पुरुष है और वहीं पर प्रभु राधास्वामी का भी आसन है।

धारा या त्वागताधस्तात् किञ्चिद् दूरे सुमण्डलम् ।
असृजदादिलोकाख्य मगमं लोकविश्रुतम् ॥ ४४ ॥

और जो धारा नीचे आई उसने कुछ दूरी पर अगम एवं लोकविख्यात आदिलोक नामक सुन्दर मण्डल की रचना की।

कथ्यते सैव जीवात्मा नानासृष्टिप्रवर्तकः ।
सा चैवावर्तिता धारा कथ्यते ब्रह्मरूपिणी ॥ ४५ ॥

और यही धारा नाना सृष्टि का प्रवर्तक जीवात्मा कहलाती है और यही धारा आवर्तित होने पर ब्रह्मरूपिणी राधा कहलाती है।

सुरताधोमुखी धारा शब्दब्रह्मसमुद्भवा।
प्रयुक्ता जगतां सृष्टौ विद्युद्वचेतना स्मृता ॥ ४६ ॥

शब्द ब्रह्म से उत्पन्न हुई नीचा मुख किए जो धारा है वही सुरति है और जगत् की रचना के लिये प्रयुक्त होने पर चेतना कहलाती है तथा विद्युत के समान गतिशील है।

धारा चेत्पुनरावृत्तेन् शब्दं स्वस्वामिनं प्रति।
तदा तन्नाम 'राधा' स्याज्जगन्मुक्तिप्रदायिनी ॥ ४७ ॥

यदि यही धारा अपने स्वामी शब्द ब्रह्म के निकट पुनः लौट आवे तो इसका नाम राधा हो जाता है जो जगत् को मुक्ति देने वाली है।

इति दक्षिण मार्गः ॥

अथ नास्तिकविचारसरणिः

ईश्वरं मन्यते यो न परलोकं न मन्यते।
स्वल्पविद्योऽतिविद्यो वा सैव प्राकृतनास्तिकः ॥ ४८ ॥

सृष्टिस्तु स्वयमुत्पन्ना तत्कर्ता दृश्यते न हि।
वेदान्तिकविवादस्तु बुद्धिव्यायाम एव हि ॥ ४९ ॥

जो ईश्वर और परलोक को नहीं मानता है वह अल्पविद्य हो चाहे शास्त्रनिष्णात पण्डित हो प्राकृत नास्तिक है।

(उसका विचार है कि) सृष्टि स्वयं उत्पन्न हुई है उसका करने वाला कोई नहीं दिखता है, इस विषय में दार्शनिकों के विवाद केवल मात्र बुद्धि के व्यायाम ही हैं।

दाम्भिकैः पण्डितैः धूर्तैः कूटनीतिविचक्षणैः।
लोक प्रतारणायात्र धर्मजाल प्रसारितम् ॥ ५० ॥

पाखंडियों, पंडितों, मक्कारों व कूटनीति में होशियार मनुष्यों ने लोगों को धोखा देने (व अपना उल्लू सीधा करने) के लिए ही धर्म जाल फैलाया है।

देहखेदकरं तीर्थं जिह्वाखेदकरी स्तुतिः।
मनःखेदकरं ध्यानं सर्वं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ ५१ ॥

तीर्थ यात्रा से शारीरिक श्रम होता है। स्तुति से जिह्वा को श्रम होता है। ध्यान से मन को श्रम होता है अतः इन सब को छोड़कर सुखी होवे।

विश्वासे निर्भरो धर्मो धर्मान्नश्यत्यवश्यता।
प्रवृत्तिर्दृश्यते किन्तु लोकधर्मेऽधिका नृणाम् ॥ ५२ ॥

धर्म विश्वास पर ही निर्भर है, धर्म से स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है किन्तु फिर भी लोगों की प्रवृति धर्म में ही अधिक देखी जाती है।

इति नास्तिकविचारसरणिः ॥

वाममार्गः

भेदभावं विना यत्र मैथुनं खादनं भवेत्।
यथेच्छ करणं सर्वं वाममार्गो मतो हि सः ॥ ५३ ॥

बिना भेद जहाँ खान पान और मैथुन किया जाता है तथा सब कुछ इच्छा स्वातन्त्र्य से किया जाता है वह सम्प्रदाय वाममार्ग है।

विधानं वाममार्गस्य जानन्त्याधुनिका नहि।
प्रतिकूलानि कुर्वन्ति भवन्ति निन्दितास्ततः ॥ ५४ ॥

प्रायः आधुनिक लोग वाममार्ग के विधान को नहीं जानते हैं तथा प्रतिकूल कर्म करते हैं अतः निन्दापात्र होते हैं।

प्रशस्तः सुन्दरः सौम्यः सर्वभोग्यः सुखान्वितः।
गुरुभावं विना नायं वाममार्गो हि लभ्यते ॥५५॥

चिरकालदृढाभ्यासा दिन्द्रियाणाञ्च संयमात्।
सद्गुरोरुपदेशाच्च वाममार्गो हि लभ्यते ॥ ५६ ॥

प्रशंसनीय, सुन्दर, सौम्य, सभी से भोग्य, सुखान्वित यह वाममार्ग मित्रभाव विना प्राप्त नहीं होता है।

चिरकाल के दृढ़ अभ्यास से तथा इन्द्रियों के संयम से और सद्गुरु के उपदेश से वाममार्ग की प्राप्ति होती है।

भेदभावपरित्यागा दैक्यभावस्य रक्षकः।
यमन् मन् वीर्यसंहारी सौम्यः सौख्यप्रदो रते ॥ ५७ ॥

साहसी च बलाकर्षी मनोवाक्कायकर्मसु।
योगानन्दी घृणात्यागी सर्वाह्लादयुतः पुनः ॥ ५८ ॥

कौपनः सर्वसंहारी प्रीतस्तु सिद्धिदायकः।
जायतेऽनन्यसामान्यो वाममार्गी तु सिद्धिभाक् ॥५९॥

वाममार्गी अनन्यसाधारण सिद्धि वाले होते हैं। वे भेदभाव को छोड़कर ऐक्यभाव की रक्षा करने वाले, रमण करते हुए वीर्य का संहार करने वाले, रमण में स्त्रियों को सुख देने वाले, साहसी बल को खींचने वाले, मन वचन काया और कर्म में साहसी, रोग में आनन्द पाने वाले, घृणा को त्यागे हुए, सभी प्रकार के आह्लाद से युक्त, क्रोध में भरे होने पर सब का संहार करने वाले प्रसन्न होने पर सिद्धि देने वाले होते हैं।

वामो नाम शिवस्यैव तस्येदमयनं शुभम् ।
वाममार्गोऽयमुक्तोऽतः शिवमार्गोऽपि प्रायशः ॥ ६० ॥

वामदेव या वाम 'भगवान्' शिव का ही नाम है, उन्हीं का यह शुभ मार्ग है अतः इसे वाममार्ग कहते हैं। इसी से प्रायः इसे शिव मार्ग भी कहते हैं *।

धर्मोऽयं प्रसृतः प्रायो देवीभागवतादिषु ।
सूक्ष्मभावेन संयुक्तः सर्वत्र दृश्यते मया ॥ ६१ ॥

---

* वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चाति सुन्दरे ।
पयोधरे हरे कामे विद्याद् वामापि च स्त्रियाम् ॥

इस विश्व प्रकाश कोष के अनुसार वामपद विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है यहाँ प्रायः इसके सभी अर्थ लगते हैं। दक्षिणाचारियों की दृष्टि से यह मार्ग उल्टा है इसके अनुयायियों की दृष्टि से यह अति सुन्दर है। इसमें तन्त्र की प्रधानता होने से तन्त्रगुरु शिव से इसका सम्बन्ध होने से वाममार्ग है ही, काम की भी यहाँ उपासना होती है। वास्तविक विधानों, (जो आज दूषित हो चुके हैं तथा किसी समय अत्यन्त पावन थे) की दृष्टि से यह सुन्दर मार्ग है अतः भी इसका वाममार्ग नाम है।

सूक्ष्म भावों से संयुक्त यह धर्म प्रायः देवी भागवत आदि ग्रन्थों में चारों ओर फैला हुआ मिलता है।

वामः करोति भक्तिन्तु बाह्यां लोकानुसारिणीम् ।
मुदा चान्तरिकं कार्यं करोति वाममार्गिणाम् ॥ ६२ ॥

वाममार्गानुयायी बाहर से तो लोक-दिखावे के रूप में लोगों के अनुसार अन्य देवी देवताओं की भक्ति भी प्रसन्नता से करता है किन्तु आन्तरिक कार्य तो वाममार्गियों के ही करता है।

वाममार्गी स्वभेदन्तु ब्रूते नैव मनागपि ।
दर्शयति कथाकाले विस्मयं स्वानभिज्ञताम् ॥ ६३ ॥

वाममार्गी अपना भेद तो रत्ती मात्र भी नहीं बताते हैं बल्कि प्रसंग चलने पर स्वयं भी अपना विस्मय एवं अनजानपना प्रकट करते हैं।

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे भेदभावो न तिष्ठति ।
सुरते खानपानादौ जातिविद्यावयस्सु च ॥ ६४ ॥

भैरवी चक्र के प्रवृत्त होने पर मैथुन खान पान जाति विद्या तथा अवस्था में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता हैं।

यथेच्छं मैथुनं कुर्युः गुरुणा प्रेरिता जनाः ।
निष्कलंकस्य पूजार्थं माहूयन्ते पुनः पुनः ॥ ६५ ॥

गुरु से प्रेरित होकर वाममार्गी मनमाना मैथुन करते हैं अकलङ्कों की पूजा के लिए बार बार बुलाये भी जाते हैं।

गुरोः पूजाऽवरस्यैव क्रियते वामसाधुभिः ।
पूजितोऽकलनया मैव स्तूयतेऽनेकसंस्तवैः ॥ ६६ ॥

वाम-साधु गुरु की पूजा ईश्वर की भांति करते हैं उनसे उसी (ईश्वर) रूप में पूजित वट अन्न अनेक प्रकार की स्तुतियों द्वारा तुष्ट किया जाता है।

पूर्णिमायां शुक्लपक्षे दशम्यामपि सा भवेत् ।
द्वितीयायां तिथौ वापि संगतिर्वाममार्गिणाम् ॥ ६७ ॥

वाममार्गियों की संगति पूर्णिमा के दिन अथवा शुक्लपक्ष की दशमी या द्वितीया को हुआ करती हैं।

आशापूर्तिकरा सा तु यदा पूजापि कथ्यते ।
निश्येकवादनात् सा तु स्यादात्रिवादनं तदा ॥६८॥

वही संगति जब साधुओं की आशा पूर्ण करती है तब "पूजा" कहलाती है, जो रात्रि में १ बजे से तीन बजे तक चलती है।

जम्मो वा भैरवीचक्रं जमलो वापि कथ्यते ।
यत्र कुत्रापि वामानां निशायां संगतिर्भवेत् ॥ ६९ ॥

वाममार्गियों की रात्रि में होने वाली संगति कहीं भी हो जम्म-जमल या भैरवीचक्र कहलाती है।

सर्पट्यो गुप्तभेदी स्यात् भेदवक्ता च कण्टकः ।
विधवाऽमावसा ज्ञेया सधवा पूर्णिमा तथा ॥ ७० ॥

वाममार्गियों के पारिभाषिक शब्दों में "सर्पट्यों का अर्थ गुप्त भेद जानने वाला, 'कण्टक' का गुप्त भेद प्रकट कर देने वाला, 'अमावस' का विधवा तथा पूर्णिमा का सधवा होता है।

दम्पती एव जायेते वाममार्गसभासदौ ।
अभ्यागतो भवेत्स तु यस्य पत्नी न विद्यते ॥ ७१ ॥

वाम-मार्ग के सदस्य दम्पति ही होते हैं, जिस के पत्नी नहीं होती है वह उनका "अभ्यागत" (पाहुना या अतिथि) होता है।

जैगुरुमहाराजेति नमन्ति साधवो मिथः ।
वाममार्गी भवेत् कोऽपि गद्यते साधुरेव च ॥ ७२ ॥

वाममार्गावलम्बी सभी लोग साधु कहलाते हैं तथा परस्पर मिलने पर ये साधु "जय गुरुमिश्रराज" कहकर अभिवादन करते हैं।

जायत आत्मसम्बन्धः प्रेम्णानन्दश्च जायते ।
प्रेम्णैव प्राणिनां लोके भेदभावो विनश्यति ॥ ७३ ॥

इससे (वाममार्ग की संगति से) इन लोगों का आत्म सम्बन्ध जाना जाता है जो प्रेम से पैदा होता है जिससे इन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है। वस्तुतः प्रेम से लोगों में भेदभाव की दिवार गिर जाती है।

कथ्यन्ते शक्तयो नार्यः पुरुषाश्च शिवाः समे ।
सृष्ट्यादौ शिवशक्त्योर्या क्रीडा सैवाधुना भवेत् ॥ ७४ ॥

यहाँ सभी स्त्रियाँ "शक्ति" तथा सभी पुरुष "शिव" कहलाते हैं, मैथुनी सृष्टि के प्रारम्भ में शिव शक्ति का होने वाला विलास भी यहाँ होता है।

सर्वा नार्यो हि सम्भोग्या धार्मिकां मातरं विना ।
तत्रत्यैर्विधिना लोकैः विशिष्टायां हि संगतौ ॥ ७५ ॥

वाममार्ग की संगति में एकत्र हुए पुरुष उस विशिष्ट संगति में यहाँ के विधान के अनुसार केवल धार्मिक माता को छोड़ कर अन्य सभी स्त्रियों से भोग कर सकते हैं।

कथ्यते कौंकणीवाणाँ धर्मवाणाँ भवेद्धिया ।
सा भवेन्निश्चितं पत्नी वहिर्वाणा हि कथ्यते ॥ ७६ ॥

जो धर्मवाणा होती है वह कौंकणीवाणाँ कहलाती है और जो वाणा कहलाती है वह निश्चित ही पत्नी होती है ।

वामसंगतिधर्मेण माता च भगिनी तथा ।
तत्रत्ये एव क्रियेते धर्मरीत्यैव नूतने ॥ ७७ ॥

वाममार्ग के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ की स्त्रियों में से उन्हीं की धर्मपद्धति से नई 'मां बहिन' बनाई जाती हैं ।

सम्भोगान्ते तु यत्किञ्चित् स्त्रीणां योन्याहृतं भवेत् ।
समूढानां प्रसादोऽयं भावशब्देन प्रोच्यते ॥ ७८ ॥

सम्भोग के अन्त में जो कुछ भी स्त्री की योनि से (रज वीर्य) मिलता है वही वहाँ इकट्ठे हुए लोगों का प्रसाद है जो भाव कहलाता है ।

श्वानशब्देन कामस्तु कथ्यते वामसगतौ ।
जपश्च मालया वामे नारीणां मैथुनं भवेत् ॥ ७९ ॥

वामाचार में "श्वान" का अर्थ काम होता है तथा माला जपना नारियों से मैथुन करना है ।

समीपे कालिकामूर्तें द्वावसी रक्षितौ श्रुतौ ।
दृष्ट्वागतमनाहूतं मारयन्त्यसिना ध्रुवम् ॥ ८० ॥

काली की मूर्ति के पास में दो तलवारें रखी हुई बताई जाती हैं किसी विना बुलाये आदमी को आया हुआ देखकर तलवार से निश्चय ही मार डालते हैं ।

वाममार्गस्य वार्तान्तु गोपयेन्मातृजारवत् ।
तत्प्रकाशादसिद्धिस्या त्तन्त्रशास्त्रे यथोदितम् ॥८१॥

तन्त्र शास्त्रों में बताया गया है कि वाममार्ग की बातों को पूर्णतया गुप्त रखा जावे उन्हें प्रकाशित कर देने से सिद्धि नहीं होती है।

श्रवणाद्वाममार्गिभ्यो ग्रन्थानामनुशीलनात् ।
घनश्यामस्य वैद्यस्य निष्कर्षस्त्वयमेव हि ॥ ८२ ॥

वाममार्गियों के मुख से सुनने से तथा उस विषय के ग्रन्थों के अनुशीलन से मेरा भी वही मत है कि वे अपनी बातों को अत्यन्त गुप्त रखते हैं।

आशा तृष्णा जुगुप्सा च विषयेच्छा भये तथा ।
अपत्रपा च मानश्च प्रकोपस्त्वष्टमः स्मृतः ॥ ८३ ॥
अष्टमुद्रा विहायेमाः दिव्यभावेच्छुको जनः ।
विमुखः पशुहिंसायाः रुद्रतुल्यो भवेदिह ॥ ८४ ॥

आशा तृष्णा घृणा विषयों की इच्छा भय निर्लज्जता मान तथा क्रोध इन आठ मुद्राओं को छोड़कर पशुहिंसा से विमुख दिव्य भाव प्राप्ति की इच्छा रखने वाला साधक रुद्र तुल्य हो जाता है।

शेषाहि सदृशां सुप्तां विद्युद्वर्णामधोमुखाम् ।
शक्तिमुत्थाप्य चित्रिण्या स्वयं कुण्डलिनी नयेत् ॥८५॥
ऊर्ध्वं चक्रे सहस्रारे शिवेन योजयेत्समम् ।
तन्त्रागमादयं योगो मैथुनं कथितो बुधैः ॥ ८६ ॥

शेषनाग तुल्य सोई हुई बिजली के से रंग वाली नीचा मुख रखने वाली कुण्डलिनी शक्ति को स्वयं उठाकर चित्रिणी नाड़ी

के मार्ग से सब से ऊपर के चक्र सहस्रार में भगवान् शिव से मिलादे यह योग ही तन्त्राचार में मैथुन है।

संयम्यात्मनि सर्वाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि यः ।
जपति स्वेष्टदेवं स मीनाशी तन्त्रभाषया ॥ ८७ ॥

जो साधक अपनी सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का संयम कर आत्मा में ही अपने इष्ट देव का स्मरण करता है वह तन्त्र भाषा में 'मीन भक्षी' कहलाता है।

स्रुता वै ब्रह्मरन्ध्राद्या सुधाधारा गदापहा ।
मदिरा नामतः सैव ग्राह्या न लौकिकी सुरा ॥ ८८ ॥

तान्त्रिक क्रिया में मद्य या मदिरा का अर्थ साधारण सुरा नहीं है यह एक पारिभाषिक शब्द जो गुणसाम्य से 'मद्य' ही है * ।

कामक्रोधौ पशू योगी स्वविवेकासिना बलिम् ।
करोति परहितार्थी यत् एतद् वै मांस भक्षणम् ॥ ८९ ॥

* योगी खेचरी मुद्रा या अन्य यौगिक विधि से ब्रह्मरन्ध्र से टपकते हुए सुधारस का पान करते हैं जिन से उन का शरीर रोगमुक्त स्वस्थ एवं बलवान् होकर अवस्था के थपेड़ों से प्रभावित नहीं होता है। वही सुधा यहां सुरा है न कि लौकिक विधि से निष्पादित सुरा। इसके मदिरा नाम में यही रहस्य है कि जिस प्रकार मदिरापायी उन्मत्तसा रहता है उस अवस्था में उसे सांसारिक व्यथाएं नहीं सताती हैं वैसे ही यह मदिरा भी साधक को अवधूत बना देती है इसके प्रभाव से शीतोष्णादि द्वन्द्व एव जीर्णता दौर्बल्यादि दोष उसे नहीं सताते हैं। अपने में ही मस्त व आत्मपथ पर अग्रसर होने में अधिक समर्थ हो जाता है अतः यह मदिरा ही है।

लोकानुग्रह की आकाङ्क्षा से योगी अपने विवेक खड्ग से काम क्रोध रूप पशुओं की जो बलि करता ही है यही मांस भक्षण है * ।

पुण्यपापाविति ख्यातौ द्वौ पशू ज्ञानखड्गतः ।
हत्वा ब्रह्मणि लीनो यः स योगी मांसभक्षकः ॥६०॥

पुण्य और पाप ये दोनों पशु हैं, इन्हें ज्ञान खड्ग द्वारा मार कर फिर ब्रह्मरस में लीन रहने वाला योगी 'मांसभक्षक' कहलाता है † ।

---

* वस्तुतः काम क्रोध को वश में करने में योगी का ही स्वार्थ पर विचारदृष्टि से देखा जावे तो जनता का हित इसमें विशेष है । प्रथम तो योगी के पास अचिन्त्य शक्तियां होती हैं उन्हें काम क्रोधादि की पू... में यदि लगा दे तो समाज की मर्यादा ही डावांडोल हो जावे, दूसरे उस... अनुसरण करने वाले अनेक होते हैं उन्हें सुशिक्षा देनी है अपने उच्च... आदर्शों से । इसीलिए यहां ज्ञान की अपेक्षा विवेक का ग्रहण किया ग... है, 'विवेक पृथगात्मता' विश्लेषण एवं संश्लेषणात्मक ज्ञान ही विवेक... जो मैं हूं सो ये हैं जो ये हैं सो मैं हूं तब कौन किस पर क्रोध करे... विवेकासि है, इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व में योगी इन दस पशुओं को विवेक... पैनी धार से समाप्त कर आत्मसात् कर लेता है यह आत्मसात् करना... 'मांस भक्षण' है जिससे योगी की साधनकाया सुपुष्ट होती है ।

† बन्धन शृङ्खला चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, है तो शृ... ही, ठीक इसी प्रकार पाप और पुण्य हैं, ये निष्फल कभी नहीं होते... पाप का फल तो स्वयमेव बुरा है ही पुण्य का फल भी अच्छा न... "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" द्वारा उनके भवार्वाचक्र की सर... नहीं होती है, अतः पशु (अज्ञान-मूलक इन शृङ्खलाओं) का वि...

पशवस्त्विन्द्रियाण्येव तेषां निग्रहशोधने ।
करणीये स्वशक्त्यैव बलिः सैव विवेकिनाम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियाँ ही पशु हैं, इन्हीं का निग्रह या शोधन अपने सामर्थ्य से करना चाहिए, यही दिव्यसाधना में विवेकियों द्वारा दी जाने वाली बलि है ❋ ।

हृदयं सर्वथा स्वीयं स्वेष्टदेव समर्पितम् ।
कर्तव्यं बलिरेवं हि दीयते वस्तुतो बुधैः ॥ ६२ ॥

अपना हृदय पूर्णतया इष्टदेव को समर्पित कर दे, यही सच्ची बलि है, पण्डित लोग यही बलि देते हैं ।

आवश्यक है, ज्ञान के सहारे इन्हें तोड़ना ही पशु हिंसा है उसका फल ब्रह्मरसास्वादन ही मांस भक्षण है । योगियों के लिए यह आवश्यक है "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । अथवा अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" कर्म द्वारा संसार को पार कर इसके बन्धनों को तोड़कर विद्या (ज्ञान) से मनुष्य अमृतत्व की प्राप्ति करता है ।

❋ विषय ग्रहण इन्द्रियों का प्राकृतिक धर्म है जो किसी भी अवस्था में दूर नहीं हो सकता है और निष्काम भाव से कर्म सभी द्वारा सम्भव नहीं है "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" अतः निग्रह के असम्भव होने की अवस्था में द्वितीय उपाय शोधन है, शोधन का अर्थ उदात्तीकरण (Sublimation) है, इन्द्रियों के विषय ग्रहण का पथ हीन प्रवृत्तियों की अपेक्षा उच्च प्रवृत्तियों में परिवर्तित कर दिया जावे । यही शोधन है जो अल्पप्रयास साध्य है यथा सौन्दर्यदर्शन की दुराग्रही आँखों को कामिनी के सौन्दर्य की अपेक्षा प्रकृति के सौन्दर्य या परमात्मा की प्रतिमा आदि के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट किया जावे । इन विशुद्ध इन्द्रियों को देवार्चन में लगा देना ही सच्चा देवोपहार है ।

हन्यन्ते पशवः प्राय आमिषास्वादलोभतः ।
बलिर्हि दीयते देव्या येवं लोलुपहिंसकैः ॥ ६३ ॥

प्रायः सभी पशु मांस के आस्वादन के लोभ में मारे जाते हैं मांस खोर चटोरे हत्यारों द्वारा अपने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए देवी के नाम पर बलि दी जाती है।

बहुवार्षिकयत्नेभ्यो मम भृत्यानुयोगतः ।
भेदः कश्चिद्यथा प्राप्त स्तथैव लिखितो मया ॥ ६४ ॥

अनेक वर्षों के यत्न से तथा अपने सेवक को पूछताछ करके मैंने जितना सा भेद पाया है उसे उसी प्रकार लिख दिया है।

विश्वस्तसूत्रसम्प्राप्ता मयेयं वर्णिता कथा ।
वस्तुतो नैव जानामि जानाति केवलं शिवः ॥ ६५ ॥

विश्वस्त सूत्र से पाई हुई बातें मैंने यहाँ लिखी हैं मैं वस्तुतः नहीं जानता हूँ, केवल भगवान् शिव ही जानते हैं।

इति वाममार्गः

इति श्रीघनश्यामगीतायां विविधमतसम्प्रदायवर्णने दक्षिणवामाचारस्वरूपवर्णन्नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः

* प्रकीर्णकाध्यायः *

प्रकीर्णके रहस्यविद्या

स्मृतं विचिन्तितं दृष्टं स्वप्ने पश्यति चेन्नरः ।
स स्वप्नो निष्फलो ज्ञेय श्चित्तस्याकृष्टिरेव सा ॥ १ ॥

याद किये हुए सोचे हुए देखे हुए भावों को मनुष्य यदि स्वप्न में देखता है तो वह स्वप्न निरर्थक होता है, वस्तुतः वह स्वप्न नहीं है केवल चित्त का आकर्षण मात्र है ।

अदीर्घ हृदयारूढमुषःस्वप्नं विलोक्य चेत् ।
प्रबोधति यदा लोको नूनं तत्फलमाप्नुयात् ॥ २ ॥

ज्यादा लम्बा न हो, मन पर असर किये हुए हो, ऊषःकाल में आया हो, ऐसे स्वप्न को देखकर यदि मनुष्य जग जाता है तो निश्चित उसका फल पाता है ।

अगम्यागमनं स्वप्नेऽवश्यं सुफलदायकम् ।
विष्ठाया दर्शनं लेपस्तथैव फलदायकम् ॥ ३ ॥

स्वप्न में अगस्त्या के पास जाना निश्चित रूप से शुभ फलदायक होता है, विष्ठा देखना तथा उसका लेप करना भी स्वप्न फलदायक होता है।

एकाकी सफलं वृक्ष मारोहेच्छकटं तथा ।
कुर्वन् गमनं गोभ्यां शुभःस्वप्नः सुखप्रदः ॥ ४ ॥

अकेला ही यदि फलों से लदे वृक्ष पर अथवा शकट (गाड़े) पर चढ़े तथा बैलों पर सवारी कर चले तो यह शुभ स्वप्न निश्चित ही सुखदायक है।

ध्यायेत वस्तु यत्किञ्चित् स्वाराध्यगुणसंयुतम् ।
पूर्णैकतानचित्तेन स्वप्नेऽपि तत्स्फुरिष्यति ॥ ५ ॥

अपने आराध्य के गुणों से युक्त जिस किसी भी वस्तु का पूर्ण एकाग्रता से ध्यान किया जाता है वह वस्तु स्वप्न में भी स्फुरित होगी।

कालज्ञाने प्रशस्तं यद् विराड्रूपस्य दर्शनम् ।
अभ्यासाद्भवति ज्ञात छायापुरुषनामकः ॥ ६ ॥

विराट रूप का दर्शन कालज्ञान में प्रशस्त माना गया है जिसे छायापुरुष भी कहते हैं जो अभ्यास से सिद्ध होता है।

दिदृक्षा स्यात् स्वरूपस्य यस्य कस्यापि चेद् हृदि ।
अङ्गसंदर्शनमार्गे हि यामान्ते पूर्णिमानिशि ॥ ७ ॥

जिस किसी के मन में भी यदि स्वरूप के देखने की इच्छा हो तो आश्विन पूर्णिमा की रात्रि में एक प्रहर के अनन्तर अभ्यास चालू करें।

पश्चिमाभिमुखो भूत्वा विस्तृते सुस्थले स्थितः ।
प्रातःकाले हि दिदृत्तु रीत्तेतकोऽपि स्वावटौ ॥ ८ ॥

छायापुरुष को देखने की इच्छा वाला कोई भी व्यक्ति लम्बे चौड़े सुन्दर स्थल पर पश्चिम की ओर मुख कर खड़ा हुआ प्रातःकाल अपनी अवटु (घाटी-घेटी) पर दृष्टि जमावे।

दृष्ट्या निमेषवत्याहि दृष्ट्वा ग्रीवां निरन्तरम् ।
उत्थाप्य वेगतो दृष्टि माकृशे त्तिप्यतु स्थिराम् ॥ ९ ॥

निर्निमेष दृष्टि से निरन्तर अपनी गर्दन देखकर झटके के साथ अपनी दृष्टि को उठाकर आकाश में फेंके।

तदा स्वाङ्गस्य छायान्तु द्रत्यति व्योमसंस्थिताम् ।
पूर्णामर्द्धोर्ध्वगां वापि ह्यसितां चंदनाकृतिम् ॥ १० ॥

उस समय अपने अङ्गों की छाया को आकाश में स्थित, पूरी आधी, ऊपर उठी, काली या चन्दन की आकृति में देखेगा।

तदनन्तरमभ्यास्गाद् द्रत्यति बहुरूपिकाम् ।
भविष्यत्यन्ततो हीत्थं विराजो दर्शनं शनैः ॥११॥

इसके अनन्तर धीरे २ अपनी छाया को बहुत रूप वाली देखेगा, इस प्रकार धीरे २ विराड् के दर्शन होंगे।

अभ्यासेन तु या छाया दृष्टा सा स्यात् परीत्तिता ।
स्वाङ्गकम्पेन चेत्सा न कम्पते तर्हि सुस्थिरा ॥१२॥

अभ्यासपूर्वक जो छाया देखी गई है उसकी परीक्षा करे. अपने अङ्गों के कम्पन से युक्त है तो ठीक नहीं, यदि वह स्थिर है तो ठीक है।

वक्षःस्थलं शिर ऊरू शरीरं सकलं ततः।
ईक्षमाणोऽपि पश्येन्न विलीनमादिमस्थितौ ॥ १३ ॥

प्रारम्भिक स्थिति में देखने का प्रयास करते हुए भी कभी २ वक्षःस्थल कभी शिर कभी जंघा तो कभी सारा शरीर ही नहीं दिखेगा किन्तु बाद में अभ्यास की दृढ़ता पर इन्हें देखने पर कभी भी विलीन (छिपा हुआ) नहीं देखेगा।

नेत्राद्यङ्गानि नो द्रष्टा पश्यति चेत्क्रियाविधौ।
ततो नीलाकृतौ दृष्टिं क्षिप्त्वा द्रक्ष्यति दर्पणे ॥ १४ ॥

यदि क्रियाविधि में द्रष्टा अपने नेत्रादि अङ्गों को नहीं देख पाता है तो वह नीलाकार दर्पण पर दृष्टि जमा कर देख सकेगा।

न पश्येद्यः शिरोनेत्रं द्रष्टा छायाकृतौ यदा।
जानीयात् स द्विमासान्ते यमद्वारं गमिष्यति ॥ १५ ॥

यदि द्रष्टा छायाकृति में शिर नेत्र न देखे तो समझले कि दो मास में ही उसे यम के द्वार जाना है।

वामबाहुं तथाऽदृष्ट्वाऽदृष्ट्वा च दक्षिणं भुजम्।
लघुर्ज्येष्ठौ विजानीयात् भ्रातरौ मृत्युमेष्यतः ॥१६॥

यदि बायां या दाहिना हाथ नहीं देखे तो समझे कि क्रमशः छोटा या बड़ा भाई मृत्यु को प्राप्त होगा।

वक्षःस्थलन्न पश्येच्चेद् दुःखं पुत्रस्य सम्भवेत्।
अदृष्ट्वा जघनं विद्यात् स्वभार्यामरणन्तथा ॥ १७ ॥

यदि अपना सीना नहीं दिखे तो पुत्र का दुःख समझे, जांघ न देख कर अपनी स्त्री का मरण जान ले।

दृष्टापि लयमायाति स्वच्छाया हि यदा कदा ।
वारंवारं भवेच्चैवं चेदापत्तिः पतेद् ध्रुवम् ॥ १८ ॥

जब कभी अपनी छाया दिखी हुई भी छिप जाती है और बार २ ऐसा होता है तो निश्चय ही आपत्ति पड़ेगी।

प्रातःकाले रविं दृष्ट्वा स्वच्छायामवलोकयेत् ।
वक्षःस्थले यकृति च पश्येच्छिद्रं सचन्द्रिकम् ॥१९॥

प्रातःकाल रवि को देख कर अपनी छाया देखे तथा वक्षस्थल और जिगर पर चन्द्रिका युक्त छिद्र देखे।

आपत्तिर्लक्षणैरेतैः कुले स्वस्मिन्मता ध्रुवम् ।
दृष्ट्वा पूर्णाश्च छायां स्वां सर्वानन्दं प्रयास्यति ॥२०॥

इन लक्षणों से अपने पर या कुल पर आपत्ति आना समझे यदि छाया पूरी है तो सब प्रकार के आनन्द होंगे।

स्वच्छाया दृश्यते व्योम्नि स्थूला लघ्वी तथा तनुः ।
लम्बिता वा तदा विद्यात् कार्येषु विविधापदः ॥२१॥

यदि आकाश में अपनी छाया मोटी फिर दुबली या लम्बी फिर छोटी दिखे तो कार्य में भाँति २ की अड़चनें आवें।

अष्टमासानन्तरन्तु नाशमेष्यति दर्शकः ।
धार्यं वस्त्रं स्थितिश्चैव साधकस्य वदाम्यहम् ॥ २२ ॥

पूर्व लक्षण से दर्शक ८ मास के पूरे होने पर निश्चित मृत्यु को प्राप्त होगा। अब मैं साधक के धारण योग्य वस्त्र और स्थिति भी बता रहा हूं।

अधोवस्त्रार्थमङ्गोच्छं विना किञ्चिन्न धारयेत् ।
यस्य रागस्य वस्त्रं स्याद् भवेच्छाया तदन्विता ॥२३॥

अशौचग्रस्त के लिए अशौच के अलावा और कोई भी न धारे. जिस रङ्ग का कपड़ा हो छाया उसी रङ्ग की होगी।

प्रसार्य पाणिपादन्तु स्थित्वा स्थाने सुरक्षिते ।
रवेरुदयकाले तु कुब्जपृष्ठोऽपि पश्यतु ॥ २४ ॥

सुरक्षित स्थान पर जम कर हाथ पैर फैलाकर रवि के उदय में पीठ को कुबड़ा कर के भी देखे।

भीमसेनाख्यकर्पूरं गोदन्तीहरितालया ।
साकं सम्पिष्य तच्चूर्णं दीपवर्त्यां प्रवेशयेत् ॥ २५ ॥

वर्तिकां स्थापयेद्दीपे मालतीतैलपूरिते ।
विधिवत्कज्जलं प्राप्य रक्षणीयं सदागृहे ॥ २६ ॥

प्रलेप्य लोहकृप्याञ्च दर्शयेद्बालकं कदा ।
गुप्तवार्ताश्च पृच्छेत्त कज्जलं गुप्तदर्शकम् ॥ २७ ॥

भीमसेन कपूर को गोदन्ती हरताल के साथ पीसकर उस को दीपक की बत्ती में लपेट दे तथा बत्ती को मालती (चमेली) के तेल से भरे दीपक में रक्खे. इससे विधिपूर्वक काजल उपाड़ कर इसे सदा घर में रक्खे और कभी लोहे की कुप्पी पर इसका लेप कर बालक को दिखावे तथा गुप्त बातें पूछे, यह काजल गुप्त बातें बताने वाला है।

जलवायुप्रकाशाना मव्यवस्था भवेत्तदा ।
सर्वे भवन्त्यतो ग्रस्ताः सूर्येन्दुग्रहणं यदा ॥ २८ ॥

दानपुण्यंश्वरध्यानं जपञ्च हरिकीर्तनम् ।
विहायान्यन्न कर्तव्यं ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ २६ ॥

जब सूर्य या चन्द्रमा का ग्रहण होता है तब जल वायु अग्नि के कार्यों में अव्यवस्था हो जाती है तथा सभी इस अव्यवस्था के शिकार हो जाते हैं। अतः उस समय दान पुण्य ईश्वर का ध्यान जप और कीर्तन छोड़ कर दूसरा कोई काम सूर्य चन्द्र ग्रहण के समय नहीं करना चाहिए।

जलवायुप्रकाशश्च वस्तुजातनियामकाः ।
तदस्तव्यस्तभावेन व्यवस्था नाशमेष्यति ॥ ३० ॥

जल वायु तथा तेज समस्त वस्तुओं पर कण्ट्रोल रखने वाले हैं अतः उनके अस्तव्यस्त हो जाने से सभी व्यवस्था नष्ट हो जावेगी ।

कस्यचित्पक्षपर्यन्तं दिवारात्रौ रविश्चलेत् ।
केवलं मासपर्यन्तं जानीयात्तस्य जीवनम् ॥ ३१ ॥

यदि किसी का दिन रात निरन्तर एक पखवाड़े तक सूर्य स्वर ही चलता रहे तो उस मनुष्य का जीवन केवल एक मास तक का और है।

हस्तांगुलिशिरष्वेव चक्रनाडिशिरांसि वै ।
विरमन्ति च कुर्वन्ति सूचनां सुखदुःखयोः ॥ ३२ ॥

चक्र नाड़ियों की शिराएं हाथों की अंगुलियों तथा शिर में ही विराम करती हैं तथा सुख दुःख की सूचना देती हैं।

दक्षिणे कृष्णसर्पः स्यात् क्रौञ्चशब्दस्तु वामतः ।
शकुनं चेद्भवेदेवं यात्रायां सिद्धिदायकम् ॥ ३३ ॥

दाहिनी ओर कृष्णसर्प आवे तथा बाँई ओर क्रौञ्च पक्षी आवाज करे तो ऐसा शकुन यात्रा में सिद्धिदायक होता है।

गमनेऽधौतवासांसि नयन् सन्नजको मिलेत् ।
न शुभं शकुनं तत्तु दुःखदं व्याधिकारकम् ॥ ३४ ॥

गमन समय में यदि विना धोये कपड़े लिये धोबी मिल जावे तो यह शुभ शकुन नहीं है यह दुःखदायक तथा व्याधिकारक होता है।

इति प्रकीर्णके रहस्यविद्या ॥

प्रकीर्णके विपर्यस्तप्रश्नाः

पश्यति को विना नेत्रं विना कर्णं शृणोति कः ।
विना नासाञ्च पादौ च जिघ्रति कश्च नृत्यति ॥२५॥

विना आँख कौन देखता है, विना कान कौन सुनता है तथा विना नाक कौन सूंघता है एवं विना पैर कौन नाचता है।

करोति रागं गानं को विना जिह्वां मुखं तथा ।
पर्वतं कृतहस्तोऽपि क उच्चैतुं क्षमो भवेत् ॥ २६ ॥

जीभ तथा मुख विना ही राग और गान कौन करता है। कौन विना हाथ ही पर्वत को भी ऊँचा उठाने में समर्थ है।

हस्ताभ्यां रहितः कश्च करोति तालिकाध्वनिम् ।
सुखं प्राप्नोति मीनोऽग्नौ कथं वन्ध्यासुतश्च कः ॥ २७॥

विना हाथ कौन ताली बजाता है, मछली आग में किस प्रकार आराम पाती है बाँझ पुत्र कौन है।

गर्जिकायां कथं भूभृत् समेयाद् हस्तिनं कथम् ।
ग्रसेच्च कीटिका सिंहो भक्षितो वा गवा कथम् ॥ २८ ॥

राई में पहाड़ कैसे समावे, कीड़ी हाथी को कैसे ग्रस ले, सिंह गाय से कैसे खाया जावे।

कथं वाक्षिगतं कीटया कृतन्नवमणाञ्जनम् ।
मूषिकेनापि मार्जारी ग्रस्ता वा मारिता कथम् ॥ ३६ ॥

कीड़ी की आँख में नो मण अञ्जन कैसे ? चूहिया ने विलाई को कैसे मारा या निगल लिया।

शिखरे वाद्यते ढक्का श्रोत्रहीनः शृणोति ताम् ।
प्रश्नानेवं हि कुर्वन्ति प्रायो निर्गुणवादिनः ॥ ४० ॥

शिखर पर ढक्का वज रहा है तथा कर्णहीन उसे सुन रहा है यह कैसे सम्भव ? प्रायः निर्गुणपन्थ को मानने वाले सन्त ऐसे ही प्रश्न किया करते हैं।

उत्तराण्यपि चैतेषां लिखामि शृणुत हृदा ।
तेषान्तु मननान्नृणां ज्ञानवृद्धिर्भविष्यति ॥४१॥

इनके उत्तर भी लिख रहा हूँ जिन्हें मन लगा कर सुनो, जिनके मनन से ज्ञान की वृद्धि होगी।

अस्मितामनताक्षिभ्यां रहितो ब्रह्मविन्नरः ।
अन्तर्दृष्टि र्बहिः किञ्चित् पश्यति नान्ध एव स ॥४२॥

अस्मिता तथा ममता रूपी नेत्रों से शून्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष अन्तर्दृष्टि के तेज होते हुए भी बाहर कुछ नहीं देखता है वह अन्धा ही है *।

---

* अस्मिता का साधारणतया अहङ्कार अर्थ होता है वैसे यह पातंजल योग मे ४ वृत्तियो में एक है साख्य मे इसे मोह कहते हैं तथा वेदान्त में हृदयग्रन्थि।

दशधानाहतं शब्दं ध्यानगम्यं शृणोति यः ।
बाह्यश्रवणसम्बन्धं त्यक्त्वा बधिर एव स ॥ ४३ ॥

जो बाह्य श्रावणसम्बन्ध को छोड़ कर एक मात्र ध्यान से सुनाई देने वाले दस प्रकार के अनाहत शब्द को सुनता है वह बधिर (बहिरा) ही है।

सत्कुशेशय सज्ज्ञान वचोगन्धं सुलोलुपाः ।
नासां विना हि जिघ्रन्ति जिज्ञासुभ्रमराः सदा ॥४४॥

सुन्दर कमल तुल्य उत्तम ज्ञान की वचन रूपी सौरभ को जिज्ञासु भ्रमर बिना नासिका ही सूंघा करते हैं।

ऐन्द्रिकान् विषयांस्त्यक्त्वा सज्ज्ञानी पुरुषोत्तमः ।
इच्छाभूमावनिच्छन् सन् पादहीनोऽपि नृत्यति ॥४५॥

पुरुष श्रेष्ठ उत्तम ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों को छोड़ कर न चाहते हुए भी इच्छाभूमि पर बिना पैर ही नाचता है।

ब्रह्मणश्चिन्तनं रागः तदेव भजनं मतम् ।
ब्रह्मवित्तत्करोत्येव मूकवदवदन् मुखात् ॥ ४६ ॥

ब्रह्म चिन्तन ही राग है यही भजन है, ब्रह्मज्ञ व्यक्ति मुख से बोले बिना ही ऐसा राग-गान सदा किया करता है। अतः वह मूक (गूंगा) ही है।

हस्तावचालयन्नेव संशयपक्षिताडिकाम् ।
सुवादयत्यभेदज्ञो ब्रह्मज्ञानीयतालिकाम् ॥ ४७ ॥

अभेद योगी बिना हाथ हिलाये ही संशय रूपी पशु पक्षियों को भगा देने वाली ब्रह्मज्ञान की तालो बजाया करता है।

बुद्धिमीनः सदानन्दं ब्रह्मज्ञानाग्नितेजसि ।
तरन् सन्निश्चितं सौख्यं प्राप्नोति ब्रह्मवृत्तिकः ॥ ४८ ॥

ब्रह्म की वृत्ति वाली बुद्धि रूपी मछली ब्रह्म ज्ञान की अग्नि के तेज में तैरती हुई सदा आनन्द और निश्चित सुख पाती है।

वन्ध्या तु सात्त्विकीवृत्ति र्दोषसन्ततिवर्जिता ।
स्ववन्ध्यादोषनाशार्थं ज्ञानपुत्रमजीजनत् ॥ ४९ ॥

दोषरूपी सन्तति से वर्जित वन्ध्यारूपी सात्त्विकवृत्ति ने अपने वन्ध्यादोष को नष्ट करने के लिए ज्ञानपुत्र को जन्म दिया।

राजिका सूक्ष्मवृत्तिः स्या दज्ञानपर्वतो मतः ।
सूक्ष्मवृत्तौ समायाति मायाव्यज्ञानपर्वतः ॥ ५० ॥

सूक्ष्मवृत्ति राई है तथा अज्ञान पर्वत है, यह मायावी अज्ञान पर्वत सूक्ष्मवृत्ति में समा जाता है।

पिपीलिकान्तरी बुद्धि र्मानस च गजः स्मृतः ।
सूक्ष्मान्तरिकबुद्धिर्हि संहरेन्मानसं गजम् ॥ ५१ ॥

आन्तरिक बुद्धि तो पिपीलिका है तथा मन हाथी है, यह सूक्ष्म आन्तरिक बुद्धि मनरूपी हाथी को हर लेती है।

जानीयाच्छीलवृत्तिं गा महङ्कारं मृगेन्द्रकम् ।
शीलवृत्तस्तु यो ज्ञानी सोऽहंकारं व्यपोहति ॥ ५२ ॥

शीलवृत्ति तो गाय है तथा अहङ्कार सिंह है अतः जो ज्ञानी शीलवृत्त वाला होता है वह अहङ्कार को दूर कर देता है।

जानीयाच्छुद्धवृत्तिन्तु कीटिकां नवधां प्रभोः ।
भक्तिन्नवमणाख्यात मञ्जनं कीटिनेत्रयोः ॥ ५३ ॥

गुरुवृत्ति तो कीड़ी है तथा प्रभु की नौ प्रकार की भक्ति नव मण अञ्जन है गुरुवृत्ति में ही प्रभु की नवधा भक्ति का समावेश होता है अतः यहाँ कीड़ी की आँख में ९ मण अञ्जन है।

मर्दयंत्यातुरविद्येयं ज्ञानिना मूषकेन तु।
व्यापादिताथवाग्रस्ता भवति चित्रमत्र किम् ॥ ५४ ॥

अविद्या रूपी यह बिलाई सदा ही ज्ञानी रूपी मूषक द्वारा मारी गई या निगली गई है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

ब्रह्मास्म्यहमिति ज्ञानप्रसारिप्रणवो गिरौ।
वाद्यते सहृदां वाचा मकर्णोऽन्तः शृणोति तम् ॥५५॥

"मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के ज्ञान को फैलाने वाला प्रणव मस्तिष्क शिखर पर सहृदयों की वाणी से बजता है तथा इसे बिना कान ज्ञानी सुनते हैं।

इति प्रकीर्णके विपर्ययस्तप्रश्नाः ॥

प्रकीर्णके

अवशिष्टे नीतिसंग्रहः

न नारीणां मनोगुप्तं भावं ज्ञातुं क्षमो नरः।
माहात्म्येन मा गुप्ता गुप्ता हि रक्ष्यते गृहे ॥ ५६ ॥

स्त्रियों के मन के गुप्त भाव को मनुष्य जानने में समर्थ नहीं हो सकता है वे माहात्म्य गुप्त (ढकी हुई) होती हैं तथा गुप्त होने से ही घर में रक्खी भी जा सकती हैं।

योग्यो व्यक्तित्वमापन्नोऽनुभवी च प्रभाववान् ।
एवं विध गुणो लोकोऽधिकृतोऽधिकृते पदे ॥ ५७॥

योग्य, सुन्दर व्यक्तित्व से सम्पन्न, अनुभवी, प्रभावशाली, ऐसे गुणों वाला व्यक्ति ही अधिकृत पद के लिए अधिकारी माना गया है ।

अधिकारानुसारेण मानवाः फलभागिनः ।
अनधिकृतचेष्टाभि र्भवन्ति दुःखभागिनः ॥ ५८ ॥

अधिकार के अनुसार ही मनुष्य फल भोगते हैं अनधिकार चेष्टा करने से दुःख की ही प्राप्ति होती है ।

लोभतृष्णाविनिर्मुक्तो मानवः सुखमेति हि ।
दुःखार्णवे निमग्नः स्यात् स्वार्थान्धोऽपरमार्थकृत् ॥ ५९॥

लोभ और तृष्णा से मुक्त ही मनुष्य सुख भोगता है, स्वार्थान्ध तथा परमार्थवर्जित मनुष्य सदा शोकसागर में ही डूबा रहता है ।

दृढात्मबलयोगेन सहनीया विपत्तयः ।
दुःखदा सुखदावस्था भवन्ति भाग्यकेलयः ॥ ६० ॥

मनुष्य दृढ़ आत्मबल से विपत्तियों को सहन करे । अवस्था दुःखदायी हो चाहे सुखदायी भाग्य की क्रीड़ा होती है ।

लोकव्यवहृतेर्मोह संग्रहलाभहानिनाम् ।
सर्वथैव परित्यागं जानीयादात्मनो हितम् ॥ ६१ ॥

लौकिक व्यवहार, मोह संग्रह लाभ व हानि को सर्वथा छोड़ देना ही अपना परम हित समझे ।

सर्वे उत्कृष्टयोगत्व नाधीनत्व मिहेच्छति ।
स्वं विधातारमन्यांस्तु विधेयान्सर्वस्य चेच्छति ॥ ६२ ॥

सभी उत्कृष्ट बनना चाहते हैं अधीन बनना कोई नहीं चाहता है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य अपने को विधाता तथा दूसरों को विधेय (आज्ञा पालक) बनाना चाहता है।

मानवो मानवीयार्चां महङ्कारान् करोति न ।
मन्यते स्वसमश्चान्यं तद्रूपन्नैव चेतति ॥ ६३ ॥

मनुष्य अहङ्कार के कारण कभी भी मनुष्य का पूजन-सत्कार नहीं करता है, वह अन्य मनुष्यों को अपने समान ही समझता है तथा उनके स्वरूप को नहीं समझता है।

बद्धाञ्जलि नमस्कारः स्तोत्रपाठस्तथार्चनम् ।
तोषणं सर्वथानेकै रुपहारगानवादनैः ॥ ६४ ॥

एवं ये विविधा लोक उपाया देवतोषकाः ।
सर्वे ते हि मनुष्येभ्यः कर्तव्या सिद्धिमिच्छता ॥ ६५ ॥

हाथ जोड़ कर नमस्कार करना, स्तोत्र पाठ और पूजन, नाना प्रकार के भेंट गायन वादन आदि से हर तरह प्रसन्न करना आदि जो अनेक उपाय संसार में देवताओं को प्रसन्न करने वाले हैं उनका सिद्धि चाहने वाले पुरुष को मनुष्यों के लिये भी प्रयोग करना चाहिये।

मन्त्रोऽयन्तु वशीकर्तुं श्रेयोऽन्यः सर्वसाधकैः ।
निर्मितः साजनिर्भूतान् "तुच्छोऽहन्त्वं महाजनः" ॥६६॥

"मैं तुच्छ हूं आप महापुरुष हैं" इस प्रकार हाथ जोड़ कर कहे। यही वशीकरण मन्त्र है जिसका सभी साधकों को प्रयोग करना चाहिये।

न वदेन्मर्मभिद्वाक्यं सभ्यतान्न परित्यजेत् ।
श्रोतृचित्तं समाकर्षेत् सुवाचा चानुकूलया ॥ ६७ ॥

न मर्म भेदन करने वाले वाक्यों का प्रयोग करे और न सभ्यता का ही परित्याग करे। ऐसी सुन्दर एवं अनुकूल वाणी से श्रोताओं का चित्त अपनी ओर आकर्षित करे।

व्यक्ति कालानुसारेण वर्तितव्यं सुखेच्छुभिः ।
मानवः प्रतिकूलस्तु व्याहन्यते पदे पदे ॥ ६८ ॥

सुखाभिलाषी पुरुष व्यक्ति और काल देखकर ही व्यवहार करे, इससे प्रतिकूल व्यवहार करने वाला मनुष्य पद २ पर ठोकरें खाता है।

भिन्ने देशे युगे काले भिन्नवातावृतास्थितौ ।
तत्तत्कालप्रसूतानां पृथग्घासीत् परिस्थितिः ॥ ६९ ॥
सदोपायास्तथादर्शा न त एवोपयोगिनः ।
प्रत्यहं परिवर्तन्ते परिस्थित्यनुसारतः ॥ ७० ॥

विभिन्न देशकाल में विभिन्न वातावरण में पैदा हुए नियमों की परिस्थितियाँ कुछ भिन्न प्रकार की ही थीं। अतः एक से आदर्श या उपाय सदा उपयोगी नहीं होते हैं, परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन होता ही रहता है।

वृद्धावस्था जननान्तु प्रायो भवति दुःखदा ।
प्रागेव तदुपाया हि चिन्तनीयाः स्वयौवने ॥ ७१ ॥

प्राय: मृगतृष्णा लोगों के लिये अत्यन्त दुःखदायी होती है अत: अपनी जवानी में पहले से ही उसके उपाय विचार ले।

स्वलाभार्थं यथाशक्ति प्रयतते नरोऽनिशम् ।
प्राप्तेन च सुसन्तुष्ट काम्यसौख्यमवाप्नुयात् ॥ ७२ ॥

मनुष्य अपने लाभ के लिए यथाशक्ति निरन्तर प्रयत्न करता रहे तथा जो कुछ मिले उसी से पूर्ण सन्तुष्ट होकर इच्छित सुखोपभोग करे।

स्वलाभार्थं यथाशक्ति प्रयतेत नरोऽनिशम् ।
यथाप्राप्तेन सन्तुष्टः काम्यं सौख्यं समाप्नुयात् ॥ ७३ ॥

मनुष्य अपने लाभ के लिये यथाशक्ति पूर्ण प्रयास करता रहे, किन्तु जितना प्राप्त होवे उतने से ही पूर्ण सन्तुष्ट हो जावे तो अपने इच्छित सुखों को समाप्त कर बैठता है।

ज्ञात्वा पित्रोरवात्सल्यं यथा रोषति सन्ततिः ।
ज्ञात्वा तथैव रोषन्ति गुरवोऽप्यवमानताम् ॥ ७४ ॥

जैसे सन्तान अपने पर माता पिता के वात्सल्य की कमी का अनुभव कर रोष किया करती है वैसे ही गुरुजन भी अपने प्रति उनके लापरवाही (उपेक्षा) के भाव जान कर रोष करते हैं।

यादृक् स्वमातृपितृभ्यां सन्ततिर्वर्तते स्वयम् ।
तद्वत्सापि स्वसन्तानात् स्वभावात् फलमेष्यति ॥ ७५ ॥

सन्तान जैसा व्यवहार अपने माता पिता के साथ करती है वैसा ही उसे भी अपनी सन्तान से फल मिलेगा यह स्वाभाविक है।

पित्राशिषस्तु मात्राशी विशेषफलदायिनी ।
मातृसेवाप्रभावाद्धि पुत्रः स्वर्गे महीयते ।। ७६ ।।

पिता की आशीष से माता की आशीष विशेष फल देने वाली होती है माता की सेवा के प्रभाव से ही पुत्र स्वर्ग में ख्याति प्राप्त करता है।

यो यत्र रतिमाप्नोति सौख्यं स तत्र प्राप्नुयात् ।
सहते दुःखमन्यत्र सुस्थानेऽपि सुखं स्थितः ।। ७७ ।।

जिस मनुष्य का जिस स्थान से प्रेम होगा वहां उसे सुख मिलेगा। इससे भिन्न स्थान अच्छा हो और वह ठीक ढङ्ग से हो तो भी उस स्थान के प्रति रति न होने पर पर उसे दुःख ही होगा।

स्नेहोत्पन्नसुखं यत्तत् न कुत्राप्यनुभूयते ।
शरीरं पुष्यति स्नेहो मनश्चापि सुपुष्यति ।। ७८ ।।

स्नेह से उत्पन्न सुख की सी अनुभूति अन्यत्र कहीं पर भी नहीं होती है, स्नेह शरीर को तो पुष्ट करता ही है पर मन को भी बल देता है।

प्रेमभावप्रसाराय प्रेमसञ्चयनाय वै ।
द्वेषभावं परित्यज्य सर्वत्रैवार्जवं भजेत् ।। ७९ ।।

प्रेमभावे गुणा ये ते भवन्ति निन्दने नहि ।
प्रेम्णैव साध्यते प्रायः कार्यं न तु विरोधतः ।। ८० ।।

प्रेमभाव फैलाने के लिए तथा प्रेम प्राप्त करने के लिए द्वेष भाव छोड़कर सभी जगह सरलता का व्यवहार करे। प्रेम

में जो गुण हैं वे निन्दा में कहां हैं? प्रायः कार्य प्रेम से ही सिद्ध होते हैं विरोध में नहीं।

कदापि कस्यचिन्न स्यात् प्रवृत्तिः काप्यहेतुकी ।
क्वचिदन्येन प्रकारेण स्वहेतुं स गदिष्यति ॥ ८१ ॥

कभी भी किसी भी कार्य में कोई व्यक्ति बिना कारण ही नहीं लगेगा, कहीं पर और किसी भी प्रकार से वह हेतु जरूर बतावेगा * ।

कर्तुं शक्तो भवेद्यो न केवलं चिन्तने रतः ।
तस्य चिन्ता न लाभाय प्रत्युतः शक्ति नाशिका ॥८२॥

जो करने की शक्ति तो रखता नहीं है और सदा सोचने में लगा रहता है, उसका सोच विचार लाभ तो पहुँचाता ही नहीं है शक्ति का ह्रास कर हानि देता है।

स्वस्वभावजं दुःखं यो विजानाति परैः कृतम् ।
तस्य ज्ञानविहीनस्य व्यर्थं हि परिदेवनम् ॥ ८३ ॥

अपने ही स्वभाव से उत्पन्न दुःख को जो दूसरों से किया हुआ मानता है (तथा रोता है) ऐसे ज्ञानहीन व्यक्ति का रोना धोना शिकायत करना व्यर्थ है। (यदि कोई दूसरा उसे दुःख देता हो तो उपाय भी किया जा सकता है। स्वयं ही दुःख में हेतु है तथा शिकायत करता है उस मूर्ख को कौन समझावे)।

शरीरे कार्यसामर्थ्यं क्रियाभ्यासाद्धि जायते ।
बलिष्ठोऽपि क्रियाहीनः स्वकार्यं कर्तुमक्षमः ॥ ८४ ॥

* प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

शरीर में कार्य करने की शक्ति क्रिया के अभ्यास से ही होती है बलिष्ठ व्यक्ति भी क्रियाहीन होने पर अपना कार्य करने में समर्थ नहीं है।

द्वे एव प्राणिनां जाती नारी वा नर एव च ।
कथ्यते शतशो लोके जातयः कर्मभेदतः ॥ ८५ ॥

प्राणियों में नर और नारी ये दो ही जातियां हैं, अन्य सैकड़ों जातियां तो केवल कर्मभेद से हैं।

लक्ष्यं विना तु संसारे कोऽपि किञ्चित्करोति न ।
करोति चेद्विना लक्ष्यं व्यर्थत्वमेति तत्कृतिः ॥ ८६ ॥

कोई भी मनुष्य विना लक्ष्य कुछ भी नहीं करता है, यदि करता भी है तो उसकी कृति (चेष्टा) व्यर्थ हो जाती है।

अविज्ञानं कृतं कर्म निर्माणञ्चाप्यकारणम् ।
दुःखमूलमसाध्यञ्च जीवनानुभवो हि मे ॥ ८७ ॥

विना जाने किया हुआ काम एवं अकारण किया गया निर्माणकार्य दुःख का मूल और असाध्य होता है यह मेरे जीवन का अनुभव है।

धनदा मानदा सैव स्वातन्त्र्यसुखदापि च ।
यस्य स्याद्दैवसंयोगात् प्रकृतिर्लोकसम्मता ॥ ८८ ॥

जिस पुरुष की प्रकृति दैव संयोगवश लोकसम्मत हो तो उसी से धन, मान एवं स्वातन्त्र्यसुख की प्राप्ति होती है।

नास्त्यनावश्यकं किञ्चित् सर्वमत्र सुखावहम् ।
युक्तं चेन्मात्रया देशे काले पात्रे परिस्थितौ ॥ ८९ ॥

यदि भाषा, देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार वस्तु प्रयुक्त है तो वहां किञ्चिन्मात्र भी कुछ भी अनावश्यक नहीं है, सभी से सुख की प्राप्ति होती है।

समूहा यत्रकुत्रापि सभां कुर्वन्तु सज्जनाः ।
मधु सच्छास्त्रनिर्यासं पिबेयुर्वचनामृतम् ॥ ६० ॥

सज्जन पुरुष जहां कहीं भी एकत्र होकर सभा करें एवं सच्छास्त्रों के सारभूत मधुर वचन रूपी अमृत का पान किया करें

कृतस्य प्रतिकारेच्छां त्यक्त्वा लोकसुसेवकः ।
भूयाद्यदि जनः कोऽपि तस्मै लोकः प्रसीदति ॥ ६१ ॥

यदि कोई मनुष्य उपकार करके भी प्रत्युपकार की इच्छा का परित्याग करके लोक की सेवा करता है उसी से जनत प्रसन्न होती है।

हर्षस्य शीतलाश्रूणि चक्षुः कोणात् स्रवन्त्यधः ।
शोकाश्रूणि कवोष्णानि चक्षुर्मध्यात् स्रवन्त्यधः ॥ ६२

हर्ष के आंसू ठण्डे होते हैं और आंखों के कोण भाग से नीचे टपकते हैं तथा शोक के आंसू कुछ उष्ण होते हैं और आंखों के मध्य भाग से टपकते हैं।

यथा प्राप्तेन संतुष्टिं विना सौख्यं न कर्हिचित् ।
प्राप्नोति मानवो लोके घनश्यामस्य निश्चयः ॥ ६३ ॥

मनुष्य इस संसार में यथाप्राप्त वस्तु से संतोष किये बिन कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है यह घनश्याम का दृ निश्चय है।

जनस्य गाननृत्याभ्यां व्यज्यते हृत्प्रसन्नता ।
तल्लीनतापि व्यक्ता स्यात् संकोचः क्रियते न चेत् ॥६४॥

मनुष्य की हार्दिक प्रसन्नता गायन एवं नृत्य से व्यक्त होती है यदि संकोच न किया जाय तो तल्लीनता भी प्रकट होती है ।

आलस्यं भोगलोभौ च मोहश्चापि विलासिता ।
सेवनं मद्यमांसादे रुन्नतौ बाधकानि वै ॥ ६५ ॥

आलस्य, भोग, लोभ, मोह, विलासिता और मद्य मांस आदि का सेवन ये सब उन्नति में बाधक होते हैं ।

न कर्तव्या दिवासुप्ति र्बुद्धिशुद्धिविनाशिनी ।
आलस्यं मुखवैरूप्य मवसादं प्रयच्छति ॥ ६६ ॥

दिन में शयन करने से बुद्धि की पवित्रता का विनाश, आलस्य, मुखवैरूप्य तथा अवसाद की प्राप्ति होती है अतः दिन को सोना नहीं चाहिये ।

परेषामादरं कुर्याद् यो जन आत्मसदृशम् ।
अवश्यं प्राप्नुयात् पूजां विपक्षैरपि मानवैः ॥ ६७ ॥

जो मनुष्य अपने ही समान दूसरों का आदर करता है वह विपक्षी पुरुषों से भी अवश्य ही सत्कार प्राप्त करेगा ।

वाचकोनुगता शब्दो जीवानुगतकर्मणाम् ।
जीवन्नेव ततः कुर्यात् सञ्चयं पुण्यकर्मणाम् ॥ ६८ ॥

"नुगता" शब्द जीव के अनुगत कर्मों का वाचक है इस लिये जीते जी ही पुण्यकर्मों का सञ्चय करना चाहिये ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते हि स्वभावतः ।
एवं समन्वयोगस्य साधकेन जगज्जितम् ॥ ९९ ॥

इन्द्रियां अपने २ विषयों का स्वभावतः अनुसरण करती हैं इस प्रकार समन्वययोग में स्थित साधक ही जगत् विजयी है ।

कृष्णो भूत्वोपदेष्टा हि कर्तव्यं दिशति स्वयम् ।
प्राणिनः कर्मणां भारं स्वस्मिँश्च धारयत्यपि ॥ १०० ॥

कृष्ण स्वयं उपदेशक होकर कर्तव्य का उपदेश देता है और प्राणिमात्र के कर्मभार को भी अपने आप में धारण कर लेता है ।

स्वज्ञानमपि मूढानां विरुद्धं नावभासते ।
वृद्धानुभव निर्देशो मन्तव्योऽतो हितेच्छुभिः ॥१०१॥

मूर्खों को अपना ज्ञान (अज्ञान भी) विरुद्ध प्रतीत नहीं होता है अतः हिताभिलाषी मनुष्य वृद्ध लोगों के अनुभवपूर्ण निर्देशों को मानें ।

प्रायो दृष्ट्वापि वैशिष्ट्यं विश्वस्ता भुवि मानवाः ।
मोक्षाकाङ्क्षां समादाय तीर्थादिकं प्रयान्ति हि ॥१०२॥

प्रायः किसी प्रकार की खास विशेषता न देखकर भी लोग विश्वास किये हुए मोक्ष की अभिलाषा लेकर तीर्थादि की यात्रा को निकल ही जाते हैं ।

वस्तुसारं न जानन्ति प्रयान्ति चान्धवद् भुवि ।
प्रायशो मानवा लोके लोकाननुसरन्ति हि ॥ १०३ ॥

प्रायः लोग किसी बात के सार को तो जानते नहीं हैं और अन्धों की भांति दौड़ पड़ते हैं बिना देखे लोग, लोगों का पीछा करते हैं।

जातिसंहतिमप्राप्य लोके कोऽपि न हृष्यति ।
यथैकाकी जनोऽहृष्टो वाञ्छति जनसंगतिम् ॥ १०४ ॥

अपनी जाति का साहचर्य न पाकर कोई भी खुश नहीं होता है, जिस प्रकार अकेला व्यक्ति अप्रसन्न सा रहता हुआ पुरुषों की संगति चाहता है।

रक्षन्ति श्रेष्ठिना कोपे स्वार्जितं मानवा धनम् ।
आकर्षति स्वभावाद्धि विशेषोऽल्पं न संशयः ॥ १०५ ॥

मनुष्य अपना कमाया धन सेठों के खजानों में रखा करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है कि विशेष, कम को स्वभावतः खींच लेता है।

असुरा दुर्गुणास्त्वत्र सुराः सद्गुणवृत्तयः ।
देवासुरोऽभिसम्पातो देहेषु वर्तते सदा ॥ १०६ ॥

दुर्गुण ही असुर हैं तथा सद्गुण सुर हैं इस प्रकार यह देवासुर संग्राम मनुष्य के घट में ही सदा चलता रहता है।

मानवाः प्राप्नुवन्त्येव फलानि कृतकर्मणाम् ।
मन्यन्त आस्तिकास्तानि हरिदत्तानि भक्तितः ॥ १०७ ॥

अहंकारात्तु तान्येव नास्तिकाः स्वकृतानि हि ।
मन्यन्ते नैव जानन्ति प्रयत्ने सफला न किम् ॥१०८॥

अपने किये कर्मों का फल तो मनुष्य पाते ही हैं, आस्तिक उन्हें अपनी भक्तिभावना के कारण भगवान् के दिये हुए मान लेते हैं उन्हीं को नास्तिक अहङ्कार के कारण अपने किये हुए मानते हैं किन्तु यह क्यों नहीं जानते हैं कि हम इसमें सफल क्यों नहीं हुए ?

कर्तव्यपालनेनैव गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
शान्तिरायाति वैपरीत्यान् मिथो द्वेषस्ततः कलिः ॥१०६॥

गृहस्थी लोग अपने घरों में ही कर्तव्यपालन से शान्ति पा सकते हैं, इससे विपरीत होने पर परस्पर द्वेष भावनाएँ उत्पन्न होती हैं जिससे कलि का प्रभाव बढ़ता और कलह होती है।

सन्न्यायनार्जितद्रव्य स्थित्यैव सुखमेधते ।
भ्रष्टाचारार्जितं द्रव्यं दुःखाय न च तिष्ठति ॥ ११० ॥

नैतिक दृष्टि से अनुमोदित उत्तम उपायों से अर्जित द्रव्य ही टिकता है तथा उसी से सुख बढ़ता है। भ्रष्टाचार से कमाया द्रव्य दुःख ही देगा तथा ठहरेगा भी नहीं।

याद्यास्ति सुखसामग्री भविता सैव दुःखदा ।
संयोगाज्जायते सौख्यं वियोगाद् दुःखमेव च ॥१११॥

जो पदार्थ आज सुखदाई है वही कल परसों दुःखदायक हो जायेगा क्योंकि संयोग से सुख की प्राप्ति तथा वियोग से दुःख की प्राप्ति है एवं संयोग के साथ वियोग लगा ही रहता है।

प्रमाणी क्रियते नैव वचनं साक्षिणं विना ।
तदस्ति भ्रान्तमङ्कुरो वक्तुरेवेति मन्यते ॥ ११२ ॥

साक्षी के विना किसी की भी वात को प्रमाणित नहीं माना जाता है तथा यही माना जाता है कि यह तो वक्ता के ही अपने मन का विचार है।

मानवः क्रयवेलायां सावधानो भवेत्सदा ।
हानिमवाप्नुयान्नोचेत् कलहश्च प्रजायते ॥ ११३ ॥

मनुष्य खरीदते समय सदा सावधान रहे नहीं तो इससे हानि होने का भय है या कलह पैदा होने की सम्भावना है १।

निष्कासनं विना कोऽपि भरत्येव नरो यदि ।
ततो लाभन्न प्राप्नोति पात्रमेव विनश्यति ॥ ११४ ॥

मनुष्य यदि किसी वस्तु को विना निकाले यदि पात्र को भरता ही जायगा तो उससे कोई लाभ न होकर पात्र ही नष्ट हो जायगा अर्थात् किसी में सद्गुणों को भरने के लिये पहले उसके अवगुणों को दूर करे।

विकत्थनं तु शिष्टानां भाव्युन्नतिविधायकम् ।
स्वविकत्थनरक्षार्थं मतन्द्रो यतते सदा ॥ ११५ ॥

शिष्ट पुरुषों का आत्मप्रशंसा करना भावी उन्नत्ति का कारण होता है क्योंकि अपनी कीगई प्रशंसा की रक्षा के लिये मनुष्य निरन्तर आलस्य छोड़ कर प्रयत्न करता रहता है।

१- खराव वस्तु को पलटाते समय दुकानदार से कलह हो सकती है यदि नहीं पलटाना चाहते हैं तो घर में कलह होगी इस प्रकार तनिक सी असावधानी से हानि व कलह दोनों पल्ले पड़ी व वस्तु की खरीद का आनन्द भी नहीं आया।

कालगत्यनुसारेण कर्तव्या स्वगतिर्बुधैः ।
विस्मर्तव्या व्यतीता तु वराप्यवराथवा ॥ ११६ ॥

विद्वान पुरुषों को चाहिये कि वे समय की गति के अनुसार अपनी गति रक्खे और बीती हुई अवस्था अच्छी हो या बुरी भूल जावें।

उच्चैः स्वरेण यो ब्रूते प्रभावोत्पादिकां स्तुतिम् ।
ध्यायते वा जनान् दृष्ट्वा नियतं वञ्चको हि सः ॥ ११७ ॥

जो ऊंचे स्वर में प्रभाव उत्पादन करने वाली स्तुति करता है अथवा लोगों को देखकर ध्यान करने लगता है व निश्चय ही ठग है।

संसारसुखभोगाय मार्गौ द्वौ निश्चितौ मया ।
अन्यानुसारी वा कुर्यात् स्वानुसृतं परम् ॥ ११८ ॥

मैंने सांसारिक सुख भोग के साधक दो ही मार्गों का निश्चय किया है या तो स्वयं दूसरों का अनुगमन करे अथवा दूसरों को अपना अनुयायी बना लेवे अर्थात् एकाकी न रहे।

लोकद्वयस्य सिद्ध्यर्थं कुर्यादित्थंनरः स्वयम् ।
आधिक्यं लोकसेवाया हानिस्ल्पतराः पुनः ॥ ११९ ॥

मनुष्य इहलोक व परलोक की सिद्धि के लिये स्वयं ऐसे काम करे जिससे अपनी हानि कम हो और लोकसेवा अधिक हो।

क्वचिल्लाभः क्वचिद्धानिः क्वचिद्दायश्च पुष्कलः ।
यानद्वयं चलत्येव ह्येषा हि श्रेष्ठिनां गतिः ॥ १२० ॥

कहीं आय का अभाव, कहीं हानि और कहीं पुष्कल आय ये सेठ लोगों की उपरी बातें हैं जो चलती ही रहती हैं।

सञ्चयः सुखदो नृणां व्ययस्तु कष्टदः परः ।
सञ्चयस्य फलं किं स्या त्तस्य चेन्न व्ययो भवेत् ॥१२१॥

मनुष्यों को सञ्चय सुखदायक व व्यय दुःखदायक दृष्टिगोचर होता है परन्तु उस सञ्चय का फल ही क्या होगा जिसका व्यय न किया जायगा।

चिन्तायाः कर्मणश्चापि दुःखस्यापि सुखस्य च ।
देहिनो हृदयेऽवश्यं कश्चिल्लेशोऽवशिष्यते ॥ १२२ ॥

चिन्ता (विचार) कर्म (क्रिया) तथा दुःख व सुख का कुछ न कुछ लेश तो प्राणियों के हृदय पर बचा रहता है ही। (अतः बुरे कर्म व विचार न करें जिससे हृदय पर इस प्रकार की छाप का तनिक सा दाग भी न रहे)।

चमत्कारश्च चातुर्यं चित्तैक्यं चेतसोऽच्युतिः ।
चापल्याभाववद्वाक्यं चयन गुणसम्पदः ॥ १२३ ॥
परेषां प्रायशो नित्यं चोदनं शुभकर्मसु ।
चकाराः सप्त संख्याका घनश्यामसमादृताः ॥ १२४ ॥

(१) चमत्कार (२) चतुरता (३) चित्त की एकाग्रता (४) चित्त की दृढ़ स्थिति (५) चञ्चलता से शून्य वाक्य बोलना (६) उत्तम गुणों का चयन (७) तथा दूसरों को शुभ कर्मों पर चलाते रहना। ये ७ चकार घनश्याम द्वारा माने गये हैं तथा आदर किये गये हैं।

इति प्रकीर्णके अवशिष्टे नीतिसंग्रहः ॥

प्रकीर्णके

अवशिष्टे इस्लामकोषः

निधानं मोमिनाः स्वेषां कुरानं मन्वते ध्रुवम् ।
ऐक्यभावेन चाल्लायाः सुमार्गादेशपुस्तकम् ॥ १२५ ॥
वर्णिताः प्रायशस्तस्मिन् रसूलस्यानुभूतयः ।
नियमाः सर्वसाध्याश्च प्राप्तकालानुसारतः ॥ १२६ ॥

मुसलमान कुरान को अपना निधान मानते हैं, यह पुस्तक 'ईश्वर एक ही है' के सिद्धान्त द्वारा 'आल्ला-ताला' के सुन्दर पथ का प्रदर्शन करती है, इसमें प्रायः मुहम्मद साहिब की अनुभूतियों का वर्णन है. समय के अनुसार चलनेवाले सर्व साध्य नियम इस में हैं।

खण्डनं मूर्तिपूजायाः ऐक्यभावस्य मण्डनम् ।
सर्वाधिकारसाम्यञ्च संग्रहाय तु नार्जनम् ॥ १२७ ॥
सर्वो जागतिकोभोगः मानवायैव सम्मतः ।
सर्वत्र निश्चिता चैव सर्वप्राणिप्रधानता ॥ १२८ ॥

मूर्तिपूजा का खण्डन एकेश्वरवाद की दृढ़ता, सब के अधिकारों की समानता केवल संग्रह के लिए नहीं कमाना, विश्व के समस्त भोगों को मानवों के लिए ही मानना, सब प्राणियों में मनुष्य को ही सर्वप्रधान मानना मुस्लिम धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं।

इति प्रकीर्णके अवशिष्टे इस्लामकोषः ॥

प्रकीर्णके
अवशिष्टे अध्यात्मविद्या

कुतोऽहं कारणात् कस्मात् कस्मै कार्याय चागतः ।
किमहञ्चेति कर्तव्या चित्ते चिन्ता विवेकिभिः ॥ १२९ ॥

मैं कहाँ से किस कारण से किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस जगत् में आया हूँ तथा कौन हूँ क्या हूँ ऐसे विवेकपूर्ण विचार सदा अपने मन में विवेकशील मनुष्य को करने चाहिए।

एतदेवास्य स्पष्टार्थं स्वात्मनः शरणं व्रज ।
कायेन मनसा वाचा तदा शान्तिमवाप्स्यसि ॥ १३० ॥

इसका यही स्पष्ट अर्थ है कि शरीर, मन और वाणी से अपने आत्मा की शरण हो जाओ, तभी शान्ति मिलेगी *।

आकाशं नैवं गृह्णाति गृह्णाति पतितः स्थलम् ।
जीवोधःपातितो येन तेनैवोत्थापितो भवेत् ॥ १३१ ॥

गिरा हुआ व्यक्ति उठने के लिए आकाश को नहीं पकड़ता है बल्कि सहारे के लिए भूमि को ही पकड़ता है, वैसे ही

---

* यह पद्य गीता "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" के अर्थ को स्पष्ट करता है, इतने स्पष्ट शब्दों में अपनी शरण में आने का आदेश सिवाय आत्मा के और कौन दे सकता है । उपनिषदों में भी "आत्मा वारे मन्तव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः, नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" जैसे उपदेशों द्वारा आत्मोत्थान को ही चरम-विकास में हेतु माना गया है।

जीव भी जिसके द्वारा नीचे गिरा है, उसी (के सहारे) के द्वारा पुनः उठता भी है।

भूमावस्यां पतेद्यस्तु प्युत्तिष्ठेत्सस्तदाश्रयात् ।
तथैव नामरूपाभ्या भवजीवोद्गतिर्मता ॥ १३२ ॥

जो कोई भी इस भूमि पर गिर पड़ता है वह इसी भूमि का सहारा पाकर ही उठता भी है ठीक उसी प्रकार नाम और रूप द्वारा संसार में भटका हुआ जीव हरि के नाम रूप से ही ऊपर भी उठता है।

आत्मानमीश्वरं मन्ये तथैव परमेश्वरम् ।
मन्येऽहं परमात्मानं सर्वोच्चभावशेवधिम् ॥ १३३ ॥

मैं आत्मा को ही ईश्वर और परमेश्वर मानता हूं। सर्वोच्च भावों का खजाना ही तो परमात्मा है, जो धर्म आत्मा से भी प्राप्य है।

दृष्ट्वात्मज्ञानिसिंहन्तु विभ्यति विषयद्विपाः ।
पलायन्ते स्वरक्षार्थं मज्ञानिजनगह्वरम् ॥ १३४ ॥

आत्मज्ञानी सिंह को देखकर विषय हाथी अपनी सुरक्षा के लिए अज्ञानीजन गुफा में भाग जाते हैं।

यया वयं परिच्छिन्ना माया विद्या च सैव हि ।
अभ्यासाद् ब्रह्मसंयुक्ता गच्छामोऽपरिच्छिन्नताम् ॥१३५॥

जिसके द्वारा हम परिच्छिन्न हैं, सीमित हैं यही माया या अविद्या है, अभ्यास से ब्रह्मसंयुक्त होने पर अपरिच्छिन्नता (अनन्तता, व्यापकता) को प्राप्त होते हैं।

परित्यज्यान्तरात्मानं वहिर्नो प्राप्यते प्रभुः ।
अन्यत्रान्वेषणं तस्य मूर्खतायाः प्रदर्शनम् ॥ १३६ ॥

अपनी आत्मा की अवहेलना कर उसे भूल कर वाहरी जड़ जगत् में खोजने पर कहीं भी भगवान् की प्राप्ति नहीं होगी, उसे आत्मा से अन्यत्र खोजना अपनी मूर्खता का प्रदर्शन है।

एक्यभावं हि सर्वत्र ह्युपाधिरहितात्मनः ।
सर्वमात्मातिरिक्तन्तु भ्रमं ज्ञात्वा तरेज्जनः ॥ १३७ ॥

किसी भी वाहरी विशेषण से शून्य "आत्मा" सभी जगह एक है, आत्मा से अतिरिक्त सब कुछ "भ्रम" है, इन वातों को जानकर मनुष्य संसार से पार पावे।

एष एव प्रमाणोऽस्ति सर्वेष्वेकस्य चात्मनः ।
स एकः सर्वभूतेषु द्वितीयत्वन्न वाञ्छति ॥ १३८ ॥

सभी प्राणियों में एक ही आत्मा होने का यही एक प्रवल प्रमाण है कि सभी प्राणियों में अवस्थित वह एक ही आत्मन् द्वितीयत्व कभी नहीं चाहता है।

ब्रह्मणोऽभिन्नजीवस्य दर्शनं ज्ञानमुच्यते ।
ज्ञानमस्यास्ति स ज्ञानी स एवाध्यात्मविज्जनः ॥१३९॥

जीव ब्रह्म (आत्मा व परमात्मा) में अभेद देखना विचारना ही ज्ञान है, इस ज्ञान से सम्पन्न ही ज्ञानी कहलाता है यही अध्यात्मवेत्ता भी है।

पुत्रलोकधनानाञ्च सन्त्यत्र तिस्र एषणाः ।
सन्त्येता वाधका लोके संसृतेर्मुक्तिसाधने ॥ १४० ॥

परित्यज्यैषणापाशं ब्रह्मदर्शनमेष्यति ।
जनोऽतः सद्गुरुज्ञाना देषणाः प्रथमं त्यजेत् ॥ १४१ ॥

पुत्रैषणा लोकैषणा तथा वित्तैषणा ये तीन एषणायें हैं जो चित्त में मुक्तिसाधनों में बाधा डालती हैं, इन तीनों एषणाओं के पाश से छुटकारा पाकर ही मनुष्य ब्रह्मदर्शन कर सकेगा अतः सर्वप्रथम साधक श्री सद्गुरु के ज्ञान से इन एषणाओं को छोड़ दे ।

अधो याति जगत्प्रेम प्रभोश्चैति सदोच्चताम् ।
त्यक्त्वातो लौकिक प्रेम कुर्यान् तत् सर्वदा प्रभौ ॥१४२॥

सांसारिक प्रेम सदा नीचे जाता है तथा प्रभु का प्रेम ऊंचा उठता है अतः लौकिक प्रेम छोड़ कर सदा हरि में ही प्रेम करे ।

विवेकाच्छुद्धभावात्मा हरिः सर्वत्र दृश्यते ।
नियन्ता नियमैरेव स्रष्टा सृष्ट्यानुमीयते ॥ १४३ ॥

विवेक से हृदय शुद्ध होने पर सभी जगह घर २ में अणु २ में हरि के दर्शन किये जा सकते हैं, नियन्ता का नियमों से तथा स्रष्टा का इस सृष्टि से अनुमान किया जाता है ।

हरिर्हरति पापानि ध्यानिनोऽध्यानिनस्तथा ।
एतस्मात्कारणादेव हरिः शब्देन गीयते ॥ १४४ ॥

ध्यान करने वाला हो या नहीं, हरि पापों को हरते हैं। अत एव इनका नाम हरि है। हरणाद् हरिः हरति पापानि स्मरतामिति हरिः ।

ब्रह्माण्डे यानि दृश्यानि तानि पिण्डेऽपि निश्चितम् ।
यथेदयन्ते बहिःस्थानि ज्ञानायाभ्यन्तराण्यपि ॥ १४५ ॥

ब्रह्माण्ड में जितने भी दृश्य हैं उतने ही इस शरीर में । जिस प्रकार (चर्मचक्षुओं से) बाहरी दृश्य देखे जाते हैं वैसे ही ज्ञान की दृष्टि से आन्तरिक दृश्य भी देखे जा सकते हैं ।

स्वाध्यायो नित्यशः कार्यो ह्यध्यात्मज्ञानवृद्धये ।
लौकिकोन्नतिविद्याप्त्यै कलाशिक्षाशमाप्तये ॥ १४६ ॥

लौकिक उन्नति तथा विद्या प्राप्ति के लिये कला शिक्षा व शान्ति पाने के लिये, अध्यात्मज्ञान की वृद्धि के लिये नित्यप्रति स्वाध्याय करते रहना चाहिए ।

वाचनं पृच्छनाम्नायऽनुप्रेक्षा धर्मसंकथा ।
मुतालाशब्दवाच्योऽयं स्वाध्यायः पञ्चधा स्मृतः ॥१४७॥

ग्रन्थों का वांचना, दूसरों से पूछना, मनन करना और विचारना तथा धर्म की चर्चा करना यह पांच प्रकार का स्वाध्याय माना गया है जिसे 'मुताला' अरबी में कहते हैं ।

प्रायः प्रवृत्तिमार्गे हि बहुशो लोकभावना ।
सैव निवृत्तिमार्गे तु दृश्यते हि क्वचित् क्वचित् ॥१४८॥

प्रायः सभी लोगों की भावना अधिकांश प्रवृत्तिमार्ग की ओर ही देखी जाती है, निवृत्तिमार्ग की ओर तो वे भावना कहीं २ ही देखी जाती हैं ।

दर्शने दत्तचित्तस्य यथा स्याच्छ्रवणे क्षतिः ।
तथा संगीतलक्ष्यस्य ज्ञातमन्यद्भवेन्न हि ॥ १४९ ॥

जिस प्रकार देखने में दत्तचित्त मनुष्य सुन नहीं सकता है वैसे ही संगति में मग्न व्यक्ति को अन्य कुछ भी मालूम नहीं होता है।

संसारी दुर्गुणागारो निराधारो दुराग्रही।
मूढो देहाभिमानश्चाऽऽत्मज्ञानं न प्राप्नुयात् ॥ १५० ॥

दुर्गुणों का आगार, निराधार दुराग्रही देहाभिमानी मूढ संसारी कभी भी आत्मज्ञान नहीं पा सकता है।

लौकिकसिद्धिस्त्वनित्येयं किमर्थं प्रार्थ्यते जनैः।
पारलौकिकसिद्धयर्थं मद्यावधि किं कृतन्न वा ॥१५१ ॥

लौकिक सिद्धि इज्जत, धन मान आदि अनित्य है फिर भी लोग इसे क्यों चाहते हैं? पारलौकिक सिद्धि के लिए आज तक कुछ किया या नहीं?

यथा या स्याद्धि ब्रह्माण्डे द्रव्यस्य विगतिर्गतिः।
पिण्डेऽपि सा तथैव स्यात् विचारेणावगम्यते ॥१५२॥

ब्रह्माण्ड में द्रव्य की जिस प्रकार से विगति या गति होती है वैसी ही इस शरीर में भी होती है जिसका पता विचार से चलता है।

सच्चित् रूपः प्रकृत्यासौ जीव आनन्दमीप्सति।
तद्विना भुङ्क्ते दुःख मन्विष्यति च तत्पुनः ॥ १५३ ॥

जीव प्रकृति से सत् चित् स्वरूप है और आनन्द को प्राप्त करना चाहता है और उसके बिना दुःखी रहता है। अतः उसे बार बार ढूंढता है।

सुध्यानाद्विरहाद्वापि चक्षुर्भ्यामश्रु निर्गमः ।
एकाकिनो व्यनक्ति वै ध्येय प्रेमार्द्रतां हृदि ॥ १५४ ॥

एकान्त स्थित व्यक्ति के ध्यान से या विरह से नेत्रों से जल बहना हृदय में अपने ध्येय के प्रति प्रेमार्द्रता को सूचित करता है।

न ब्रूयाच्छृणुयाद्वापि व्यर्थं केनापि कस्य वा ।
भूयात् कार्येऽथवा ध्याने संलग्नश्च समाधिमान् ॥१५५॥

किसी के सम्मुख व्यर्थ ही न कुछ बोले और न कुछ सुने, एकाग्र चित्त होकर अपने कार्य अथवा ध्यान में संलग्न रहे।

गुरुमेवेश्वर मन्ये स एव तन्निरूपकः ।
गुरोर्भावं परित्यज्य चिन्तयामि न ह्यश्वरम् ॥ १५६ ॥

मैं गुरु को ही ईश्वर मानता हूं क्योंकि वही उसका निरूपण करते हैं गुरु भाव का परित्याग कर कभी ईश्वर का चिन्तन नहीं करता हूं।

इन्द्रियाणां विकारं हि पशुरूपो भवेदिह ।
तं पशुं हि बलिं दद्यात् दिव्यभावाप्तिहेतवे ॥ १५७ ॥

इन्द्रियों का विकार ही यहाँ पशु रूपी होता है अतः दिव्य-भाव की प्राप्ति के लिये उस पशु की बलि देवे।

यत्र स्यान्मनसो वृत्ति स्तत्रस्थः सैव कथ्यते ।
साध्यस्यातः सुसिद्ध्यर्थ मेकभावः प्रशस्यते ॥ १५८ ॥

जहाँ मन की स्थिति होती है वहीं साधक की स्थिति है ऐसा कहा जाता है अतः साध्य की पूर्णरूप से प्राप्ति के लिये एक भाव की प्रशंसा की जाती है।

स्वरूपे यः स्थितः कोऽपि तस्य चिन्ता भवेन्न हि ।
अन्तःकरणमेवात्र हेतुश्चिन्तोद्भवे मतम् ॥ १५९ ॥

जो कोई भी अपने स्वरूप में स्थित हो उसे चिन्ता नहीं होती है। अतः चिन्ता का मूल कारण अन्तःकरण ही है।

यथादौ कल्पिता सृष्टि र्विलीना प्रलये तथा ।
भविता च क्रमादन्त एकस्मिन् ब्रह्मणि स्थितिः ॥१६०॥

जैसे प्रारम्भ में सृष्टि की रचना हुई वैसे ही प्रलय में विलीन होकर क्रमशः अन्त में यह फिर एक मात्र ब्रह्म में ही लीन हो जायगी।

यदस्ति भाति मे तद्धि तदेवाभृच्च मे प्रियम् ।
योगेमानात्म्यमेकत्र समानीय विचारयेत् ॥ १६१ ॥

जो कुछ भी है जो कुछ मुझे अच्छा लगता है तथा जो कुछ अच्छा है यह सब मैं ही हूं मुझ में ही है इस अस्तिभाति सोचने के सिद्धान्त द्वारा आत्मा की एकता को समझे।

दुःखागारे तु संसारे सुखाप्तिर्नानुभूयते ।
दुःखमेव सुखं ज्ञात्वा मानवः सौख्यमेष्यति ॥ १६२ ॥

इस दुःखों के घर संसार में सुख प्राप्ति है ही कहां ? अतः मनुष्य दुःख को ही सुख जानकर सुख पा सकेगा।

ब्रह्मानन्द रमानन्दा वानन्दौ द्वौ प्रतिष्ठितौ ।
ब्रह्मानन्दो विमुक्त्यै स्या द्रमानन्दः प्रसक्तये ॥ १६३ ॥

ब्रह्मानन्द और रमानन्द (स्त्री साहचर्य सुख) ये दो आनन्द हैं इसमें ब्रह्मानन्द तो मुक्ति के लिए है तथा रमानन्द भोगों में आसक्ति का हेतु होता है * ।

युवावस्था प्रसक्तौ तु नीयते प्रायशो जनैः ।
ब्रह्मानन्दाय च वार्धक्यं नीयते साधुसंगतौ ॥ १६४ ॥

प्रायः लोग युवावस्था को भोगों की आसक्ति में लगाते हैं तथा वृद्धावस्था को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए साधु-संगति में लगाते हैं ।

विषयांश्चिन्तयश्चित्ते तपांसि च चरन्नपि ।
कान्ताञ्च कनकं ख्यातिं कूटयोगी त्यजेन्नहि ॥ १६५ ॥

विषयों का चिन्तन करते हुए तप तपते हुए भी कूट योगी कान्ता कनक और ख्याति नहीं छोड़ता है ।

आनन्दस्त्वात्मधर्मोऽय मज्ञानाद् दृश्यते बहिः ।
स्वान्तःकरणसंशुद्ध्या सर्वानन्दोऽनुभूयते ॥ १६६ ॥

आनन्द तो आत्मा का धर्म है बाहर तो अज्ञान से खोजा जाता है, अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर पूर्ण आनन्द का अनुभव किया जा सकता है ।

मोक्षमूलन्तु स्वस्यैव शरीरे तिष्ठति सदा ।
अज्ञानतिमिराच्छन्नं गुरुस्तद् ध्वान्तनाशकः ॥ १६७ ॥

---

* रसः कान्ते रमा लक्ष्म्यां रक्ताशोक द्रुमे स्मरे (विश्वप्रकाशः) के अनुसार रम कामदेव का नाम है अतः रमानन्द का विषय भोग जन्य सुख अर्थ है, रमा-कान्ता के अनुसार तो रमानन्द का सीधा अर्थ स्त्री सुख है ही दोनो ही अवस्था में 'काम-सुख' अर्थ हुआ ।

मोक्षमूल तो अपने ही शरीर में सदा सर्वदा रहता है किन्तु वह अज्ञानान्धकार में ढका हुआ है और गुरु ही उस अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं।

आत्मनोऽवगतेः काले सुकरं वृत्तिरोधनम् ।
चित्तवृत्ति निरोधो हि योग उक्तो महर्षिणा ॥ १६८ ॥

आत्मतत्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने पर वृत्तियों का रोकना सरल है और यही महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में (योगः चित्तवृत्तिनिरोधः) है।

निरहंकारिणो रूपं भवितुं शक्यते न हि ।
निर्ममः सैव निर्बन्धः केवलश्चेतनात्मकः ॥ १६९ ॥

सर्वथा अहंकारशून्य व्यक्तित्व की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। जो जितना अधिक निर्मम (ममताशून्य) है वह उतना ही निर्बन्ध (बन्धन रहित, स्वतन्त्र) है, वह केवल चेतनात्मक (आत्मरूप) है।

ज्ञानस्य भूमिकाः सप्त कथ्यन्ते सप्तसन्धयः ।
तत्राऽस्फुटयन्मनो भूमौ सप्तसन्ध्या विकाशनम् ॥ १७० ॥

ज्ञान की सात भूमिकाएं ही सात सन्धियां हैं उनका मनोभूमि पर प्रकट होना ही सातों संध्याओं का विकसित होना है *।

---

* कभी कभी सायंकाल में सन्ध्या दिव्य प्रकाश सा छा जाता है जो बड़ा प्रिय है, इसे ही सद्वाणी में "सातों सन्ध्या फूलना" कहते हैं वे सातों सन्ध्या ही ज्ञान की सात भूमिकायें हैं जो विकसित होकर साधक के हृदय देश को अलौकिक आलोक में प्रदीप्त कर देती हैं। ये ही ज्ञान की सात कड़ियां या सात सोपान हैं।

शुभेच्छा प्रथमा भूमिः सत्यासत्यविवेचनी ।
मोक्षेच्छा प्रबला चास्यां भवेदेवाधिकारिणः ॥ १७१ ॥

सत्य और असत्य का विवेचन करने वाली शुभेच्छा नामक प्रथम भूमि है इसमें ही अधिकारी को प्रबल मोक्षेच्छा होती है।

सद्गुरोरन्तिके गत्वा वेदान्तवचनादिकम् ।
शृणोति मनुते यस्यां साबृत्तिः सुविचारणा ॥ १७२ ॥

निदिध्यासनयोगेन चित्तस्यैकाग्रता भवेत् ।
सूक्ष्मवस्तुग्रहे शक्तिः तदुत्थातनुमानसा ॥ १७३ ॥

सद्गुरु के निकट जाकर वेदान्त वचनों का सुनना व मनन करना सुविचारणा नाम की दूसरी भूमिका है।

निदिध्यासन (ध्यान) के योग से चित्त में एकाग्रता होती है उससे सूक्ष्म वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है यही तृतीय भूमिका तनुमानसा है।

स्वात्मनो ब्रह्मसारूप्ये कस्याप्यनुभवो यदा ।
सत्वापत्तिर्हि विज्ञेया संशयादिविवर्जितः ॥ १७४ ॥

जब सब प्रकार के संशयों से वर्जित आत्मा का ब्रह्मसारूप्य में अनुभव होता है तो चतुर्थ भूमिका सत्वापत्ति कहलाती है।

सविकल्पसमाधेस्तु निर्विकल्पसमाधिता ।
असंसक्तिरसावेव सुपुप्तिभूमिका मता ॥ १७५ ॥

सविकल्प समाधि से निर्विकल्प समाधि की अवस्था होना असंसक्ति है यही सुपुप्ति भूमिका है।

असंसक्ति दृढाभ्यासात् प्रपञ्चस्य चिराभवः ।
पदार्थाभावनी ह्येषा भूमिर्ब्रह्मविद्वरीयसाम् ॥ १७६ ॥

असंसक्ति के दृढ़ अभ्यास से सांसारिक प्रपञ्च का चिरकाल तक पैदा न होना ही "पदार्थाभावनी" अवस्था है जो ब्रह्मविद् अग्रगण्यों की रमणीय भूमि है।

पञ्चम्येव चिरस्थायी गाढसुषुप्तिरुच्यते ।
एतद्गतः क्रियान्नैव करोति व्युत्थितः स्वयम् ॥१७७॥

पांचवीं भूमि चिरकाल तक स्थिर रहने वाली गाढ़सुषुप्ति है इस में स्थित हुआ जागते हुए भी स्वयं कोई काम नहीं करता है।

सप्तमी तुर्यगावस्था तद्गतोऽव्युत्थितोऽनिशम् ।
निमग्नो ब्रह्मचिन्तायां ब्रह्मैव जायते ध्रुवम् ॥ १७८ ॥

सातवीं तुर्यगावस्था है उसमें स्थित हुआ निरन्तर स्वप्नशील रहता है एवं ब्रह्मचिन्ता में निमग्न होकर स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है।

गृहं कार्यालयं मन्ये चरिष्णुं मन्दिरं तनुः ।
नूनं देहिनः सर्वं पूजार्थं कल्पितं प्रभोः ॥ १७९ ॥

घर कार्यालय है शरीर चलता फिरता मन्दिर है इस प्रकार प्राणी के समस्त व्यवहार प्रभु की पूजा के लिए ही बनाये गये हैं ।

यह भगवान् की "ज्ञानमयी अष्टप्रहरी पूजा का" आदर्श है जिससे अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती है इसी का खुलासा रूप भगवान् शङ्कर कृत श्री भगवान् शङ्कर की इस स्तुति "आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः" में देखा जा सकता है।

संसारः सुन्दरं दृश्यं रङ्गपात्राणि प्राणिनः ।
माया नटी नटो ब्रह्म कृतं सर्वं तदर्पितम् ॥ १८० ॥

संसार सुन्दर दृश्य है ये प्राणी अभिनेता हैं माया नटी है तथा ब्रह्म नट है, अपना सभी कुछ किया हुआ उसी ब्रह्म को समर्पित है * ।

इति प्रकीर्णके अवशिष्टे अध्यात्मविद्या ॥

प्रकीर्णके

अवशिष्टे शक्तिसृष्टितत्त्वम्

शक्त्युपासनवेलायां मनोवाक्कर्मभिः सदा ।
पालनं ब्रह्मचर्यस्य कर्त्तव्यं कथितं बुधैः ॥ १८१ ॥

विद्वानों ने शक्ति उपासना के काल में मन वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना प्रथम कर्तव्य बताया है ।

---

* जैसे नाटक मे पात्र अपने निर्देशक के निर्देश से विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं में पूरी तरह अपना पार्ट अदा करते हैं किन्तु नाटक समाप्त होने पर उनका अपने उस नाटकीय रूप से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है अतः उसकी अच्छी बुरी घटनाओं से वह लिप्त नहीं होता है ठीक इसी प्रकार यदि हम भी कर्म फल से परमात्मा को अर्पित कर कर्म करते रहें तो कभी भी कर्म बन्धन में नहीं रहेंगे। कर्म संन्यास का सर्वोत्तम मार्ग प्रदर्शन है ।

स्वान्तं कलुषितं यस्य चित्तञ्च दम्भपूरितम् ।
कुत्सितो यस्य भावोपि यो वाऽसद्भोगतत्परः ॥१८२

पूजापाठादिकर्माणि प्रायस्तस्य तपांसि च ।
भवन्ति निष्फलान्येव प्रायो हानि कराण्यपि ॥१८३॥

जिसका हृदय कलुषित है चित्त पाखण्ड से भरा है भाव गन्दे हैं जो बुरे भोगों में लिप्त है उसकी पूजा पाठ आदि कर्म तथा तपस्या निष्फल तो होती ही हैं प्रायः हानिकारक भी होती हैं।

समूहा शक्तिरेवास्ति लोके सर्वत्र पूजिता ।
सूत्रतन्तुकृता रज्जुर्बलिनं बाधितुं क्षमा ॥ १८४ ॥

संसार में सभी जगह एकत्रित शक्ति की ही पूजा होती है जिस प्रकार सूत के धागों से बनाई गई रस्सी बलवान् को भी रोकने में समर्थ है।

जगन्माता महाशक्तिः सावित्री शून्यशक्तिका ;
अकस्मात् सा शिवं प्राप्य तन्मयी भवति ध्रुवम्॥१८५

एक होते हुए भी पृथक् २ नाम जगन्माता महाशक्ति सावित्री शून्य शक्ति आदि से प्रसिद्ध यह आधारशक्ति अकस्मात् सदा शिव को पाकर तद्रूप ही हो जाती है।

सहस्रारम्बुजासीनं दिव्यशक्तिरियम्भवेत् ।
सदाशिवं पतिं प्राप्य सदैवामृतवर्षिणी ॥ १८६ ॥

सहस्र दल कमल पर विराजमान सदाशिव पति को प्राप्त कर यह दिव्य शक्ति सदैव अमृत की वर्षा करती है।

प्रकृष्टा या कृतौ सृष्टौ प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ।
सत्वरजस्तमो भूता सैव दुर्गादिवाचिका ॥ १८७ ॥

जो कृति और सृष्टि उत्कृष्ट हो एवं सत्व रज और तम से युक्त हो वही दुर्गा आदि नाम से कही जाती है ।

भवानी भवकर्त्री सा दुर्गा दुष्टप्रधर्षिणी ।
काली लये हरिः पुँस्त्वे मायैका वहुरूपिणी ॥१८८॥

अकेली माया ही अनेक रूप धारण करती है वही संसार-कर्त्री तो भवानी है दुष्टप्रधर्षिणी (दुष्टों को दण्ड देने वाली) दुर्गा है, लय में काली तो पुरुष रूप में विष्णु है ।

शुष्का च चण्डिका सिद्धा जयन्ती विजया जया ।
संध्यापराजिता ब्राह्मी गायत्री चोत्पला यथा ॥ १८९ ॥

शुष्का, चण्डिका, सिद्धा, जयन्ती, विजया, जया, संध्या, अपराजिता, ब्राह्मी, गायत्री और उत्पला ।

वद्धात्मायं शरीरस्थो भण्डासुर इतीर्यते ।
अपरं पाशवं ज्ञानं महिषासुर इत्यपि ॥ १९० ॥

शरीर में स्थिर एवं वद्ध यह आत्मा भण्डासुर कहलाता है । पाशविक ज्ञान ही महिषासुर कहलाता है ।

महिषासुरनाम्ना तु कथितः क्रोध एव हि ।
प्रलये तामसीवृत्तिः कथिता मधुकैटभौ ॥ १९१ ॥

क्रोध ही महिषासुर नाम से विख्यात है और प्रलय काल में तामसी वृत्ति ही मधुकैटभ नाम से विख्यात है ।

रक्तवीजः कामरूपः चण्डमुण्डावहङ्कृतिः ।
लोभः शुम्भो निशुम्भोऽस्ति ह्यविद्या जनिता इमे ॥१९२॥

कामदेव ही रक्तबीज, अहङ्कार ही चण्ड-मुण्ड तथा लोभ ही शुम्भ-निशुम्भ हैं इन सब की अविद्या से ही उत्पत्ति होती है।

दशैतानीन्द्रियाण्येव रावणस्य मुखानि वै।
एकादशं मुखं तद्वदहङ्कारो खराकृतिः ॥ १६३ ॥

ये दश इन्द्रियां ही रावण के दश मुख हैं उसी प्रकार अहङ्कार खर की आकृति वाला ग्यारहवां मुख है।

साहङ्कारेन्द्रियैरेवं निर्मितो दुष्टभावकः।
सद्बुद्धिरूपिणीं सीतां जहार रावणः किल ॥ १६४ ॥

अहङ्कार सहित इन्द्रियों के द्वारा ऐसे निर्मित दुष्टभाव रूपी रावण ने सद्बुद्धि रूपिणी सीता का हरण किया था।

राक्षसद्वयनाशाय देवतोद्देश्यसिद्धये।
ज्ञानाग्निकुण्डनिर्याता महाशक्तिरभूदियम् ॥ १६५ ॥

इन दोनों राक्षसों के नाश के लिये तथा देवताओं के उद्देश्य की पूर्ति के लिये ज्ञानरूपी अग्निकुण्ड से इस महाशक्ति की उत्पत्ति हुई।

कृष्णशक्त्योरभेदोऽस्ति कृष्णोऽर्धः शक्तिमन्तरा।
शक्तिहीना न शोभन्ते सर्वे देवनरादयः ॥ १६६ ॥

कृष्ण और शक्ति में अभेद है, विना शक्ति कृष्ण आधे हैं (राधाकृष्ण में शक्ति का प्रतीक र हटा देने से "आधाकृष्ण" रह जाता है) चाहे देवता मनुष्य पशु आदि कोई भी हो शक्तिहीन होने पर अच्छे नहीं लगते हैं।

दृश्यते मुण्डमाला या कालीकण्ठे विराजिता ।
विज्ञेया मातृकैवासौ कल्पिता नरमुण्डकैः ॥ १९७ ॥

काली के कण्ठ में दिखाई देने वाली मुण्डमाला मातृका (वर्ण-माला) ही है जो नरमुण्डों से बनाई गई है।

सत्यं ख्यापयति सर्वं प्राणिनां हृद्गतं सदा ।
वाचेङ्गितेन वा स्पष्टं वाणी देवी सरस्वती ॥ १९८ ॥

मनुष्यों के हृदय में स्थित वाणी देवी सरस्वती जिह्वा से या किसी संकेत से प्राणियों के हृदय में स्थित सत्यभाव को प्रकट कर ही देती है *।

ब्रह्मस्थाने पिता प्रोक्तः प्रकृतिर्जननी मताः ।
हृन्मस्तिष्के च पैत्रांशा वाध्यात्मिकगुणाश्रयौ ॥ १९९ ॥

पिता ब्रह्म है तथा माता प्रकृति है। इस प्रकार हमारा हृदय और मस्तिष्क पैतृक अंश ही हैं अतः उन्हीं के आध्यात्मिक गुणों से युक्त होते हैं ।

तदैव दैहिकीशक्तिः रागरूपादयोऽपि च ।
मात्रंशाद्धि समायान्ति शरीरेष्वत्र देहिनाम् ॥ २०० ॥

उसी प्रकार शारीरिक शक्ति रक्त रूप आदि भी प्राणियों को मात्रिक अंश से प्राप्त होते हैं।

---

* कोई मनुष्य अवहित्था (आकार गुप्ति) में कितना ही प्रवीण क्यों न हो उसके बोलने का ढङ्ग अथवा हाथ पैर आदि चलाने का ढङ्ग या उलट पुलट बयान मनुष्य की वास्तविकता को प्रकट कर देते हैं।

अमरा बीजशक्तिस्तु नैति नाशं कदाचन ।
स्वकीय गुणवृत्त्यैव पञ्चकोशे प्रवर्तते ॥ २०१ ॥

बीज (जनन) शक्ति अमर है जो कभी भी नष्ट नहीं होती है अपितु अपने गुणों सहित ही पञ्चकोशात्मक शरीर में प्रवृत्त होती है।

प्रबलेच्छा हि सर्वेषां सिद्ध्यसिद्धिप्रदायिनी ।
वपति पापबीजं सा तन्नाशोऽपि तथैव च ॥ २०२ ॥
आत्मबलमापणं सा हि विलपावर कथ्यते ।
सैवेश्वरस्तदाज्ञा वा समर्था कर्मपूरणे ॥ २०३ ॥

सभी मनुष्यों की प्रबल इच्छा ही सिद्धि या असिद्धि देने वाली है यही पाप का बीज बोती है उसी से उस बीज का नाश होता है अंग्रेजी में इसे ही Will Power (इच्छा शक्ति) कहते हैं, यही ईश्वर या ईश्वर की आज्ञा है जो सभी कर्मों को पूर्ण करने में समर्थ है।

सिद्धिर्न लौकिके कार्येऽप्यथवा पारलौकिके ।
तपसा ध्यानयोगेन विना लोकैरवाप्यते ॥ २०४ ॥

तपस्या अथवा अटूट ध्यान के विना लोग किसी भी लौकिक या अलौकिक कार्य में सिद्धि नहीं पा सकते हैं।

यथाऽत्यन्तोष्णपश्चाद्धि वायोर्हि प्रबला गतिः ।
जगत्साम्य सुरक्षार्थं प्रायो वृष्टिर्भवेदपि ॥ २०५ ॥

जैसे अत्यन्त गर्मी के पश्चात् वायु प्रबल वेग से चलती है फिर संसार में साम्य स्थिति की सुरक्षा के लिए वर्षा भी होती है।

तथैवाधर्मनाशाय धर्मसंस्थितिहेतवे ।
वैपरीत्यं स्वभावानां जायते जगति ध्रुवम् ॥ २०६ ॥

उसी प्रकार अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन के लिये संसार में स्वभावों का वैपरीत्य होता है ।

इति प्रकीर्णके अवशिष्टे शक्तिसृष्टितत्त्वम् ॥

प्रकीर्णके

अवशिष्टेषु योगशास्त्रम्

मनोऽस्थैर्य निरोधाय मयोपाया हि वर्णिताः ।
वहवः स्वेच्छया तेषा मेकन्त्वद्योररी कुरु ॥ २०७ ॥

मन की चञ्चलता को रोकने के लिये मैंने बहुत से उपायों का वर्णन किया है उनमें से स्वेच्छा पूर्वक किसी एक को तो आज ही ग्रहण कर लो ।

मनुत्वेऽधिकृतो यः स्यात् सद्गुरुः सैव कथ्यते ।
तेनैव दीक्षितो भूत्वा सत्सङ्गाधिकृतो भवेत् ॥ २०८ ॥

जो मन्त्र की दीक्षा देने में अधिकृत है वही सद्गुरु कहलाता है, उसी से दीक्षित होकर सत्संग का अधिकारी होवे ।

पश्यत्यखण्डरूपेण कार्येषु कारणं यदा ।
यः कश्चिदिह जानीया त्तमेव योगिनन्तदा ॥ २०९ ॥

जब कोई कार्यों में कारण को अखण्ड रूप से देखे तभी उसे इस संसार में योगी जानो ।

अष्टाङ्गयोगरीत्यैव भगवद्भक्तिभावतः ।
कुर्वन् कर्माणि प्राणीह संसाराद्धि निवर्तते ॥ २१० ॥

भगवान् में भक्तिभाव रख कर अष्टाङ्ग योग की प्रणाली से ही कर्म करता हुआ प्राणी इस भवसागर से पार हो जाता है।

समानत्वं समानस्य कल्याणं कुरुते सदा ।
तद्भङ्गे विषमे वा वायं प्राणी कालाश्रितो भवेत् ॥२११॥

समान के साथ समानरूप ही कल्याणकारक होता है उसके विषम होने पर या नष्ट होने पर प्राणी कालाश्रित होजाता है अर्थात् औषध, अन्न और व्यवहार को यथोचित रक्खे।

समदृष्ट्यैव पश्यन्ति सर्वत्र योगिनः सदा ।
ज्ञानिनोऽशान्यभावस्य स्वभावो ज्ञायते न हि ॥ २१२ ॥

योगी लोग सदा सब ओर समदृष्टि से ही देखते हैं अनिर्वचनीय विचारयुक्त ज्ञानी का स्वभाव नहीं जाना जा सकता है।

विस्मृत्य चित्ततां चित्तं ध्येयाकारं भवेद्यदा ।
भेदबुद्धिं परित्यज्य समाधिस्तूच्यते तदा ॥ २१३ ॥

जब चित्त अपने विषय चयनात्मक रूप को भूलकर ध्येय के साथ एकरूप हो जाता है तथा भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है उसी अवस्था को समाधि कहते हैं।

गुणत्रयक्रियाद्वारा कालज्ञानम्भवेदिह ।
वैपरीत्यात्तदंशाना मकालश्चाभिधीयते ॥ २१४ ॥

तीनों गुणों की क्रिया से इस संसार में काल ज्ञान होता है उनके अंशों के विपरीत होने से अकाल कहलाता है अर्थात् काल ज्ञान नहीं होता है।

अन्योऽन्याश्रितसम्बन्धो ज्ञातव्यः कालकर्मणोः ।
मीयन्ते कर्मखण्डैर्हि कालस्य घटिकादयः ॥ २१५ ॥

काल एवं कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है क्योंकि काल की घटिका आदि का कर्म खण्डों से ही अनुमान किया जाता है क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं के स्पन्दन में भी काल की अपेक्षा है।

मानवश्वासचालं स्यात् प्रतिघण्टं शतं नव ।
अनुग्धशान्तचित्ताना मचला सुप्तमौनिनाम् ॥ २१६ ॥

ब्रुवतो द्वादशश्वासाः अष्टादश गतौ तथा।
त्रिंशच्छ्वासाः प्रसुप्तस्य वर्धन्ते निश्चितात्पुनः ॥ २१७ ॥

मनुष्य के श्वास की गति प्रति घण्टे १०९ मानी जाती है जब कि वे क्षुब्ध न हो शान्तचित्त हों अचल हों सोये हुए न हो तथा विशेष बोल न रहे हों।

बोलते हुए के श्वास १२ चलते हुए के १८ श्वास सोये हुए के ३० श्वास अपने निश्चित परिमाण से बढ़ जाते हैं।

अवस्था प्राणिमात्रस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ।
ततः परा तुरीया तु भुज्यते योगिनैव हि ॥ २१८ ॥

प्राणि मात्र की जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं होती हैं इन से भिन्न जो तुरीयावस्था है उसका केवल योगी ही उपभोग कर सकता है।

केनापि प्राणिना सार्धं मनोवाक्कायकर्मणा ।
द्रोहस्य सर्वथाऽभावः प्रोक्तोऽहिंसा पुरातनैः ॥ २१९ ॥

किसी भी प्राणी से मन, वचन, शरीर और कर्म से सर्वथा द्रोह न करना ही प्राचीन लोगों द्वारा अहिंसा कहा गया है।

प्रोक्ताधारशिलाहिंसा यमस्य नियमस्य च ।
आधारे विकृते जाते प्रयास उत्तरो वृथा ॥ २२० ॥

यम और नियम की आधार शिला अहिंसा है यदि आधार ही विकृत हो तो आगे प्रयत्न करना व्यर्थ है।

साधनं राजयोगस्य मनसैवारभ्यते किल ।
तदेव हठयोगे तु देहप्राणाश्रितं क्रमात् ॥ २२१ ॥

राजयोग का साधन मन से प्रारम्भ होता है परन्तु हठयोग में वही क्रमशः देह और प्राणों के आश्रित होता है।

निद्राधिक्याद्यदा नेत्रे वाञ्छतो मीलितुं स्वतः ।
निद्राव्याजात्स्वपन्नेव चिन्तयेत्स्वेष्टदेवताम् ॥ २२५ ॥

निद्रा की अधिकता से यदि नेत्र स्वतः बन्द होना चाहते हैं तो निद्रा के बहाने से सोता हुआ अपने इष्ट देवता का चिन्तन करे।

महादेवो हि शुद्धात्मा मस्तिष्के लसति ह्यतः ।
मस्तिष्कमेव कैलासः शिवस्तत्र विराजते ॥ २२३ ॥
शिवस्थानाद्धि मस्तिष्काद् धारा जन तनावतः ।
विचाराणां वहत्येव सैव गङ्गास्ति पावनी ॥ २२४ ॥

महान् देव (शुद्ध भावरूप आत्मा) मस्तिष्क में ही क्रीड़ा करते हैं अतः मस्तिष्क ही कैलास है वहाँ शिव विराजमान है, शिव के स्थान मस्तिष्क में ही मनुष्यों की देह में विचारों की जो धारा बहती है वही सब को पवित्र करने वाली गङ्गा है।

इति प्रकीर्णके अवशिष्टे योगशास्त्रम् ॥

प्रकीर्णके

उपसंहारः

मयैकान्ते तपस्तप्तं समाधिस्थेन चेतसा ।
सञ्जाताः सिद्धयस्तस्मात् स्वसाध्येष्विति निश्चितम् ॥२२५॥
रुग्णावस्थां सुचिन्त्यैव निघण्टूत्पन्न सन्मतिः ।
द्रव्यस्वभावमादाय योगमाविष्करोम्यहम् । २२६ ॥

मैंने मन की वृत्तियों का निरोध कर एकान्त में पूर्ण परिश्रम किया है तभी मुझे अपने लक्ष्यों में सिद्धियां मिली हैं ।

रोगियों की अवस्था देख कर निघण्टु के मनन से उत्पन्न सद्बुद्धि से द्रव्यों की प्रकृति बलाबल आदि जानकर नवीन योगों का स्वयं ही आविष्कार करता हूं ।

मानवानां हितार्थं वै गीतेयं रचिता मया ।
सम्प्रदायस्य जातेर्वा पक्षत्वन्नात्र विद्यते ॥ २२७ ॥

जन साधारण के हित के लिए मैंने गीता का निर्माण किया है इस में किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष का पक्ष नहीं है ।

मार्गे हि निर्मिताः श्लोकाः लिख्यन्ते निशि मन्दिरे ।
रच्यन्ते प्रायशः श्लोका मयैवं पथिगच्छता ॥ २२८ ॥

मार्ग में निर्मित श्लोक घर पर रात के समय लिखे जाते हैं । प्रायः इसी प्रकार मार्ग में चलते समय ही मेरे द्वारा श्लोकों की रचना की जाती है ।

विस्मृतानां हि वृत्तानां क्रियते पुनरुद्धृतिः ।
मूलतोऽत्र न नव्यत्वं प्रणाली केवलं नवा ॥ २२९ ॥

भूले हुए वृत्तान्तों का ही यहां पुनरुद्धार किया जाता है मूलरूप में कोई नवीनता नहीं है केवल प्रणाली ही नवीन है ।

सुभावान्निन्दकांश्चैव दुष्टभावान् प्रशंसकान् ।
प्रणमामि प्रसन्नः सन् प्रयासेऽस्मिन् सहायकान्॥२३०॥

अच्छे भाव से जो निन्दा करते हों एवं दुष्ट भाव से जो प्रशंसा करते हों, उन सब को जो कि इस प्रयास में सहायक ही होते हैं मैं प्रसन्न होकर प्रणाम करता हूं ।

क्षुद्राः कृतीं न पश्यन्ति पश्यन्ति केवलं त्रुटीः ।
परं चारित्र्यवज्रेण सज्जना नाशयन्ति ताः ॥ २३१ ॥

नीच पुरुष काम न देखकर केवल त्रुटियां देखते हैं परन्तु सज्जन लोग चारित्र्यरूपी वज्र से त्रुटियों का विनाश करते हैं ।

तत्त्वजिज्ञासया युक्तः प्राज्ञ एवात्र शक्यते ।
विचारेणैव गृह्णातुं गूढं सारं स्वसम्मतम् ॥ २३२ ॥

तत्त्वों को जानने की इच्छा वाला विशेष बुद्धिमान् मनुष्य ही अपने विचारों के मन्थन से यहां स्वसम्मत विशेष गूढ सार प्राप्त करता है * ।

प्रेम्णैव न परद्वारा गृहिणीचुम्बनं यथा ।
तथा लेखकभावोऽपि नानुवादेन गम्यते ॥ २३३ ॥

---

* ऐसे इसकी रचना सर्व साधारण के लिये वरदान है किन्तु जितना जितना गम्भीर मनन करेंगे उतना ही अधिक रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करेंगे ।

जैसे अनुराग करने वाली के पास चुम्बन दूसरे के द्वारा नहीं भेजा जा सकता वैसे ही लेखक का भाव अनुवाद से नहीं जाना जा सकता है।

घनश्यामस्य गीताया अर्थं कर्तुं यथेच्छया।
पाठकोऽप्यस्त्यनुज्ञातः स्वीयमत्यनुसारतः॥ २३४॥

घनश्याम गीता का अपनी बुद्धि के अनुसार इच्छित अर्थ करने के लिये पाठक स्वतन्त्र है।

आदितश्चान्तपर्यन्तं घनश्यामस्य गीतिकाम्।
यः पठेच्छृणुयाद्भक्त्या स याति परमार्थताम्॥ २३५॥

प्रारम्भ से अन्त तक जो घनश्याम गीता को श्रद्धा पूर्वक पढ़े या सुने वह अवश्य परमार्थ प्राप्त करे।

स्वल्पज्ञानाद् प्रमादाद्वा त्रुटिवाहुल्यमत्र चेत्।
प्रतिभाति वुधाग्रन्थे विधेया शोधनक्रिया॥ २३६॥

सहृदय पण्डित वर्ग! मेरे अल्पज्ञान से या प्रमाद से यदि इस ग्रन्थ में त्रुटियों की अधिकता प्रतीत हो तो कृपा कर संशोधन कर लें।

नाप्नुवन्ति भयं लोकेऽपीश्वरात् खण्डका जनाः।
किमाश्चर्यं खण्डने मे प्राणिनो मशकात्मनः॥ २३७॥

खण्डन करने में प्रवृत्त लोग ईश्वर से भी नहीं डरते हैं (जैसे नास्तिक) अतः मुझ मशक तुल्य प्राणी के खण्डन में तो आश्चर्य ही क्या?

अनन्तकौशलौ विज्ञौ विद्वद्वर्गसमादृतौ।
अभूतां सुसहायौ मे ग्रन्थस्यास्य विशोधने॥ २३८॥

संस्कृताध्यापकौ द्वौ हि भक्तिभावसमन्वितौ ।
स्वात्यन्तश्रमदानान्मे हृदिभूतौ सुपूजितौ ॥ २३९ ॥

विद्वद्वर्ग में आदर प्राप्त पण्डित अनन्तराम शर्मा आचार्य B. A व पं० फतेलदत्त पुरोहित इस ग्रन्थ के संशोधन में मेरे पूर्ण सहायक हुए । ये दोनों ही संस्कृत के अध्यापक भक्तिभाव से समन्वित हैं तथा अपना अत्यन्त श्रम देने के हेतु मेरे हृदय में अत्यन्त आदर के पात्र बने ।

पण्डितोऽनन्तरामोऽय विज्ञानामग्रणीः शुचिः ।
स्वभावात् परहृद्भावा कर्षकश्चाप्यनल्पधीः ॥ २४० ॥

पण्डित अनन्तराम शर्मा आचार्य B. A विद्वानों में अग्रणी पवित्राचरण हैं ये अपने स्वभाव से दूसरों के हृदय के भावों को खींचने वाले एवं अपने भावों से ग्रन्थकार व अन्य लोगों के मानसिक भावों को पूर्णतया ठीक रूप में खींचने वाले व अनल्पबुद्धि हैं ।

आलिमे फाजिलोपाधि धारिणा स्वकुतूहलात् ।
घनश्यामेन वैद्येन कविता निर्मिता शुभा ॥ २४१ ॥

आलिमे फाजिल उपाधि से युक्त घनश्याम वैद्य ने अपने कौतूहल से ही शुभ कविता का निर्माण किया है ।

इति श्रीघनश्यामगीतायां तत्त्वग्रन्थ्यां प्रकीर्णको नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

समाप्ता चेयं घनश्यामगीता ॥

घनश्याम औषधालय की कुछ ओषधियां

सर्व ग्राहक सज्जनों के लाभ के लिये मेरे घनश्याम ओषधालय की तैयार की हुई स्वाविष्कृत, कतिपय ओषधियों के नाम नीचे लिखे जाते हैं।

अमल छुड़ावन नं० १

की दवा घर बैठे ही बना लेने के वास्ते— ताकत का मसाला ३ तोले के ६) रु० विधि पत्र साथ भेजा जायगा।

अमल छुड़ावन नं० २

एक शीशी के २॥) रु०।

रसराज वटी (सर्व रस संग्रह)

१ तोले के ७) रु० उचित अनुपान से सब भयङ्कर रोगों में दी जाती है।

सुधासर

(यह तरल ओपधि है) सर्व रोगों में खाने और लगाने में काम आती है खुराक—१ से ३ बूँद तक, १ तोले की शीशी के ४) रु० नमूने की १ शीशी का १।) इसके प्रयोग की 'विधि-पुस्तिका' साथ आती है।

खून बढावन गोलियां

कफ, कास, निर्बलता आदि अनेक रोगों की दवा है। १ शीशी के ४) रु० फी तोला २) विधि पत्र दवा के साथ है।

शक्ति संचारक वटी

कफ, कास, पुराना जुकाम, कमज़ोरी, बुखार, सन्निपात बुढ़ापे की निर्बलता वगैरह अनेक रोगों की शर्तिया दवा है ६० गोलियों की १ शीशी का मूल्य १।) रु० विधि साथ है।

रोगारि रस

शिर से लगाकर पैर तक के रोगों में खाने और लगाने की दवा है शरीर और पेट का मोटापा और अन्दर की गुप्त गांठें (गिल्टियां) पेट व आंतों के कीड़े वगैरह अनेक भयङ्कर रोगों की तथा खून साफ करने की एवं मूत्राशय (मसाने) के रोगों की शर्तिया दवा है। खुराक—१ रत्ती को १ तोला शहद में मिलाकर चाटें। मूल्य १ तोले के ६) रु० नमूने की १ शीशी का १।) रु०। अञ्जन मञ्जन सब दुःख भञ्जन यही दवा है।

शक्ति सुधा चूर्ण

यह स्त्री और पुरुषों के लिये सर्व प्रकार के प्रदर व प्रमेह की मोटी दवा है मूल्य ५ तोले के ३) रु० एक सेर के ४०) रु० विधि पत्र साथ में है।

रक्त रोधक चूर्ण

स्त्रियों के रक्त प्रदर की तथा किधर से भी खून निकलता हो उसको रोकने की शर्तिया दवा है खुराक १ मास तक, मक्खन व मिसरी के साथ सुख दाता वटी के अनुपान से देवें १) रु० तोला।

चमत्कार चूर्ण

लीवर (यकृत्) सीहा (तिल्ली) बदहज़मी, पेटपीड़ा

आदि पेट के समस्त रोगों की शर्त्तिया दवा है मूल्य १ तोले के ।≡) विधि पत्र साथ है।

चमत्कार मर्हम

दाद, खाज, फोड़ा फुन्सी आदि चर्म रोगों की शर्त्तिया दवा है मूल्य १ शीशी का १।) रु० विधि पत्र साथ है।

वढ़िया मर्हम

यह मर्हम गहरे, पुराने सड़े गन्दे पीपदार और भरिये फूटे घावों (जख्मों) को पीप निकाल कर साफ करके भरने और आराम करने के लिये शर्त्तिया दवा है १ शीशी का १।) रु० विधि साथ में है।

ववासीर की गोलियां

इनसे ववासीर की क़ब्ज़ी, पीड़ा, जलन मस्सों से ख़ून निकलना, वेचैनी वग़ैरह ठीक होती है।

ज्वरारि वटी

इन गोलियों से सर्व प्रकार के वुख़ारों को आराम आता है। १ शीशी का १।) रु० विधि साथ है।

आतिशक (गरमी) की दवा

इन गोलियों से भयङ्कर गरमी के रोग को और उससे पैदा हुई खराबियों को आराम आता है मूल्य १ शीशी के ६) रु० विधि साथ है।

वढिया नेत्रांजन

यह ठण्डा सुरमा, आंखों की खाज, जलन धुन्ध, जाला वग़ैरह को आराम करता है १ शीशी १।) रु० विधि साथ है।

खांसी की दवा

इस को थोड़ा २ मुंह में रख कर चूसते रहने से गले में अटका हुआ कफ छूट कर आराम से आता है खुराक १ मासा मूल्य १ शीशी का १) रु० विधि साथ में है।

अनोखी निसवार

इस के सूंघने से पुराना जुकाम, सिर पीड़ा, रूला, घोवा, पीनस (अम्याली) वगैरह सिर के रोगों को आराम आता है और दिमाग रोशन होता है मूल्य १) रु० विधि पत्र साथ है।

रोग जड़ कुठार जुलाब

इससे दस्त लग कर रोग की जड़ कट जाती है ४० गोली का १) रुपया।

ग्रहणी सुधारस

इस से संग्रहणी अवश्य मिट जाती है मूल्य १ तोला के ३) रु० विधि साथ है।

अमृत रसायन

इस दवा से, कफ, कास श्वास और पाण्डु रोग को आराम आता है १ तोले के ६) रु० विधि पत्र साथ है।